आयाम

लेखक

डा० वीरेन्द्र सिंह

एम० ए०; डी० फिल०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

आत्माराम एण्ड सन्स

आयाम

लेखक

डा० वीरेन्द्र सिंह

एम० ए०; डी० फिल०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।

आत्माराम एण्ड सन्स

प्रकाशक :

उपमा प्रकाशन

जयपुर

वितरक : आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
हौज खास, नई दिल्ली
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
17–अशोक मार्ग, लखनऊ

प्रथम संस्करण 1970
मूल्य : १८ रुपये

मुद्रक :
जितेन्द्र कुमार बाहरी
राजधानी प्रिन्टर्स, जयपुर ।

जिनके अपार स्नेह ने
मेरे मानस को रस
से सदा आप्लावित
रखा—
उन्हीं छोटी भाभी
और
दादा
को

संदर्भ

इस निबंध-संग्रह का नाम "आयाम" दिया गया है जो चिंतन के तीन विशिष्ट आयामों से संबंधित है। वैसे "आयाम" शब्द विज्ञान का शब्द है जिसका अर्थ 'डाइमेन्शन' (Dimension) से गृहीत होता है। इस पुस्तक में तीन आयामों को लिया गया है जो मूलतः मेरे चिंतन एवं मनन के तीन आयाम रहे हैं। वे तीन आयाम हैं। (१) साहित्यिक (२) वैज्ञानिक तथा (३) धार्मिक तथा दार्शनिक आयाम। मेरी मान्यता सदैव से यह रही है कि चिंतन का क्षेत्र, ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र होता है और साहित्य का क्षेत्र भी उसी के अंदर समाविष्ट किया जा सकता है। हो सकता है कि अनेक रसवादी आलोचक एवं पाठक मेरी इस मान्यता के प्रति नाँक भौं सिकोड़े अथवा अद्भुत उदासीनता का परिचय दें, पर आज के वैज्ञानिक युग में किसी प्रत्यय या वस्तु को अंधविश्वास एवं हठधर्मिता के बल पर जीवन-दर्शन का अंग नहीं बनाया जा सकता है।

× × ×

इस संदर्भ के प्रकाश में ये निबंध केवल एक तंतु से जुड़ते हैं और वह विचार-तंतु है, ज्ञान के क्षेत्र की एक अभिन्न इकाई। प्रत्येक निबंध, चाहे वह किसी भी आयाम का क्यों न हो, उसका सम्बंध इसी इकाई से हैं। यहाँ तक कि साहित्यिक निबंधों की समस्त भावभूमि विज्ञान तथा दर्शन की रेखाओं को ही उजागर करती है क्योंकि इन निबंधों में विश्लेषण एवं तर्क को अधिक मान्यता दी गई है और उन मान्यताओं को ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से संवलित किया गया है। जहाँ तक मुझसे हो सका है मैंने इन निबंधों में हठधर्मिता एवं अतार्किकता से बचने का भरसक प्रयत्न किया है।

× × ×

साहित्यिक, वैज्ञानिक और धार्मिक-दार्शनिक आयामों के निबंधों में मेरे वैचारिक जीवन-दर्शन के अनेक रूपों तथा तत्त्वों का संकेत भी प्राप्त होता है। जीवन-दर्शन एक समष्टिगत दृष्टिकोण होता है जो किसी व्यक्ति के अनुभवों, विचारों तथा आचरणों से गृहीत, जीवन की गत्यात्मकता को एक दिशा देता है। इस गत्यात्मकता में उसका समस्त व्यक्तित्व इस हद तक डूब जाता है कि उसके सामने "जीवन" एक क्रमिक साक्षात्कार का माध्यम बन जाता है। दूसरे शब्दों में, 'जीवन' केवल एक साधन-मात्र है किसी विशिष्ट गंतव्य तक पहुँचने के लिये। यह गंतव्य प्रत्येक का

अलग अलग हो सकता है । इन निबंधों में जीवन और विश्व के अन्योन्य सम्बंध को, विचार तथा प्रत्यय के सापेक्ष स्वरूप को तथा साहित्य धर्म, दर्शन और विज्ञान के अन्योन्य क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप को, चिंतन और मनन के द्वारा उजागर करने का प्रयत्न किया गया है । मैं यह दावा नहीं करता कि यह प्रयत्न पूर्णरूप से सफल हुआ है, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मेरे इस प्रयत्न में वस्तुओं तथा विचारों को समझने एवं उनके सम्बंधों को दृष्टि-पथ में रखने की एक सबल आकांक्षा अवश्य है ।

× × ×

इन निबंधों में से अधिकांश निबंध अनेक पत्र पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं । इन पत्रिकाओं में से कुछ निबंध शोध पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुये हैं । 'हिन्दुस्तानी', "सम्मेलन पत्रिका, "माध्यम", "सरस्वती", 'क ख ग', विंदु, अवन्तिका आदि मासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाओं में अनेक निबंधों को स्थान मिल चुका है जो इस संग्रह में एक स्थान पर संकलित हैं । इसके अतिरिक्त, हरेक आयाम में कुछ नये लेख भी हैं जैसे हिंदी साहित्य-एक नवीन परिदृश्य (अज्ञेय की पुस्तक की समीक्षा), आधुनिक रचना-प्रक्रिया और विसंगति, वैज्ञानिक तर्क और प्राकृतिक घटनाएं, जीवन की समस्या, अस्तित्ववादी दर्शन का स्वरूप आदि कुछ ऐसे निबंध हैं जो केवल इसी पुस्तक के लिए लिखे गए हैं ।

× × ×

अपने इस संक्षिप्त संदर्भगत कथ्य के प्रकाश में, मैं इस "आयाम" को पाठकों एवं आलोचकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ । आशा है कि सहृदय पाठक, बुद्धि की तुला पर इन निबंधों का विश्लेषण कर, मेरा मार्ग प्रशस्त करेंगे और प्रेरणाशील सुजाव देने का कष्ट करेंगे ।

धीरेन्द्र सिंह

संदर्भ

अनुक्रम

साहित्यिक आयाम

वैज्ञानिक आयाम

धार्मिक-दार्शनिक आयाम

साहित्यिक आयाम

भारतीय काव्य-शास्त्र और प्रतीक | १

भारतीय काव्य–शास्त्र में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ऐसे संकेत मिल जाते हैं जो प्रतीकात्मक स्थिति को स्पष्ट करते हैं। रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार-सम्प्रदायों के अनेक तत्वों में प्रतीक की धारणा का स्वरूप मुखर हो जाता है। यह मुखरता उसी समय दृष्टिगत होती है जब उनका विश्लेषण प्रतीक की दृष्टि से किया जाय।

क–रस और प्रतीक

'रस' शब्द और भाव

काव्य-शास्त्र में 'रस' का महत्व सर्वोपरि है। 'रस' शब्द वैदिक-साहित्य में सोमरस का पर्याय माना गया है और जिसका अर्थ द्रवत्व, स्वाद और निष्कर्ष का द्योतक है।[1] उपनिषदों में आकर रस ने मधु का रूप ग्रहण कर लिया और मधुविद्या का एक विस्तृत विवेचन हमें बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है। मूलतः यह मधु शब्द सार या निष्कर्ष के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है।[2] उपनिषद्-साहित्य में रस या मधु 'आनंद' का वाचक शब्द माना गया जिसे योगी आत्म-साक्षात्कार के समय अनुभव करते हैं। साहित्य-समालोचकों के लिये सर्वथा स्वाभाविक था कि वे इस 'रस' शब्द को कलात्मक या सौंदर्यात्मक-आनंद (Aesthetic Pleasure) के अर्थ में प्रयुक्त करें।

जब कवि अमूर्त्त भावों तथा संवेदनाओं को व्यक्त करने में भाषा का प्रयोग असफल पाता है, तब वह प्रतीकों का आश्रय लेता है। इस प्रकार प्रतीक, रसानुभूति में सहायक होते है। ये ही भाव रसोद्रेक में सहायक होते हैं। प्रतीक रसोद्रेक में उसी समय सहायक होते हैं, जब वे भावोद्रेक के माध्यम होकर, रसानुभूति की प्रक्रिया में योग प्रदान कर सकें।

रसोद्रेक में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विशेष हाथ है। पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति में भी मनोवैज्ञानिक-क्रिया का अभिन्न स्थान माना गया है। इस दृष्टि से, पाश्चात्य सौंदर्य–तत्व और भारतीय रस–तत्व में समानता प्राप्त होती है। इसी

तथ्य पर प्रतीक–सृजन के एक आधारभूत सिद्धांत के भी दर्शन होते हैं। विचारकों ने प्रतीक का आवश्यक कार्य विचारोद्भावना माना है। विचार मन की क्रिया है, अतः प्रतीक और विचार अन्योन्याश्रित हैं। **रस की निष्पत्ति में इन्हीं संवेदनापरक विचार–प्रतीकों का विशेष योग रहता है।** यहां पर बैल (Bell) का यह मत है कि "किसी कलाकृति को सौंदर्य-भावना का उद्रेक करना चाहिए, किसी विचार अथवा धारणा का नहीं।[3]" उचित ज्ञान नहीं होता, कला के रूप में सौंदर्य या रस मात्र भाव तथा संवेदना पर ही आश्रित नहीं हैं, वरन् उसमें विचारों का भी एक विशिष्ट स्थान है। काव्य के प्रतीकों अथवा कवि-प्रतिभा पर आश्रित नवीन प्रतीकों का स्थायित्व इसी तथ्य पर आधारित है। एक वाक्य में कहें तो रसोद्रेक, भाव, संवेदना तथा विचार से समन्वित मानव-वृत्तियों की समरसता है। इसी समरसता पर आनंद की सृष्टि होती है। प्रतीक का स्थान इस आनंदानुभूति में उस एलक्ट्रान(Electraon) के समान है जो किसी तत्व के केन्द्रक (Neucleus) का विस्फोट कर, शक्ति रूप आनंद का प्रादुर्भाव करते हैं। उपनिषदों में "आनंद ब्रह्म है", ऐसी भी स्थापना की गयी है।[4] अतः तार्किक-पद्धति से रस, जो आनंदस्वरूप है, वह ब्रह्म का पर्याय है। अस्तु, रस ही ब्रह्म है।

अनुभाव का प्रतीक रूप

अनुभाव, भाव-जाग्रत के पश्चात् होने वाले अंगविकारों को कहते हैं। ये अंगविकार हृद्गत भावों के वाह्य रूप हैं। अनेक अनुष्ठानों में जिन अंगमुद्राओं का स्वरूप प्राप्त होता है, वे मूलतः अंगविकार ही हैं। रस-सिद्धान्त में अनुभावों के अन्तर्गत इन अंग मुद्राओं की भावना का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है, अतः अनुभावों को इस रूप मे देखने पर उनका प्रतीकात्मक महत्व ही अधिक स्पष्ट होता है। अंगज, स्वभावज, कायिक, मानसिक तथा वाचिक अनुभावों के श्रेणीबद्ध विभाजन, प्रतीका-त्मक दृष्टि से, एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि के परिचायक है। अंगविकार या मुद्राएं अधिकतर अंगज या कायिक होती हैं जो स्वभाव अथवा मानसिक स्थिति पर आश्रित रहती हैं। नायिका-भेद में इन अनुभावों का भी यदा-कदा सहारा लिया गया है जिसका सुन्दर रूप विदग्धा और प्रौढा के रूपों में देखा जा सकता है।[5] प्रतीकात्मक दृष्टि से वाचिक प्रकार का महत्व वाणी का ही रूप है। अंगमुद्राओं के अतिरिक्त हम कभी कभी अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन वाणी द्वारा भी करते हैं। आदि मानवीय स्थिति में वाणी के शब्द (प्रतीक) प्रेषणीयता के माध्यम थे और यहाँ पर भी इनका महत्व इसी रूप में है। रसोद्रेक की प्रक्रिया में ये अनु-भाव (अंगज तथा वाचिक) अपनी विशिष्टता के कारण सहायक होते हैं। इस

दृष्टि से, अनुभावों का रसात्मक एवं प्रतीकात्मक महत्व एक साथ स्पष्ट हो जाता है।

साधारणीकरण और प्रतीक

अभिनव गुप्त का साधारणीकरण सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद का एक प्रमुख अंग है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद कई तत्वों में समानता प्रदर्शित करता है। साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है और जब यह अनुभूति भाषा के भावमय प्रयोग के द्वारा अपना विस्तार करती है तब साधारणीकरण की क्रिया का रूप स्पष्ट होता है।

कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में प्रतीकों का सहारा लेता है, वह ऐन्द्रिक अनुभवों पर ही बिम्बग्रहण करता है और फिर, बिम्बों के सहारे प्रतीक-सृजन के महत् कार्य को सम्पन्न करता है। कला और साहित्य प्रत्यक्षानुभव (Perception) को बिम्ब रूप में ग्रहण कर, उसे अनुभूति में परिवर्तित करता है, तभी वह प्रतीक की श्रेणी में आता है। अतः प्रतीक के स्वरूप में प्रत्यक्षानुभव और अनुभूति दोनों का समन्वित रूप प्राप्त होता है।[६] काव्य के विचार तथा भाव मूलतः अनुभूतपरक होते हैं। जब भी कवि इस अनुभूति को वाह्य रूप देना चाहेगा, तब वह भाषा के प्रतीकों के द्वारा, उस विशिष्ट अनुभूति का साधारणीकरण करेगा। यह एक सत्य है कि हमारी अनेक ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं जो अपनी पूर्णाभिव्यक्ति केवल प्रतीकों के द्वारा ही कर सकती हैं। अतः डा० नगेन्द्र का यह मत है प्रतीकात्मक दृष्टि से अनुशीलन योग्य है—"कवि अपने समृद्ध भावों और अनुभूतियों (मेरा स्वयं का जोड़ा शब्द है) के बल पर अपने प्रतीकों को सहज ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदय में भी समान भाव जगा सकें।[७]"

अनुभूति का क्षेत्र मूल रूप से संवेदनात्मक होता है। प्रतीक उसी सीमा तक संवेदनयुक्त होंगे जिस सीमा तक उसमें अनुभूति की अन्विति होगी। संवेदना अनुभूति तथा बिम्ब ग्रहण, जो मन की विविध क्रियायें हैं—इन सब की क्रिया-प्रतिक्रिया प्रतीक के सूक्ष्म मानसिक तथा बौद्धिक धरातल की परिचायिका हैं। इस क्रिया के द्वारा प्रतीक 'अरूप' की रूपात्मक अभिव्यंजना प्रस्तुत करता है। मेरे विचार से यही अभिव्यक्तिवाद है। यह विवेचन क्रोशे के इस कथन से भी समानता रखता है कि अनुभूति ही अभिव्यक्ति है।[८]

भट्टनायक ने साधारणीकरण को भावकत्व की शक्ति माना है जिसके द्वारा भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है। परन्तु अभिनव गुप्त ने व्यंजना शक्ति में साधारणीकरण का समार्थ्य माना है। जहाँ तक प्रतीक के अर्थ का प्रश्न

है, उसका अर्थ व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों पर आश्रित होता है। भाषागत प्रतीक, व्यंजना के द्वारा ही अर्थ व्यक्त करते हैं। अतः शब्द-प्रतीक की व्यंजना तथा लक्षणा शक्तियों पर ही साधारणीकरण की क्रिया अवलम्बित है।

ख—ध्वनि और प्रतीक

शब्द शक्ति और प्रतीक

यदि रस, काव्य की आत्मा है तो ध्वनि, काव्य शरीर को बल देने वाली संजीवनी शक्ति है। घंटे के 'टन्' के बाद जो सुमधुर झंकार निकलती है और जो शनैः शनैः वायुतरंगों में विलीन हो जाती है—यही झंकार ध्वनि का रूप है। इसी प्रकार ध्वनिवादियों ने शब्द-शक्ति का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण के द्वारा प्रतीक और शब्द शक्ति के सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

भारतीय मनीषा ने शब्द शक्ति के विश्लेषण द्वारा भाषागत-प्रतीक-दर्शन की भूमि प्रस्तुत की है। भाषागत प्रतीक दर्शन यह सिद्ध करता है कि भाषा का गठन और विकास प्रतीकों के संगठन एवं अर्थबोध का इतिहास है। शब्द-शक्तियों के द्वारा भाषा की उस शक्ति का पता चलता है जो किसी भी भाषा के सबल रूप का द्योतक है। शब्द शक्तियों पर ही प्रतीक का भवन निर्मित होता है और जिसकी आधार- शिला पर ही अर्थ प्रस्फुटन होता।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें सर्वोच्च स्थान व्यंजना शक्ति का माना जाता है। (काव्य की दृष्टि से) इसी व्यंजना (Suggestiveness) द्वारा व्यक्त व्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' कहा गया। जहाँ तक अभिधा का प्रश्न है, वह तो केवल शब्द का प्राथमिक अर्थ है जो शब्द से परे किसी अन्य अर्थ का वाहक बनने में असमर्थ है। लक्षणा भी शब्द की वह शक्ति है जो प्राथमिक अर्थ से द्वितीय अर्थ की ओर अग्रसर होती है, परन्तु व्यंजना शक्ति, काव्य की दृष्टि से, उच्चतम शक्ति कही जाती है। सत्य में काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति शब्द की व्यंजना एवं लक्षणा शक्तियों पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में, ध्वन्यात्मक काव्य में इन दो शक्तियों द्वारा, अर्थ-ध्वनि का रूप मुखर होता है। डा० रामकुमार वर्मा ने, इसी से यह विचार व्यक्त किया है कि प्रतीक का सम्बन्ध शब्द-शक्ति की ध्वनि-शैली से है।[६] प्रतीक की यह ध्वन्यात्मक परिणति शब्द के व्यंग्यार्थ का विकसित रूप है। यदि शब्द व्यंग्यार्थ का ध्वनन न कर सका तो वह प्रतीक का रूप नहीं हो सकता है। अलंकारों के क्षेत्र में शब्द की लक्षणा और व्यन्जना शक्तियों का पूरा प्रयोग किया गया है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। रीतिकाव्य में अधिकांश प्रतीको की योजना अलंकारों के आवरण में अथवा

कविसमय के प्रकाश में ही हुयी है। इन शब्द–शक्तियों का वैविध्यपूर्ण विस्तार छायावादी, रहस्यवादी तथा प्रयोगवादी कविता में प्राप्त होता है। पश्चिमी काव्य–शास्त्र में काव्य-भाषा की उच्चतम प्रकृति, शब्द के व्यंग्यार्थ में ही समाहित मानी गई है। बर्नार्डी (Bernardi) ने भाषा को बुद्धि का प्रतीकात्मक रूप कहा है।[१०] यदि हम इस कथन पर मनन करें तो यह स्पष्ट होता है कि काव्य-भाषा में प्रयुक्त शब्दों का व्यंग्यार्थ ही उसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। यही काव्य के शब्द प्रतीक की ध्वनि है। इसी व्यंग्यार्थ पर कवि अनेक शब्द-प्रतीकों का सृजन करता है। अतः कवि की सृजन-क्रिया भाषा और शब्दों के रूढ़ि रूप का हो पालन नहीं करती है, वरन् उसकी सृजनात्मक क्रिया अपने विकास के साथ नवीन शब्दों पर आश्रित काव्य-भाषा का नव–निर्माण भी करती है।[११] आधुनिक काव्य में हमें ऐसे नव शब्दों तथा प्रतीकों का सुन्दर स्वरूप प्राप्त होता है।

स्फोट सिद्धांत और प्रतीक

शब्द-प्रतीक किसी भाव अथवा वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है जो विचारो–द्भावना में सहायक होते है। शब्द के सुनने पर अर्थ की प्रतीति कैसे होती है, इस समस्या पर ही स्फोट सिद्धांत का प्रणयन हुआ है जो शब्द और उसके अर्थ की दूरी को निकट लाता है। वैयाकरणों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन वैज्ञानिक रूप से किया है।

स्फोट उस सम्मिलित ध्वनि–विम्ब को कहते हैं, जो किसी शब्द के विभिन्न ध्वनियों के संयोग से प्रादुर्भूत होता है और उस ध्वनि-विम्ब के पृथक्-पृथक् वर्णो से भिन्न–भिन्न अर्थों का बोध होता है। विम्ब ग्रहण और शब्द का अन्योन्य सम्बन्ध है, अतः यह कहना अधिक न्याय संगत होगा कि विम्ब-ग्रहण के बिना शब्द का अस्तित्व ही खतरे में आ जाता है। इन्हीं विम्बों की आधारशिला पर शब्द-प्रतीकों का सृजन होता है। शब्द की अन्तिम ध्वनि उच्चरित हो जाने पर, ध्वनि विम्ब या स्फोट ही शब्द के सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। ध्वनिकार का मत है कि जिस प्रकार ध्वनि के और उसके स्फोट के सुनने पर ही उस शब्द का अर्थ ध्वनित होता है, उसी प्रकार काव्य में शब्द के वाच्यार्थ के द्वारा जो व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, वही काव्य है। प्रतीक दृष्टि से शब्द का वाच्यार्थ महत्व नहीं रखता है, परन्तु उसका व्ययंग्यार्थ ही आवश्यक तत्व है। डॉ॰ नगेन्द्र का मत है कि अर्थबोध शब्द के स्फोट पर ही आश्रित रहता है।[१२] शब्द प्रतीक का अर्थ स्फोट और व्यंग्यार्थ की मीलित क्रिया से ध्वनित होता है।

शब्द का अभिधेयार्थ एक ही रहता है, परन्तु जब वह शब्द, प्रतीक का कार्य करता है तब वही शब्द व्यंजनात्मक हो उठता है। सत्य व्यंग्यार्थ में चमत्कार

नहीं होता है, पर उसमें एक तरह की जीवनगत मर्मस्पर्शिता होती है और प्रति-भाजन्य जागरूकता । इसी से ध्वनिकार ने शब्द-ध्वनि की परिणति के अनुसार काव्य के तीन भेद माने हैं, यथा—ध्वनि-काव्य (उत्तम-काव्य), गुणीभूत काव्य (मध्यम) और अधम काव्य (चित्रकाव्य) । जहाँ तक प्रतीक का प्रश्न है, ध्वनि काव्य ही सत्य प्रतीकात्मक शैली को अपनाता है । गुणीभूत काव्य में वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ से समानता प्रदर्शित करता है, वहाँ पर प्रतीक की स्थिति संदिग्ध रहती है, क्योंकि वस्तु तथा शब्द का वहाँ पर समान धरातल रहता है ।

ग—रीति-सम्प्रदाय और प्रतीक

रीति और प्रतीक

'रीति' शब्द भारतीय काव्य-शास्त्र में उस विशिष्ट पद रचना जो कहते हैं जिसके द्वारा कवि अपने भावों तथा विचारों को किसी विशिष्ट शैली या फार्म (Form) में अभिव्यक्ति प्रदान करता है । इसी से रीति या शैली को मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम दिया गया ।[13] अंग्रेजी शब्द 'स्टाइल' रीति का समान अर्थ देता है । इसी शैली के अन्तर्गत उन माध्यमों का समावेश होता है जो कवि या कलाकार रीति प्रदर्शन में प्रयुक्त करता हैं । इसमें रूपक, उपमा और प्रतीक आदि का भी समावेश है, परन्तु यह रीति-काव्य का सर्वस्व नहीं है । यहाँ पर प्रतीक का जो भी विवेचन होगा, वह केवल शैली या रीति के प्रकाश में होगा । अतः यह विवेचन काव्य की दृष्टि से एकांगी ही कहा जायगा । इस दृष्टि से रीति, कवि स्वभाव और उसके मनोभावों की प्रतीक मानी जा सकती है जो केवल रूपात्मक ही है ।[14]

दण्डी, वामन और भामह जैसे संस्कृत आचार्यों ने द्योति-तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है । उसमें यदाकदा ऐसे संदर्भ प्राप्त होते है. जो प्रतीकात्मक शैली की ओर संकेत करते हैं। परन्तु यहाँ प्रतीकात्मक शैली प्रतीकवाद नहीं है. वह तो प्रतीक दर्शन का एक अंगमात्र है । प्रतीक को केवल एक शैली मानना, उसके व्यापक अर्थ को संकुचित करना है । रीति-काव्य में अधिकतर प्रतीक का रूप शैलीपरक तो अवश्य है, पर साथ ही उस प्रतीक का एक भावात्मक एवं संवेदनात्मक रूप है जो उसे अर्थ प्रदान करता है । यहाँ यह मंतव्य नहीं है कि प्रतीक का शैलीपरक रूप है ही नहीं, पर भावों तथा विचारों का रसात्मक सन्निवेश ही प्रतीक का प्राण है ।

शब्द-गुण और अर्थ-गुण

वामन ने गुणों की संख्या १० मानी है और इन गुणों को दो भागों में विभाजित किया है । वे हैं—शब्दगुण और अर्थगुण । ये दोनों गुण काव्य के आव-

श्यक अंग हैं जिस पर रीति का प्रासाद निर्मित हुआ है। ये गुण हैं—ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, अर्थव्यक्ति और कांति। इन विभिन्न गुणों के विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि शब्द और अर्थ का अन्योन्य संबंध ही प्रतीक की व्यंजना-शक्ति को मुखर करता है। इन गुणों में श्लेष, माधुर्य और अर्थव्यक्ति का, प्रतीक की दृष्टि से, विशेष महत्व है क्योंकि प्रतीकार्थ श्लेषपरक भी हो सकता है और उसमें माधुर्य तथा कांति का समावेश अपेक्षित है। शब्द-प्रतीक उसी समय गुणयुक्त होते हैं जब वे औचित्यपरक अर्थव्यंजना कर सकने में समर्थ हों। वामन के अनुसार-गुण मानसिक दशा के द्योतक हैं जो काव्यात्मा 'रस' से सम्बन्धित हैं। मन की क्रियाओं में विचार की क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतः गुण और विचार मन की क्रियाएं हैं। विचार का कार्य प्रतीकीकरण है और प्रतीक का कार्य उस विचार तथा भाव की अर्थव्यक्ति है जिसका प्रतीकीकरण हुआ है। अतः अर्थ-व्यक्ति जो एक गुण है, उसका यथार्थ स्वरूप वस्तु के विशद संदर्भ के प्रयोग में समाहित है। काव्य में प्रतीक की स्थिति उसी सीमा तक अपेक्षित है जिस सीमा तक वह शब्द-प्रतीक अपने व्यंग्यार्थ को—अर्थ व्यक्ति को, एक विशिष्ट 'रीति' के द्वारा अभिव्यंजित कर सके। काव्यात्मक शब्द का सौंदर्य अर्थव्यक्ति के विस्तार में निहित है जो अलंकारों का भी क्षेत्र है। रीति की दृष्टि से शब्द का सौंदर्य, उसके रूपात्मक एवं शैलीपरक रूप में निहित है जो अर्थ को सुन्दर विधि से प्रकट कर सके।

दूसरा गुण कांति है जिसके द्वारा शब्द-प्रतीकों के प्रयोग में उज्ज्वलता तथा भावोद्रेक करने की क्षमता आती है। श्लेष गुण प्रतीक को स्थिर कर सकता है, यदि उस शब्द के द्वारा दो या अधिक पक्षों में समानता व्यंजित हो। इसका विवेचन अलंकारों के अंतर्गत किया जायगा।

अरस्तू ने भी चार अवगुणों की प्रधानता दी है, यथा—समासों का अनुचित प्रयोग, अप्रचलित शब्दों का प्रयोग, विशेषणों का प्रयोग और रूपक का वर्ण्य विषय से अलग प्रयोग[15]—जिनके द्वारा शैली की गरिमा नष्ट हो जाती है। प्रतीकात्मक दृष्टि से जो बात रूपक के लिए कही गयी है, वह प्रतीक के लिए भी सत्य है। प्रतीक की अर्थ-व्यंजना उसी समय सफल हो सकती है जब वह अपने वर्ण्य-विषय से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले। यह मत मम्मट से भी साम्य रखता है।[16]

घ—वक्रोक्ति और प्रतीक

वक्रता और प्रतीक

कुंतक का वक्रोक्तिवाद काव्य की आत्मा को वक्रोक्ति या कथन की वक्रता मानता है। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो काव्य में वक्रोक्ति का स्थान एक

स्वाभाविक गुण है। कविता में किसी भी भाव को **स्वाभाविक** वक्रता के साथ ही प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ मैंने वक्रता के साथ 'स्वाभाविक' शब्द को जोड़कर कष्ट कल्पना पर आश्रित वक्रता से भिन्न करने का प्रयत्न किया है। अतः, सभी अलंकारों के वक्रोक्ति का समावेश अवश्य रहता है, चाहे वह स्वाभाविक हो अथवा कष्ट-कल्पना पर आश्रित हो।

अरस्तू ने अपने ग्रंथ 'पोयेटिक्स' में एक स्थान पर कहा है कि "प्रत्येक वस्तु जो अपनी स्वाभाविक सरल बोलने की विधि से विलग हो जाय, वह काव्य है।"[17] यह कथन वक्रोक्ति के रूप से समानता रखता है। दूसरी ओर कुछ रोमांटिक कवियों—जैसे वर्ड्सवर्थ तथा कॉलरिज का वक्रोक्ति से विरोध था। वे ग्राम्य-जीवन की साधारण भाषा के प्रति अधिक आकृष्ट थे।[18] परन्तु इनके काव्य में भी स्वाभाविक तथा सरल वक्रता का समवेश अवश्य था जिसे उन्होंने ग्रामीण जगत् की निष्कपट सरलता की संज्ञा दी है।

इस प्रकार वक्रोक्ति, अलंकार और काव्य-भाषा का एक आवश्यक गुण है। प्रतीक के लिए भी वक्रोति का एक विशिष्ट स्थान है, जो उसके प्रतीकार्थ की सापेक्षता में ही ग्राह्य है। यह तथ्य रीतिकाल तथा आधुनिक काल में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है। प्रतीक की वक्रता उसके अर्थ में निहित है। यदि प्रतीक की वक्रता में, प्रस्थापना (Proposition) का स्वरूप मुखर न हो सका, तो वह प्रतीक न रहकर केवल शब्द या वस्तुमात्र ही रह जायगा।

अलंकार और वक्रोक्ति

कुंतक की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सालंकृत शब्द ही काव्य की शोभा है। वक्रोक्ति ही शब्द उसके अर्थ को सालंकृत कर, अर्थ,-गरिमा को द्विगुणित कर देता है। अलंकारों में शब्द की वक्रता काव्य-प्रस्थापनाओं को रससिक्त कर देती है। विविध प्रकार के काव्यालंकार वक्रोक्ति के रूप हैं। जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, कुंतक ने उसे वक्रता पर आश्रित माना है और उसे 'रसवत् अलंकार' में समाहित किया है।[19] अतः रस का उद्रेक वक्रता पर अवलंबित है। परन्तु रस के लिये केवल-मात्र वक्रता आवश्यक नहीं है। शब्द-प्रतीक की भावभूमि में वक्रता की स्वाभाविक परिणति ही उसे अलंकारगत-प्रतीक की श्रेणी तक ला सकती है। अंत में, यह अलंकृत शब्द-वक्रोक्ति का औचित्य इसी तथ्य में समाहित रहता है कि वह किस सीमा तक 'रसानुभूति' में सहाय हो सका है। अप्रस्तुत-विधान, अलंकार का अभिन्न अंग है। जब अप्रस्तुत स्वतन्त्र रूप से अलंकारों के आवरण में प्रयुक्त होते हैं, तो उनकी सफलता का रहस्य वक्रोक्ति भी कहा जा सकता है। मेरे विचार से जिन

अलंकारों में प्रतीक की स्थिति सम्भव है (जैसे यमक, श्लेष, अन्योक्ति, और समासोक्ति, आदि), उनमें किसी सीमा तक रसानुभूति की परिणति वक्रता पर आश्रित रहती है।

कुंतक ने अलंकारों के वाच्य तथा प्रतीयमान, दो रूप माने हैं। जहाँ तक रूपक का सम्बन्ध है, वह वाच्य भी हो सकता है और प्रतीयमान भी। प्रतीक की दृष्टि से वाच्य का स्थान नगण्य है, क्योंकि वाच्य अलंकारों में उपमान और उपमेय का अभेदारोप तो अवश्य रहता है, पर यह अभेदारोप स्पष्ट शब्दों में केवल वाच्यार्थ तक सीमित रहता है।[20] किन्तु प्रतीक में यह अभेदारोप केवल उपमान या अप्रस्तुत रूप में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के समान व्यग्य-मुखेन रहता है। उसका अर्थ वाच्य पर निर्भर न हो, व्यंग्यार्थ पर आश्रित रहता है। अस्तु, प्रतीक के लिए प्रतीयमान अलंकार ही महत्वपूर्ण है, परन्तु इनमें भी प्रतीक की स्वतन्त्र स्थिति अपेक्षित है। बहुत से परम्परागत रूढ़ि वक्रता के प्रतीक (यथा कवि परिपाटी) वाच्यार्थ से भिन्न रूढ़ि अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। इनका भी क्षेत्र प्रतीयमान ही होता है चाहे वे अलंकारों के आवरण में क्यों न प्रयुक्त हुए हों ?

अभिव्यंजनावाद और प्रतीक

वक्रोक्तिवाद, वाणी की विलक्षणता के कारण भावों की विलक्षणता मानता है, यह मत एकांगी है। भाव तथा भाषा का अन्योन्य सम्बन्ध है। भावों को प्रकट करने के लिए ही हम वाणी या भाषा का प्रयोग करते हैं, अतः भाव प्राथमिक वस्तु है और भाषा द्वितीय। प्रतीक में भी भाव तथा भाषा का समन्वित रूप ही प्राप्त होता है। क्रोशे का अभिव्यंजनावाद भाषा के इसी रूप का विवेचन करता है। बोशों ने कहा है—"अभिव्यक्ति के लिए भावात्मक संवेदना आवश्यक है और संवेदना के लिए अभिव्यक्ति। इसीसे अभिव्यक्तिवाद भाषा की आधारशिला पर आधारित है।[21]

क्रोशे के अभिव्यंजनावाद में और कुंतक के वक्रोक्तिवाद में समानताएँ हैं जो प्रतीक की स्थिति की ओर संकेत करती हैं। दोनों के लिए अभिव्यंजना का समान महत्व है। दोनों वस्तु तथा भाव की अपेक्षा उक्ति में काव्यत्व मानते हैं। दोनों कलाशास्त्री आत्मा की क्रिया को ही कला क्षेत्र मानते हैं अर्थात् अध्यात्मपरक क्रिया पर जोर देते हैं। दोनों सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं मानते हैं, पर उसे सहजानुभूति की एक क्रिया मानते हैं।[22] इन समानताओं में जहाँ एक ओर आत्मभिव्यक्ति की प्रधानता है, वहीं अपेक्षाकृत वस्तु की गौणता। प्रतीक की दृष्टि से यह मत नितात सत्य नहीं है। प्रतीक की आधारशिला वस्तु ही होती हैं जो किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करती है। अभिव्यंजना में भी प्रतीक वस्तुपरक ही होते है पर अपने प्रतीकार्थ में

उस वस्तु से परे अन्य अर्थों तथा वस्तुओं की व्यंजना करते हैं। प्रत्येक भाव तय विचार की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को ध्यान में रखकर मूर्त्त विधान (अमूर्त्त का) करना अच्छा होता है[23] पर मूर्त्त विधान (प्रतीक) को अतिरंजित कर देना, अभिव्यंजना को कृत्रिम बना देता है। आत्माभिव्यंजना एक आध्यात्मिक क्रिया हैं और इसी से जो भी प्रतीक इस क्रिया में सहायक होंगे, वे मूर्त्त रूप होते हुए भी अमूर्त्त की व्यंजना अवश्य करेंगे। यही प्रतीकात्मक-अभिव्यंजना, काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है।

ङ—अलंकार और प्रतीक

शब्द–प्रतीक और अलंकार

विगत विवेचन के प्रकाश में यदा-कदा अलंकारों और उनमें प्रयुक्त शब्दों की ओर संकेत किया गया है। पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थान पर कहा—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द ही काव्य है।[24] पाश्चात्य विचारक लांगिनस ने सब्लाइम (Sublime) पर विचार करते समय भव्यता (सब्लाइम) का उदय अलंकारों की सत्ता में माना है। अलंकार भव्यता की वृद्धि करते हैं, यह कथन पंडितराज जगन्नाथ के 'रमणीय अर्थ' के समकक्ष ज्ञात होता है। रमणीय अर्थ प्रदान करने के दो साधन हैं–व्यंजना और अलंकार। जहाँ तक प्रतीक शब्दों का प्रश्न है, उनका स्थान समान रूप से अलंकार और व्यंजना पर आश्रित है। व्यंजना शक्ति पर हम विचार कर चुके हैं, अतः अलंकार और प्रतीक का विवेचन अपेक्षित है।

अलंकार, काव्य के गुण माने गये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों के बारे में कहा है कि "शोभा को बढ़ानेवाले और रसादि के उपकारक जो शब्द, अर्थ के अनित्य धर्म हैं, वे अंगद (आभूषण विशेष) आदि की तरह अलंकार कहे जाते हैं।[25] परन्तु प्रतीक की महान् भावभूमि को ध्यान में रखते हुए अलंकार की यह परिभाषा एकांगी कही जायगी।

अलकार की मूल प्रेरणा का रहस्य क्या है? उनकी प्रेरणा का मूलभूत स्त्रोत भावों तथा संवेदनाओं में निहित है। जब मानव मन में भावनाएँ सजग होती हैं, तब वे आवेग का रूप धारण करती हैं और ये आवेग इतने तीव्र होते हैं कि वे कवि के मानस-लोन को उद्वेलित कर देते हैं। अमूर्त्त आवेग इस प्रकार मूर्त्त रूप में अभिव्यंजित होते हैं। अलंकार भी एक रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इसी से क्रोशे ने अलंकार, प्रतीक, यथार्थ–– सबको अभिव्यंजना की विधियाँ माना है।[26] सत्य में

तत्व (content) को शक्तिशाली रूप में अलंकार ही रख सकने में समर्थ है। अभिव्यक्ति के विशेष माध्यम शब्द है जो अलंकारों में सुन्दर विकास प्राप्त करते हैं। शब्द ही वस्तु तथा पात्र के बोधक होते हैं। अलंकार, वस्तु और पात्र में निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य को स्पष्ट करने के साधन हैं, केवलमात्र अलंकार, के उपकरण नहीं हैं।[27] अनेक ऐसे काव्यालंकार हैं जिनमें शब्द-प्रतीकों के अर्थ-विस्तार पर ही रस का उद्रेक होता है। यह कवि की प्रतिभा पर निर्भर करता है कि वह प्रतीक को कार के आवरण में कितने बड़े संदर्भ का वाहक बना सका है। अलंकार में प्रतीक केवल चमत्कारिक वस्तु नहीं है, पर उनका महत्व विचारों तथा भावों को रमणीय रूप देने में है। अलंकार अभिव्यक्ति के माध्यम हैं उनके साध्य नहीं।

अलंकार और प्रतीक के इस विवेचन के प्रकाश में कुछ ऐसे काव्यालंकार दृष्टिगत होते हैं जिनमें प्रतीक की स्थिति सम्भव है। अतः उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

रूपक और प्रतीक

अनेक विचारन रूपक और प्रतीक में कोई भी भिन्नता नहीं पाते हैं। अनेकों के अनुसार प्रतीक ही रूपक हैं और वे केवल रूपक से ही आविर्भूत होते हैं[28], इस मत का विश्लेषण अपेक्षित हैं।

रूपक में उपमान तथा उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है। एक प्रकार से रूपक दोनों का समान महत्व है। परन्तु उनकी तद्रूपता में भी विलगता का स्पष्ट आभास मिलता है। यह बात प्रतीक के लिए सर्वथा असत्य है। प्रतीक का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और साथ ही वह पूरे संदर्भ को अपने अन्दर समेटने में समर्थ होता है। प्रतीक में उपमान तथा उपमेय (प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत) की सत्ता नहीं रहती है, वहाँ तो केवल उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। उपमान में उपमेय अन्तर्भूत हो जाता है और केवलमात्र उपमानही पूरे संदर्भ को किसी भाव या विचार का वाहक बना, किसी अन्य अर्थ की व्यंजना करता है। तभी वह प्रतीक हो जाता है। अतः डॉ० धर्मवीर भारती का यह मत कि "औपम्यमूलक प्रतीक-योजना रूपक की मूल प्रकृति है जिसमें प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद रहता है[29], पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। यह ठीक है कि प्रतीक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अभेदत्व रहता है, परन्तु यह अभेदत्व रूपक से सर्वथा भिन्न है। रूपक में अभेदत्व उपमान तथा उपमेय की व्यक्त योजना के कारण वहीं पर कथन कर दिया जाता है। दूसरी ओर प्रतीक के अभेदत्व में उपमान तथा उपमेय का अलग-अलग कथन नहीं किया जाता है। अप्रस्तुत पर जितना ही अधिक स्वतन्त्र

प्रतीकत्व होगा, वह उतने ही विस्तृत अर्थ का व्यंजक होगा। इस प्रकार, प्रतीक रूपक की सापेक्षता में व्यक्त और अव्यक्त का एक साथ अपने में अन्तर्लय कर लेता है। वह अपने में ही कार्य कारण (Cause and effect) का प्रतिरूप होता है। वर मूर्त्त और प्रतिमूर्त्त की तरह अकेला कार्य करता है[30] यहीं प्रतीक को है और उसके व्यक्तित्व की विशालता।

श्लेष और प्रतीक

दूसरा अलंकार श्लेष है जिसमें प्रतीक की स्थिति प्राप्त होती है। श्लेष में शब्द के अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। यहां पर शब्द-प्रतीक की दशा स्पष्ट होने लगती है और अंत में, वह किसी भाव में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार, अर्थसमष्टि के अभिव्यक्तिकरण में प्रतीक किसी शब्द विशेष का आश्रय ग्रहण करता है। यह शब्द उस सप्तखंड के समान है जिसके अर्थ की अनेक रश्मियाँ इष्ट दिशाओं में गतिशील होती हैं। इस भाँति, शब्द अनेकार्थी होकर विस्तृत संदर्भ को अपने विशाल बाहुपाशों में आबद्ध कर लेता है। इस तरह, प्रतीक के लिए शब्द का वैशिष्ट्य अपेक्षित है। अनेक सादृश्यमूलक अलंकारों की (यथा यमक, श्लेष, प्रतीप, अपह्नुति) अभिव्यक्ति किसी शब्द-विशेष के माध्यम से ही होती है। श्लेष में (यमक में भी) प्रतीकवाद की स्थिति वही सम्भव है, जहां शब्दों के अर्थ, व्यंजना की प्रतिष्ठा करते हुए, किसी भाव या विचार में स्थिर हो जाते हैं। श्लेष में सभी शब्दों का ध्येय इसी भाव तथा विचार को व्यंजित करने के लिए होता है और ये शब्द केवल एक प्रमुख शब्द के दो संदर्भों को सादृश्य के आधार पर स्थिर कर, प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप 'घन-श्याम' शब्द लिया जा सकता है। यह शब्द उसी समय प्रतीकात्मक रूप धारण करेगा जब वह मेघ के साथ-साथ किसी अन्य वस्तु, भाव तथा व्यक्ति की गतिशीलता में स्थिर हो जाय। सेनापति के श्लेष-वर्णन में ऐसे प्रतीकों की सुन्दर योजना प्राप्त होती है।[31] सूरदास तथा केशव में भी हमें श्लेषगत-प्रतीकों का यदा-कदा संकेत मिल जाता है।

यमक और प्रतीक

श्लेष में शब्द की पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु यमक में शब्द की बार-बार आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति में वह शब्द अनेक अर्थों की व्यंजना अलग-अलग करता है। इसके साथ इन अर्थों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता है, वरन् ये किसी चित्र, भाव तथा विचार को स्थिर करने वाले अंग रहते हैं। इस प्रकार,

श्लेष की ही तरह शब्द-प्रतीक की गतिशीलता किसी अर्थ में स्थिर हो जाती है। सूर के कूटों में इस प्रकार के यमक प्रतीकों की सुन्दर योजना प्राप्त होती है।

रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक

इस अलंकार में शब्द-प्रतीकों की पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त होती है। इन प्रतीकों की संख्या भी अधिक हो सकती है जो केवल अप्रस्तुत या उपमान की गणना पर निर्भर करती है। अतः रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक का रूप अधिकतर अप्रस्तुत परक ही रहता है। इसी से, इन प्रतीकों को 'अप्रस्तुत-प्रतीक' की संज्ञा दी जा सकती है। इन प्रतीकों का प्रतिकार्थ एकपक्षीय होता है, वे केवल एक ही अर्थ की व्यंजना करते हैं। श्लेष प्रतीकों के समान दो पक्षीय व्यंजना नहीं करते हैं। इन प्रतीकों का परिगणन-मात्र ही किसी योजना में होता है, जो समष्टि रूप में किसी भाव या चित्र रूप में व्यंजना करते हैं। इसी से, इस अलंकार में एक साथ अनेक प्रतीकों की स्थिति संभव है, केवल एक प्रतीक पूरे संदर्भ का समावेश अपने अन्दर नहीं करता है। अतः प्रत्येक प्रतीक का संदर्भ अत्यंत संकुचित होता है।

अन्योक्ति और प्रतीक

अन्योक्ति में प्रतीक की स्थिति नितांत स्वतन्त्र रूप में उभर कर आती है। अन्योक्ति में उपमान तथा उपमेय की एकाकारिता होती है। वह वस्तु तथा पदार्थ जिसे अन्योक्ति का माध्यम बनाया गया है, उसका मुख्य धर्म ही बढ़कर सारे संदर्भ को अपने अन्दर क्रमशः समेट लेता है। इस प्रकार वस्तु पूरे संदर्भ का प्रतीकीकरण करने में समर्थ होती है। दूसरे पर कही गयी उक्ति उस वस्तु या अप्रस्तु में इस प्रकार से एकीभूत हो जाती है कि अप्रस्तुत का प्रस्तुत रूप में अवतार होता है।[32]

अन्योक्ति में प्रतीक का चयन किसी भी क्षेत्र से लिया जा सकता है चाहे वह चेतन-जगत् हो अथवा अचेतन। जिस अप्रस्तुत में जितना भी प्रतीकत्व होगा, उस पर की गयी अन्योक्ति उतनी ही मार्मिक होगी।[33] यही कारण है कि कमल, भौंरा, हंस और काग आदि पर अप्रस्तुत का बोझ इतने अधिक समय से लदा हुआ है कि वे रूढ़िअर्थ में बिल्कुल स्थिर हो गए हैं।

कथा-रूपक (Allegory) और प्रतीक

कथा-रूपक के द्वारा कवि या लेखक एक अत्यन्त महत् संदर्भ का प्रतीकीकरण करता है। इसमें किसी प्रस्थापना या 'सत्य' को व्यंजित किया जाता है। इस व्यंजना के माध्यम भौतिक पदार्थ भी हो सकते हैं और व्यक्ति भी। परन्तु

कथारूपक के सभी पात्र चाहे वे मानवेतर प्रकृ त से लिए गए हों अथवा मानवीय व्यक्तित्व से युक्त हों, उनका प्रयोग किसी 'सत्य' को व्यंजित करना ही होता है और वह भी किसी कथा के परिवेश में। इस दृष्टि से सम्पूर्ण पौराणिक तथा धार्मिक कथायें 'कथा–रूपक' शैली में लिखी गई है। इन कथाओं के प्रतीकात्मक अर्थ का ध्येय, कथा के 'महत्-प्रतीकार्थ' या सत्य को मुखर करना होता हैं। इस 'महत्-प्रतीकार्थ' को कथा के तन्तुओं से अलग करना ही उस कथा के 'सत्य' का अवगाहन करना है।

कथा-रूपक में प्रत्येक पात्र का अपना विशिष्ट प्रतिकार्थ होने के कारण अरबन ने कथा-रूपक को उपमा का बौद्धिक विकास माना है।[34] मेरे विचार से कथारूपक में उपमा का बौद्धिक विकास तो अवश्य प्राप्त होता है पर उस विकास में बुद्धि के साथ–साथ अनुभूति का भी उचित समावेश रहता है। बिना अनुभूति के उपमा का प्रतीकत्व पूर्ण अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ रहेगा। यहाँ उपमा का अर्थ केवल तुलना है, जो सादृश्य के आधार पर होती है। परन्तु प्रतीक की भावभूमि में वह वस्तु जिसकी तुलना की जाती है, उसका सर्वथा अभाव रहता है। केवल इसी रूप में उपमा के प्रतीकत्व को हम कथा-रूपक में स्थान दे सकते हैं।

अस्तु' कथा-रूपक के द्वारा प्रतीकात्मक–दर्शन अपने उच्च रूप में प्राप्त होता है। कथा–रूपक के इस प्रतीकात्मक–विस्तार में वाह्य तत्व क्रमशः महत्–तत्व (Significance) में एकीभूत होते प्रतीत होते हैं और अन्त में, वे पूर्णरूप से 'महतत्व' के व्यंजक बन जाते हैं।[35] इस प्रकार, कथा-रूपक में चिन्तनपरक अर्थ और भौतिक आरोपण का समानांतर विकास सम्भव होता है। फिर भी, कथा-रूपक के महत्–प्रतिकार्थ के प्रति बोशों का एक आश्चर्यजनक निष्कर्ष है। वह कहता है—'कथा–रूपक अपने मूलरूप में दोषयुक्त प्रतीकवाद है जिसमें 'रूप' और 'तत्व' (From and Gontent) की असमानता रहती है[36]।'' इस कथन में जो दोषयुक्त प्रतीवाद का संकेत किया गया है, वह निराधार है। उपर्युक्त त्रिवेचन इसका प्रमाण है। प्रतीकवाद का सुन्दर विकास हमें कथा-रूपक में ही प्राप्त होता है। संसार के अनेक महाकाव्य तथा काव्य इसी शैली में लिखे गए हैं, जो युगों-युगों से अपने प्रतीकों द्वारा ही सांस्कृतिक चेतना के अभिन्न अंग बन सके हैं। ये कभी भी निरन्तन न हो पाते और इनका सांस्कृतिक महत्व न जाने कब का रसातल में चला गया होता, यदि इनका प्रतीकवाद दोषयुक्त होता। अब रही तत्व और अर्थ की बात ! कथा-रूपक में प्रतीकवाद दोषयुक्त नहीं है , अतः उसमें तत्व समावेश का रूप भी अत्यन्त अर्थ-गर्भित है, बिना अर्थ के, 'तत्व' का स्थायित्व नहीं रह सकता है और बिना रूप के तत्व की अभिव्यंजना कैसे हो सकती है ? असमानता का रूप तो धरातल की वस्तु

है, सत्य है उनका सूक्ष्म स्तर पर गृहीत अर्थ। कथा-रूपक में 'रूप-तत्व' की सार्वभौमिकता, उसके तत्व पर ही आश्रित रहती है—दोनों एक दूसरे के पूरक होकर ही कथा-रूपक में कार्य-कारण की शृंखला में अनुस्यूत रहते हैं।

मानवीकरण

मानवीकरण, आरोपण की प्रवति का एक विकसित रूप है। मानव की संवेदना समस्त चराचर विश्व को एक मानवीय चेतना एवं क्रिया से संवलित देखता है, जो आदिमानवीय स्थिति में भी प्राप्त होती है। मानवीकरण की क्रिया, प्रकृति जीव और जगत् के तादात्म्य और एकात्मभाव की महत् क्रिया है। साहित्य में मानवीकरण की प्रेरणा का स्रोत संवेदना के प्रत्यक्षीकरण के लिए होता है।[37]

भारतीय दर्शन में भी जड़ जगत् को भी चेतनयुक्त देखने की प्रवृति प्राप्त होती है। सारे उपनिषद्-साहित्य में इनके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मेरे विचार में इसका कारण वह एकात्मभाव है जो ब्रह्म की चेतन-क्रिया का स्पंदन समस्त सृष्टि-प्रसार में देखता है। इसीसे, उपनिषदों में सूर्य से परे या उसके अंदर पुरुष की कल्पना की गई,[38] सृष्टि-प्रसंग में चेतन-शक्ति को 'विराट् पुरुषात्मा' की संज्ञा प्रदान की गई जिसके विभिन्न अंग सृष्टि के विभिन्न अवयव हैं[39] अत: मानवीकरण जहाँ एक ओर जड़ और चेतना को एक सूत्र में बांधता है, वही वह किसी धारणा अथवा भाव का प्रतिरूप भी होता है और कहीं-कहीं तत्व-चिंतन का रूप भी मुखर करता है। अस्तु, मानवीकरण का हमारे दर्शन में एक अध्यात्मिक तथा तात्विक महत्व है।[40]

मानवीकरण का क्षेत्र प्रकृति की घटनाओं तथा व्यापारों के दैविकरण में भी प्राप्त होता है और साथ ही मानवीय भावों तथा धारणाओं के व्यक्तित्व प्रदान करने में भी। यह प्रवृत्ति हमें आदिकाव्य से लेकर आधुनिक-काव्य तक समान रूप से प्राप्त होती हैं।

मानवीकरण का काव्य-रूप उसी समय सफल माना जायगा जब उसमें अनुभूति-प्रवणता का समावेश प्राप्त हो। अनुभूति एक आत्मिक क्रिया है जिसमें समस्त चराचर विश्व आत्मिका-एकत्वभाव में अन्तर्निहित हो जाता है। इस दशा में मानव अपने दुःख-सुख को वाह्य प्रकृति पर आरोपित कर उसे संवेदनशील बना देता है। वह अपनी सीमित परिधि को तोड़कर आत्मिक अनुभूति को समस्त चराचर में प्रसारित करता है। यहाँ पर जड़ भी मानव का सहयोगी बन जाता है। इसी से गोपियों ने अपनी विरहानुभूति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया कि यमुना को ही विरहिणी का रूप दे डाला। यहाँ पर ऐसा ज्ञात होता है कि वस्तु का निलय मानवीय रूप में सम्पन्न हो, अनुभूति की प्रांजलता में साकार हो उठा है। कदाचित्

ने मानवीकरण क्रिया में पदार्थ और मानव का एकीभूत संस्कार
म दृष्टि से रस्किन का 'पैथेटिक फैलसी' (Pathetic Fallacy) वाला
ार प्रतीत होता है और फिर जब हम प्रकृति के उल्लासपूर्ण चित्रों में
ोप करते हैं तब हम उसे दोष की संज्ञा नहीं देते हैं, फिर विषाद
ऐसा दोषारोपण क्यों ? अतः पैथटिक फैलसी के स्थान पर डॉ०
ी ने जो 'सिम्पैथटिक फैलसी' की अवतारणा की है, वह रस्किन के
ाणा से कहीं विस्तृत है ?[42] परन्तु चाहे वह सिम्पैथटिक या पैथटिक
ा तो वह दोनो दृष्टियों से हैं। मैं तो इसे दोष या फैलसी ही नहीं
ह तो दोष तब हो सकता है जब उसे दोषयुक्त रूप में प्रस्तुत किया
ाष ही गुण हो जाता है, जब इसके द्वारा चेतना का विस्तार अपनी
त्ति का परिचय देता है। मानवीकरण तत्व चिंतन का मधु है,
अद्वैत-दर्शन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से वह काव्य

ाव्य-संप्रदाय, द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० २७

:०, बृहदाहृण्यकोपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण ५, पृ० ५८२-५९५१

आर्ट, द्वारा क्लाइव बेल, पृ० १८

तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय आत्मा और ब्रह्म की समानता, दे०
पृ० १६१ तथा २०८ (उपनिषद् भाष्य खंड २)

ायिका भेद के अधिकांश प्रकारों का अध्ययन [illegible] रूप में किया
जा सकता है, जो एक अलग ही विषय है।

ा वर्ल्ड एज स्पैक्टिकिल, द्वारा म्यूलर, पृ० ८६

ीतिकाल की भूमिका द्वारा डा० नगेन्द्र पृ० ४६

ा एसंस आफ एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ ४२

साहित्य-शास्त्र, द्वार डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ११५

एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ० ३२८

एस्थटिक एंड लैंग्वेज, सं० विलियम इल्टन, प० १०३ पर दिये
कालिंगवुड का कथन।

१२. रीतिकाल की भूमिका, द्वारा डा० नगेन्द्र पृ० १५०

१३. रीतिकाल की भूमिका, पृ ६५

१४. भारतीय साहित्य शास्त्र द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० २०१

१५. वही, पृ० २१८-१९

१६. भारतीय साहित्य शास्त्र, द्वारा श्री बलदेव उपाध्याय, पृ २१९

१७. पोयेटिक्स, द्वारा अरस्तू, पृ० ७५, उद्धृत भारतीय साहित्य शास्त्र से।

१८. रोमांटिक साहित्य शास्त्र, देवराज उपाध्याय, पृ० १११

१९. रीतिकाल की भूमिका,—वक्रोक्ति सम्प्रदाय

२०. भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० ३२५

२१. बोशो (Bosauquest) श्री लेक्चर्स आन एस्थटिक, पुस्तक ए माडर्न बुक आफ एस्थिटिक, द्वारा रेडर, पृ० १९७

२२. रीतिकाल की भूमिका, पृ० १२५

२३. काव्य में अभिव्ययंजनावाद, द्वारा श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु, पृ० १२४

२४. काव्य संप्रदाय, द्वारा अशोककुमार सिंह, पृ० ७८

२५. वही, पृ० ८०

२६. एस्थटिक, द्वारा क्रोशे, पृ० ६८

२७. साहित्य-शास्त्र, द्वारा रामकुमार वर्मा, पृ० ११९

२८. द फिलासफी आफ फाइन आर्ट्स, द्वारा हीगल, पृ० १३८

२९. सिद्ध-साहित्य, द्वारा डा० धर्मवीर भारती, पृ० २८४

३०. थियरी आफ लिटरेचर, द्वारा वारन और वेलक, पृ० १९२

३१. दे० हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित मेरा शोध लेख "सेनापति के श्लेष-प्रतीक"— वर्ष १४, अंक ३ प्रका० तिथि, ३० सितम्बर १९६२

३२. हिन्दी कविता में युगान्तर, द्वारा सुधीन्द्र, पृ० ३६४

३३. काव्य में अभिव्यंजनावाद, द्वारा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ० ११९

३४. लैंग्वेज एंड रियाल्टी, द्वारा अरबन, पृ० ४७

३५. द फिलासफी आफ फाईन आर्ट्स द्वारा हीगल, पृ० १३२

३६. हिस्ट्री आफ एस्थटिक, द्वारा बोशो, पृ० ४४

३७. साहित्य शास्त्र, द्वारा डा० वर्मा पृ० ६६

३८. कठोपनिषद्, अध्याय १, बल्ली ३ पृ० ६७/११ तथा बृहद्० उप०, पृ० ८७१-८७८ (खंड १ तथा ४)

३९. ऐतरेयोपनिषद्, अध्याय १, खंड १, पृ० ३२-४१ (उपनिषद् भाष्य, खण्ड २)

४०. दे०, साहित्य शास्त्र, द्वारा डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६६

४१. पोयेटिक माइंड, द्वारा प्रेसकाट, पृ० २२९

४२. साहित्य-शास्त्र, द्वारा डा० वर्मा, पृ० ७२

कबीर का 'निरंजन' शब्द —एक नवीन दृष्टिकोण

२

निरंजन शब्द के अर्थ में और उसकी धारणा में अनेक भ्रांतियों का समावेश हो गया है, जिसका मुख्य कारण उसके द्विविध संदर्भ हैं। एक समष्टि अर्थ में निषेधात्मक (negative) और दूसरे में निश्चयात्मक (positive) अर्थ-संदर्भों का योग सा हो गया है, इसी से, उसका सही रूप एक अद्‌भुत रहस्यात्मक विपरीत धारणाओं का रंगस्थल हो गया है। सत्य रूप में, कबीर में हमें यदा-कदा इन दोनों रूपों का वर्णन प्राप्त होता है, जिसका विवेचन यथास्थान होगा। प्रथम निरन्जन के प्रति विद्वानों की जो धारणायें हैं, उनका सिंहावलोकन अपेक्षित है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने निरंजम को शुद्ध—बुद्ध ब्रह्म का रूप माना है, जो 'नाद' स्वरूप है, जिसकी स्थिति सिद्धों और नाथों में भी प्राप्त होती है। 'वह' राम, अल्लाह के समान सार-तत्व है।[1] इस धारणा में प्रायः सभी तत्व निश्चयात्मक हैं, जिन्होंने निरंजन को एक साकार स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सगुण भक्तों का साकार रूप ब्रह्म है, परन्तु वह कबीर के 'निर्गुण राम' के अधिक निकट है।

डा० बड़थ्वाल ने भी निरंजन को परब्रह्म का पर्याय माना है, परन्तु इसके साथ यह भी मत रखा है कि आगे चलकर परब्रह्म उसके ऊपर समझा जाने लगा और वह 'कालपुरुष' कहलाने लगा।[2] अतः आपके अनुसार निरंजन की स्थिति परब्रह्म से नीचे है और वह कालपुरुष का भी रूप है। आपके मत से भी निरंजर निश्चयात्मक तत्वों से पूर्ण हे।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी निरंजन शब्द को निर्गुणब्रह्म का और शिव का वाचक शब्द माना है।[3] इसके साथ ही उनका यह कथन है कि आगे चलकर

---

१. कबीर-साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २४४-४६ (सं० २०११)।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय—डा० बड़थ्वाल, अनु० श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १६१ (सं० २०००)।

३. कबीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४२ (१९५३)।

इस शब्द की कबीरपंथ में बहुत दुर्गति हुई और उसे शैतान भी समझा गया। वह एक ऐन्द्रजालिक सत्ता है, जिसका काम जाल में फंसाना है। इस धारणा में भी निश्चयात्मक तत्वों का समाहार हुआ है।

उपर्युक्त सभी मतों में निरंजन के निषेधात्मक तत्वों को छोड़ दिया गया है अथवा उसके प्रति पूरा न्याय नहीं किया गया है। साधारणतः, निषेधात्मक अर्थ-समष्टि में 'नेति-नेति' प्रणाली का सहारा लिया जाता है, जिसे आधुनिक दार्शनिक शब्दावली में "अनंत प्रत्यावर्जन (infinite regress) की संज्ञा दी गई है। परन्तु निश्चयात्मक अर्थ-ग्रहण में किसी वस्तु को स्थिर कर उसे समय और आकाश की सीमा में बाँधा जाता है। संतों के निरंजन शब्द में इन दोनों प्रणालियों का यदाकदा प्रयोग हुआ है, जिसके द्वारा 'सत्य' का स्वरूप मुखर होता है। इसी "परम-सत्य" की अनुभूतिमय धारणा को स्पष्ट करने के लिये अनेक दार्शनिकों ने अपने तात्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यदि हीगेल के 'परमात्म तत्व' या निरपेक्ष तत्व (Absolute Spirit) और शंकर के ब्रह्मतत्व का विश्लेषण किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके परम-तत्व रूप में दो विपरीत धारणाओं का एकीकरण अथवा समन्वय हुआ है। हीगले के "निरपेक्ष-तत्व" में विषयीगत और विषयगत तत्वों की एकता प्रदर्शित की गई है, शंकराचार्य के "ब्रह्म" में भी ईश्वर और माया का समन्वय किया गया है। दूसरे शब्दों में, ससीम और असीम, शून्य और अशून्य-ब्रह्म और ईश्वर (माया), विषयिगत और विषयगत (subjective and objective) जैसे विरोधी तत्वों को जो धारणा अपने अंदर समेट सकने में समर्थ हो सकी, वही तो परम-तत्व है, ब्रह्म है और अल्लाह है। इस दृष्टि से निरंजन की धारणा में भी दो विपरीत धारणाओं का संगम हुआ है—एक है 'अंजन' की भावना और दूसरी है अंजन से परे (अँजनहीन = निर + अंजन) की धारणा, प्रथम निश्चयात्मक है और दूसरी निषेधात्मक है।

कबीर, दादू आदि संतों ने जहां एक ओर अंजन को निरंजन का ही अंग माना है, दूसरी ओर उसकी सत्ता भी ग्रहण की है, उसकी सत्ता का नितांत तिरोभाव नहीं किया। संत—काव्य में अंजन तत्व इस नाम-रूपात्मक व्यक्त संसार का प्रतीक माना गया है, जो कि निरंजन के परमतत्व का विस्तार एवं विकास है।

> राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
> अंजन उतपतिवों ओंकार, अंजन माड्या सब विस्तार।
> अंजन ब्रह्मा, संकर, इंद, अंजन गोपी संग गोव्यंद ॥[१]

---

१. कबीर-ग्रंथावली—श्यामसुन्दरदास पृ० १९८, ३२६ (१९२८)।

इस अंजन की धारणा में उन सभी तत्वों का समावेश हुआ है, जो किसी 'आधार तत्व' (substance) से विकसित हुये हैं, जिसका क्षेत्र प्रकृतिगत शक्तियाँ (ब्रह्मा आदि) है अथवा दृश्यमान जगत का लीलाप्रसार। इसे हम विषयगत तत्व (objecive Spirit) या ईश्वर की संज्ञा दे सकते हैं। दादू ने भी अंजन का वर्णन इसी प्रकार किया है, उसे माया और छाया की सीमाओं में बाँधा है—

निरंजन अंजन कीन्हा रे, सब आतम चीन्हा रे।
अंजन माया, अंजन काया, अंजन छाया रे।[1]

अतः अंजन निरंजन की छाया हैं—उसका प्रसार।

परन्तु सत्यरूप में, निरंजन क्या है? कबीर के अनुसार—

"सकल निरंजन सकल सरीरा, ता सन सौं मिलि रह्या कबीरा।[2]

निरंजन अकल है, अनादि—सब कुछ है। उसमें समस्त दृश्यमान और अदृश्यमान क्षेत्रों का समाहार है। दूसरी ओर 'उसे' अरूपराशि में व्यक्त रूप भी दिया गया, परन्तु यह व्यक्त रूप निर्गुण ही है—परमतत्व का प्रतिरूपः—

सबद निरंजन रामनाम सांचा[3]

अथवा एकमात्र अल्लाह ही मेरा निरंजन है।[4] एक शब्द में कहें, तो निरंजन उपनिषदों का ब्रह्म-स्वरूप परमतत्व है और उपनिषद में भी ब्रह्म को निरंजन के समान ही माना है—

निष्कल निष्क्रियं शात निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परम सेतु दग्धेन्धनमिवानलम् ॥[5]

---

१. स्वामी दादूदयाल की बानी—स० चंडिकाप्रसाद त्रिपाठी, शब्द १६१, पृ० ४२३।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ६६, ३३ (१६२८)।

३. वही, पृ० १३३, १४१ ,,।

४. वही, पृ० २०२, ३३८ ,,।

५. उद्धृत, निर्गुण-काव्य दर्शन द्वारा श्री सिद्धनाथ तिवारी, पृ० २२।

कबीर ने निरंजन की धारणा को व्यक्त करने के लिये कहीं-कहीं निषेधात्मक प्रणाली का भी सहारा लिया है अथवा 'नेति-नेति' की विधि को ग्रहण किया है। इस तथ्य को हृदयगम न करने से निरंजन की धारणा का पूर्णरूप मुखर नहीं होता है। इस दृष्टि में 'वह' शून्य की दशा का भी द्योतक हो जाता है और इस स्थिति पर निरंजन "आदि सिरंजन" भी हो जाता है। अतः कबीर ने निरंजन का वास वहां बतलाया है, जहां 'शून्य' के अतिरिक्त कुछ नहीं है:—

कहै कबीर जहं बसहुं निरंजन।
तहां कुछ आहि कि सून्यं ।।[1]

दादू ने भी निरंजन को सीमा एवं दृश्यमान जगत से परे बताया है, जहां न गगन हैं, न धाम और न छाया है, वहां न चंद्र एवं सूर्य ही जा सकते हैं और न काल की ही पहुंच है।[2] इसी को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कबीर ने गोविंद और निरंजन की समानता दिखलाते हुये उसे 'नेति-नेति' प्रणाली के द्वारा इस प्रकार वर्णित किया है:—

गोव्यंद तू निरंजन, तू निरंजन राया।
तेरे रूप नहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं काया।
नाद नाही व्यंद नाही, काल नाही काया ।।[3]

इसके अतिरिक्त कबीर ने आदि निरंजन को वहां आनंद करते हुये चित्रित किया है, जहां चंद्र एवं सूर्य का उदय नहीं होता है।[4] दादू ने निरंजन का वास वहाँ बतलाया हैं, जहाँ "सहज सुन्न" की स्थिति है और वहां पर किसी भी गुण की व्याप्ति नहीं है।[5]

अस्तु, निरंजन की धारणा में असीम और ससीम, अपरोक्ष और परोक्ष, निश्चयात्मक एवं निषेधात्मक क्षेत्रों एवं तत्वों का जितना सुन्दर समन्वय संतों की बानियों में प्राप्त होता है, वह किसी भी दशा में ब्रैडले के 'निरपेक्ष तत्व' से, हीगेल

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पृ० १४०, १६४ (१६२८)।
२. स्वामी दादूदयाल की बानी—पद ३५१, पृ० ५०८-५०६।
३. वही, पृ० १६२, २१६ (१६२८)।
४. कबीर ग्रंथावली, पृ० १६६, ३२६ (१६२८)।
५. स्वामी दादूदयाल की बानी—सं० सुधाकर द्विवेदी, पृ० ४२, ५१ (१६०६)।

के निरपेक्ष आत्म-तत्व से और शंकराचार्य के ब्रह्म से कम हृदयस्पर्शी नहीं है। वर्त्तमान विकासवादी दार्शनिक वाइटहेड ने भी ईश्वर की धारणा में विपरीत तथ्यों एवं विचारों का संयोग माना है और उसने इसी को 'आदितत्व' की महानता का, किसी बृहत् धारणा की विशालता का परम द्योतक माना है।[1]

इस तथ्य को सामने रखकर जब हम निरंजन के प्रति भ्रांतियों का विश्लेषण करते हैं तब हमारे सामने सत्य का स्वरूप मुखरित होता है। निरंजन को कालपुरूष के समान मानना, फिर उसे 'शैतान' की पदवी तक पहुँचा देना, उसके सही अर्थ के प्रति अन्याय है। कालपुरूष भी निरंजन का ही प्रतिरूप है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी अपने को 'कालोऽस्मि' की संज्ञा दी है। क्या यह 'कालोऽस्मि' अपने अंदर समस्त ब्रह्मांड को समेटे हुये नहीं है और क्या उसका प्रसार एवं विस्तार विकास-नियमों के अनुसार नहीं है ? यह समस्त विकास परम्परा या सृष्टि, अंत में, फिर उसी काल की कलेवर हो जाती है। अत: सृष्टि एवं प्रलय अन्योंन्यपूरक प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनका मानवीकरण ही यह "कालोंऽस्मि" है। विकास का क्रम सदैव चलता रहता है और दूसरी ओर विनाश की प्रक्रिया भी चलती रहती है—किसी का भी असंतुलित होन 'प्रकृति' की मृत्यु ही है। इसी भावना का प्रतिरूप यह संतों का कालपुरूष है। इसमें अंजन का विकास और फिर उसका तिरोभाव निरंजन में होता है और काल उन्हें गति प्रदान करता है। यहां 'काल' मृत्यु का प्रतीक नहीं है, पर एक तारतम्य एवं गति प्रदान करनेवाला समय का प्रतीक है। कृष्ण के समान ही उसमें प्रलय और सृजन, विकास एवं विनाश का तारतम्य है और काल ही उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट किये हुए है। अतः इस दृष्टि से कालपुरुष को निरंजन का विकृत रुप कहना ठीक नहीं ज्ञात होता है। यह कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि निरंजन के प्रतीकार्थ में 'कालपुरूष' की भावना का भी समावेश है।

निरंजन को "शैतान" की पदवी देना उसके सही प्रतीकात्मक संदर्भ से उदासीनता लक्षित करना है। निरंजन के बारे में यह कहा जाता है "कि 'वह' अपनी माता का पति और पुत्र दोनों है" जो उसे कबीरोत्तर काल में शैतान की संज्ञा प्रदान करता है। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखने की बात है कि संतो की 'बानियों' में अनेक ऐसे कथन एवं प्रसंग हैं, जो अत्यधिक हास्यास्पद एवं अतार्किक है, जो हरेक बात को 'उल्टी' विधि से कहते हैं, ऐसे कथनों को उल्टबाँसी की संज्ञा दी गई है। परंतु क्या हम इन उल्टबाँसियों में वर्णित वस्तुओं एवं जीवधारियों को उसी रुप में ग्रहण करते हैं, जिस रुप में उनका वर्णन किया जाता है ? यदि उनके साथ ऐसा किया

---

१. दे० प्रोसेस एंड रियाल्टी—ए० एम० वाइटहेड, पृ० ५१६-५१८।

जायगा तो यह निश्चित है कि उनका सत्य प्रतीकार्थ ही हृदयंगम न हो सकेगा और उनकी वस्तु-योजना केवल एक वितंडा ही ज्ञात होगी । अंत में इन वर्णनों के कायल होकर उन्हें दगाबाज, फितूरी और 'लम्पट' आदि नामों से सम्बोधित किया जायगा ।

निरंजन को शैतान कहना भी इसी मनोवृत्ति का फल है । कबीर की उलटबासियों में जहाँ एक ओर निराधार बातों की समष्टि है, वही उनके सही अर्थ का ज्ञान हो जाने पर, उनके द्वारा 'नवनीत' सा तत्व भी प्राप्न होता है । वेदांत दर्शन में स्थापित ब्रह्म, माया और ईश्वर के सम्बन्ध का, प्रतीकात्मक रुप ही यह निरंजन का 'शैतान' रुप है । वेदांत तत्व चिंतन में 'ब्रह्म' एक निरपेक्ष सत्ता है, जिसका गुणमय रुप 'ईश्वर है । उसका दूसरा रूप असीम और अरूप का हैं । ईश्वर के रूप में ब्रह्म, भक्ति का विषय है, सीमा और रूप का विषय है और 'ब्रह्म' रूप में ज्ञान का । माया ब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा सृष्टि का कार्य सम्पन्न होता है । सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो माया के दो भेद—विद्या और अविद्या —सत्म और दृश्यमान जगत के अंतर को स्पष्ट करते है । अतः 'ब्रह्म' की धारणा में विकासवाद का एक अत्यंत वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है, जो स्थायित्व एवं परिवर्त्तन, पूर्ण और अपूर्ण (भाग), निरपेक्ष एवं सापेक्ष तथा असीम और ससीम से परे परमतत्व है ।

इस तत्व-दर्शन के प्रकाश में निरंजन को "अपनी माता का पति और पुत्र होने" का विश्लेषण करना आपेक्षित है । प्रथम माता रूप को ही लीजिये । जैसा संकेत किया गया कि ब्रह्म ईश्वर की उत्पत्ति करता है और अपनी शक्ति माया की सहायता से, इस चराचर जगत् की सृष्टि करता है । दूसरे शब्दों में ईश्वर का जन्म माया की साहयता से, ब्रह्म से हुआ है । अतः माया नामक ब्रह्म की शक्ति ही 'ईश्वर' की माता है और ईश्वर उसका पुत्र । इसी तथ्य को कबीर ने निरंजन को अपनी माता का पुत्र कहा है और माया को उसकी माता । अब रही पति की बात । माया की साहयता से ईश्वर इस नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है, अतः ईश्वर माया का पति भी सिद्ध हुआ और, साथ ही साथ उसका (माया) पुत्र भी । इसी प्रकार की एक उक्ति दादू की भी है :—

माता नारी पुरुष की, पुरुष नारि का पूत ।
दादू ज्ञान विचारि कै, छाडि गए अवधूत ।।

अस्तु संसार के सम्बन्धों की वितंडा में, कबीर ने तत्व-रहस्य एवं सृष्टि प्रसार के सिद्धांत को, एक प्रतीकात्मक शैली के द्वारा व्यक्त किया है । इस विश्लेषण से निरंजन शैतान नहीं ज्ञात होता है; पर हां, भौतिक सम्बन्ध के रूप में वह अवश्य वैसा लगता है ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर कबीर के एक पद को उद्धृत कर यह दिखाने की चेष्टा की है कि निरंजन के जाल से स्वयं कबीर ने संतों को बचने की चेतावनी दी है और इसी से, वह हेय है, एन्द्रजालिक है। वह इस प्रकार है—

अवधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग पताल जीव मृत-मंडल, तीन लोक विस्तारा।[1]

परन्तु क्या यह आक्षेप सत्य है ? हम दिखा आये हैं कि निरंजन की यह प्रवृत्ति है कि वह अपनी अंजन शक्ति का विस्तार एवं विकास करें। यही बाह्य विस्तार उसका जाल है, जो कि स्वयं उसकी प्रकृति है। इस विकास नियम को न समझकर निरंजन को इतना निकृष्ट बना देना उचित नहीं ज्ञात होता है। एक प्रकार से ,जाल का प्रसार एक सत्य को ही प्रतीकात्मक विधि से रखता है।

---

१. कबीर—डा० हजारी साद द्विवेदी, पृ० ५६ (१९५३)।

कबीर का लीला—तत्त्व

३

'लीला' शब्द की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और साथ ही उसका अर्थ भी अत्यन्त व्यापक क्षेत्र की व्यंजना करता है। जहाँ तक लीला शब्द के रूढ़ि अर्थ का प्रश्न है. वह सामान्यतः कृष्ण एवं रामलीलाओं से ही ग्रहण किया जाता है। एक प्रकार से 'लीला' को सगुण धारा के व्यक्त वपुधारी परब्रह्म की केलि क्रीड़ाओं का वाचक शब्द माना जाता है, यह दूसरी बात है कि फिर हम उन लीलाओं को तात्विक अर्थ में भी ग्रहण करें। अतः इसे हम सीमित अर्थ ही कहेंगे जो किसी शब्द विशेष को इतना अधिक एक अर्थ में आबद्ध करदें कि वह अन्य अर्थों को अपने अन्दर समेट न सके अथवा उन अर्थों का अपने रूढि अर्थ से उचित समन्वय न कर सके। कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें 'लीला' शब्द के अर्थ में भी प्राप्त होती है। परन्तु सन्तों ने लीला शब्द का प्रयोग इस सगुण अर्थ से परे भी किया है और उसे एक व्यापक अर्थ–समष्टि का द्योतक शब्द भी माना है। अतः निर्गुण काव्य में लीला शब्द को उचित स्थान प्रदान करने में किसी भी प्रकार के मतभेद का प्रश्न उठाना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। किसी शब्द विशेष के लाक्षणिक अर्थ में अनेक अर्थों का समावेश उस शब्द-प्रतीक को एक व्यापकता प्रदान करता है, उसमें नव-जीवन का सञ्चार करता है। यही बात ज्ञान के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी पूर्णतया सत्य है। उदाहरण स्वरूप वैज्ञानिक शब्द-प्रतीकों को लिया जा सकता है जिनकी धारणा में नित नवीन अर्थों एवं तत्वों का समावेश नवीन अनुसंधानों एवं शोधों के आधार पर होता रहता है। परमाणु (Atom) की धारणा में ऐसा हीं ज्ञात होता है। न्यूटन आदि वैज्ञानिकों ने समय और आकाश (Time and Space) को असीम माना था, परन्तु युगों की इस रूढि धारणा में एकाएक परिवर्तन प्रो० आइस्टीन ने किया। उसने अपने जगत-प्रसिद्ध सापेक्षवादी सिद्धान्त के द्वारा, गणित की सहायता से, समय और आकाश को 'ससीम' माना, पर उसे दूसरी और सीमाहीन एवं अपरमित भी ठहराया। इस तात्विक धारणा ने विज्ञान के अनेक प्रतीकों के स्वरूप को, धारणा को परिवर्तित कर दिया।

राम अथवा कृष्ण-भक्त कवियों ने लीला शब्द को ब्रह्म के व्यक्त वपुधारी रूप के ऐसे कार्य-कलापों के अर्थ में ग्रहण किया है जिसकी नित्य लीला इस धरती पर हुआ करती है। सत्य रूप में, यहाँ पर लीला का क्षेत्र व्यक्त है, गुणमय अथवा रूपमय है जिस पर भक्तजन मनन करते हैं और आत्मविभोर हो जाते हैं। उनके हृदय में प्रेमानन्द की लहरें उठने लगती हैं, वे अतिचेतना के क्षेत्र को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु दूसरी ओर सन्तों का लीला तत्व अत्यन्त रहस्यमय है। उसका रूप यदि कहीं पर व्यक्त भी हुआ है, सगुण कवियों की भाँति उसमें कृष्ण गोपी और गोपजनों का वर्णन हुआ है, फिर भी लीला की भावना का वह रूप नहीं है जो कि सगुण भक्त कवियों में प्राप्त होता है। उसमें मनन के स्थान पर चिंतन से उद्‌भूत रूप और अरूप के मिश्रित तात्विक निर्देश हैं। सगुण कवियों की भांति लीला का वर्णन दादू ने इस प्रकार किया है—

घटि घटि गोपी, घटि घटि कान्ह,
घटि घटि राम, अमर अस्थान ।
कुञ्ज केलि तहाँ परम विलास, सब संगी मिली खेले रास ।
तहाँ बिन बैंना बाजे तूर, बिगसै कँबल चंद अरु सूर ॥[1]

यहाँ पर दादू ने कृष्ण, गोपी आदि कुछ नाम सगुण कवियों के समान तो अवश्य लिये हैं, परन्तु उन सबका केलि स्थान पिंड ही है—यहाँ तक कि 'राम' भी उसी में समाहित है। अतः दूसरे शब्दों में लीला की धारणा में योग दर्शन का मूल तत्व 'पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड है' का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। जहाँ पर दादू यह कहते हैं—"तहाँ बिन बैंना बाजे तूर, बिगस कँवल चंद अरुसूर" वहाँ पर तांत्रिक साधना में उत्पन्न 'सहजानन्द' की ही प्रतिध्वनि प्राप्त होती है। इसी प्रकार कबीर ने भी घट में ही लीला विस्तार का वर्णन किया है और उसे आनन्द स्त्रोत माना है—

लीला तेता आहि आनन्द स्वरूपा,
गुन पल्लव विस्तार अनूपा, ।
औ खेलै सब ही घट माहीं,
दूसरि कै लेषै कछु नाहीं ॥[2]

---

१. स्वामी दादूदयाल की बानी, सं० चण्डिकाप्रसाद त्रिपाठी, पद ४०७ पृ० ५२७–५२८।
२. कबीर ग्रन्थावली सं० डा० श्यामसुन्दरदास पृ० २२६/३ (१६२८)।

यहाँ पर लीला का अर्थ सृष्टि-प्रसार भी ध्वनित होता है और यह सृष्टि प्रसार आनन्द स्वरूप है, चिद् स्वरूप है । शैव दर्शन में आनन्द की उत्पति उसी समय मानी जाती है जब मानव व्यापारों और प्रकृति में समरसता का रूप मुखर होता है । इसी समरसता पर आधारित आनन्द तत्व का पुट सन्तों की लीला-भावना में प्राप्त होता है । जहाँ तक आनन्द तत्व का सम्बन्ध है, कृष्ण–भक्त कवियो में भी इसका अत्यन्त उदात्त स्वरूप मिलता है । अत: कबीर आदि संतों ने लीला की भावना में तांत्रिक तत्वों का एक ओर सृष्टि–प्रसार का दूसरी ओर समन्वय करके उसे व्यक्त रूप प्रदान करते हुए भी निर्गुण एवं निराकार लीला का ही अधिक स्पष्ट रूप रखा है । इस कथन का अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण कबीर की इस पंक्ति में मुखर हो गया है जो कि एक सूक्ति-रूप में, समस्त निर्गुण लीला की भावना को हमारे सामने रखता है—

"घट महि खेलै अघट अपार"[1]

अघट रूप परमतत्व की लीला अपार है, नित्य है, वह मानो स्वयं अपने से ही खेलता है । सूफी कवियों ने भी इसी भावना को इस प्रकार रखा—

आपहुं गुरू ओ आपहुं चेला ।
आपहुं सब ओ आप अकेला ।।[2]

यह 'आप' तत्व स्वयं ही अपना विस्तार करता है और फिर स्वयं ही उस विस्तार को समेट लेता है । भगवान श्री कृष्ण ने गीता में अपने को 'कालोऽस्मि' की संज्ञा दी है जिसका प्रतीकार्थ यही है कि समस्त सृष्टि का प्रसार उन्हीं से आवी–र्भूत है और वे ही उसको अपने में समाहित कर लेते हैं । इन सब तात्विक निर्देशों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का लीला तत्व—उसका 'अघट' का 'घट' में विस्तार और फिर उस विस्तार का 'अघट' में विलय—सूफी विचारधारा और यहां तक कि गीता की विचार धारा से साम्य रखता है । इसी विचार की अभिव्यक्ति कबीर ने और भी स्पष्ट शब्दों में की है—

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०३/१३४ ।

२. जायसी ग्रन्थावली, सं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० १०६ पार्वती महेश खंड (१६३५)

इनमें आप आप सबहिन में, आप आपसूँ खेलै।
नाना भांति घ्यंड सब भाँडे, रूप धरै धरि मेलै।।
सोच विचार सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै-
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै।।[1]

इस प्रकार परम तत्व अपने से ही क्रीड़ा करता है, अपनी ही सृष्टि से मोहित होता है और इच्छानुसार उसे रूपांतरित कर लेता है। आधुनिक वैज्ञानिक-दर्शन भी पदार्थ के रूपांतरित होने पर ही जोर देता है पदार्थ के सर्वथा नष्ट हो जाने पर नहीं। परिवर्तन की वैज्ञानिक परिभाषा भी इसी तथ्य पर आश्रित है कि प्राकृतिक घटनाओं एवं वस्तुओं में परिवर्तन होना, तत्वों एवं पदार्थों के इसी अविरल रूपान्तर का फल है। अतः परिवर्त्तन प्रकृति का नियम है। इसी तथ्य की प्रति-ध्वनि "रूप धरै धरि मेलै" के द्वारा ध्वनित होती है। इस नित्य परिवर्तन के पीछे जो शक्ति काम करती है, जो उसे एक निश्चित नियम के द्वारा कार्यान्वित करती है, वही सन्तों का 'अलख' है, 'अघट' है और 'निर्गुण राम' है। यह सब परमतत्व की अपार लीला है, उसका परम रहस्य है। कबीर आदि सन्तों ने लीला के द्वारा सृष्टि की उत्पति, विकास और लय की 'अकथ-कथा' का ही वर्णन किया है। खेलने वाला तो स्वयं अव्यक्त है, पर उसकी लीला तो व्यक्त है। लीला की अकथ-कथा का चित्र दादू ने इस प्रकार प्रस्तुत किया—

कै यहु तुम्हको खेल पियारा,
कै यहु भावै कीन्ह पसारा।
यह सब दादू अकथ कहानी,
कहि समुझावों सारंगपानी।।[2]

कबीर ने भी स्वर में स्वर मिलाया—

लीला अगम कथै को पारा,
बसहुं समीप कि रहौ नियारा।[3]

---

१. कबीर ग्रन्थावली—पृ० १५१/१८६।
२. स्वामी दादूदयाल की बानी—पृ० ४५६, पद २३५।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३०।

कबीर साहित्य में ही नहीं वरन् सन्त–काव्य में ही 'सहज–तत्व' का उनकी सन्धना में विशेष स्थान है। सन्तों का सहज केवल स्वाभाविक और सरल अर्थ का वाचक नहीं है पर 'वह' उनके सम्पूर्ण जीवन–दर्शन एवं तत्व–दर्शन का सार है, 'वह' मध्यम मार्ग का द्योतक है। उनकी सहज समाधि, सहज राम की समाधि, सहज शील एवं सहज 'अनूप तत्त' सब इसी मध्यमा मार्ग के वाचक शब्द हैं। दूसरे शब्दों में सहज परम तत्व का ही रूप है जो हरि या राम का भी परम रूप है। इसी से कबीर में सहज राम की साधना का पूरा स्थान है। इसी 'हरि' की लीला भी सहज रूप है जो हरि या राम का भी परम रूप हैं क्योंकि 'वह' स्वयं ही 'सहज' है, इसी से कबीर ने एक स्थान पर कहा—"सहज रूप हरि खेलन लागा' अतएव संतों का लीला तत्व सहज रूप है, इसीसे उनकी लीला को 'सहज–लीला' कहना अधिक उपयुक्त होगा जिसमें भक्ति, योग, सूफी प्रेम भावना और सृष्टि विषयक मान्यताओं का सुन्दर समन्वय हुआ है।

१. वही—पृष्ठ १५७–२००।

सूफीमत के प्रमुख प्रेममूलक प्रतीक एवं जायसी

४
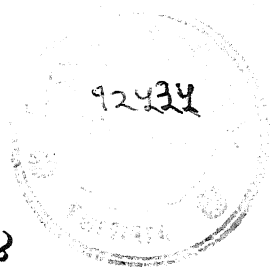
सूफी प्रतीकों की आधारभूमि, सामान्यतः प्रतिबिंबवाद एवं ईस्लामी एकेश्वरवाद है। इसके अतिरिक्त इनके प्रतीकों में वेदांत-दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। कुछ तो उनके ऐसे साधनापरक प्रतीक हैं जो निजी उनके हैं, पर उनका कोई न कोई रूप भारतीय दर्शन में भी प्राप्त होता है यथा मुकामात, अवस्थायें, अल्लाह की धारणा, कुन, फना (मोक्ष) आदि। दूसरे प्रकार के प्रतीक शुद्ध इस्लामी हैं (सूफीं) जिनका सीधा सम्बंध ईरान आदि देशों से है, जैसे नूर, साकी, शराब आदि जिनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

सूफियों का परमतत्प सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जिसे दार्शनिक भाषा में सर्वात्मवाद कहते हैं।[२] यही उपनिषदों का अद्वैत दर्शन है जो सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, सबसे एकात्मभाव की अनुभूति करता है। अतः परमतत्व अल्लाह ब्रह्मांड से परे भी है और उसके साथ भी है, कुरान और सूफी दोनों बिचारधाराओं में ईश्वर की जगत्लीनता (Immanence) का समान महत्व है।[2] जब हम एकेश्वरवाद का विश्लेषण करते हैं तो उसमें भी सृष्टि का महान देवता 'शून्य' से अपना विस्तार करता है और वही पालन तथा संहार करता है। अतः यदि एकेम्वरवाद में ईश्वर जगत में "पृथक्" हैं तो प्रतिबिंबवाद में वह जगत से "परे" है और साथ ही उसमें व्याप्त भी। मेरे विचार से सूफी काव्य के अधिकांश प्रतीक इन दोनों सिद्धांतों के समन्वय पर आश्रित है और यही कारण है कि सूफी प्रतीकों में भारतीय अद्वैत-दर्शन का भी तिलतंदुल रूप प्राप्त होता है। अतः सूफियों का प्रतिबिंबवाद, एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद सभी सिद्धांत अद्वैत-भावना पर ही

---

१. सूफी काव्य संग्रह, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०

२. स्टेडीज इन तसव्वुफ, द्वारा खाजा खान. पृ० १७

आश्रित हैं और यही कारण है कि सूफीयों का रहस्यवाद इन सब तत्वों की मिलीजुली अभिव्यक्ति है। इस प्रवृत्ति में ईरानी रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी योग है। प्रेम भाव की प्रगाढ़ अनुभूति के कारण इस रहस्यवादी परम्परा में सूफी साकी, शराब और प्याले का भी समुचित स्थान है। इन प्रतीकों की धारणा में भावात्मक तथा साधनात्मक तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इन प्रतीकों का प्रयोग प्रेमी-साधना की अभिव्यक्ति में उस तत्व-चिंतन का प्रतिरूप है जिसमें प्रेमी-साधक और प्रेमपात्र-साध्य का तात्विक सम्बंध दृष्टिगत होता है। वह प्रेम-साधना 'रति' तथा 'काम' पर ही आश्रित है जो माधुर्यपूर्ण है। इसी कारण से, सूफियों के आलम्बन प्राय: किशोर ही होते हैं क्योंकि रति का जितना मोहक एवं उल्लासपूर्ण सम्बंध किशोरावस्था या यौवनावस्था से हो सकता है, उतना कदाचित् अन्य अवस्थाओं से सम्भव नहीं है। माशूका एवं साकी पर्यायवाची शब्द-प्रतीक है जो सूफी प्रेमपरक साधना में 'रति' (आध्यात्मपरक) के आलंबन होने के कारण परमात्मा या खुदा के प्रतीक माने गए हैं। हिन्दी सूफी काव्य में साकी का वर्णन अपरोक्ष रूप से ही गृहीत हुआ है, उसका अन्तर्भाव कवियों ने 'प्रेमिका' के स्वरूप में ही सुन्दरता से किया है। जब माशूका (साकी) प्रतीक है तब उसके अंग-प्रत्यंग भी प्रतीकात्मक-अर्थ के द्योतक माने गए। जिन सूफी-कवियों ने भारतीय कथानकों को लिया है, उन्होंने नायिका के नख-शिख अंग-अंग को लोकोत्तर अर्थ देने का भरसक प्रयत्न किया है। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्होंने भारतीय नामधारी नायिकाओं को फारस के साकी या माशूका के रूप में चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है।

साकी का अर्थ है 'मैं' (शराब) का पिलाना। यह 'मैं' एक तात्विक अर्थ की ओर संकेत करता है जिसका प्रतीकार्थ उल्लास है, अमृत है।[1] भारतीय शब्द जो उसका 'पर्याय' माना जा सकता है, वह सोम है जो अमरता या अमृत का प्रतीक है। यह 'मैं' ही वह माध्यम है जिसके द्वारा साधक और साध्य, परमात्मा और आत्मा में सम्बंध स्थापित होता है, वह 'शराब' के द्वारा ही अतीन्द्रिय जगत में पहुँच जाता है और अपने 'परमप्रिय' से एकात्म भाव की अनुभूति करता है। साधक या प्रेमी इस आनदांनुभूति में एक प्रकार से 'फना' की दशा में पहुँच जाता है। सूफियों ने ईश्वर के चार गुण माने हैं—जात, जलाल, जमाल और कमाल जो क्रमश: शक्ति, ऐश्वर्य, माधुर्य एवं अद्भूत के रूप हैं। इन चार गुणों में से साकी

---

१. तसव्वुफ और सूफी मत, द्वारा चंद्रबली पांडेय पृ० १०७

जमाल का प्रकटीकरण है जो साधक को सुरा के द्वारा अनुभूतिजन्य होती है। इसी माधुर्य भाव से ऐश्वर्य तथा रहस्य-भावना का भी स्वरूप मुखर होता है।

यह साकी, मैं और प्याला—सूफी साधना के आधार स्तम्भ है। हिन्दी के सूफी कवियों ने इन्हें ग्रहण तो अवश्य किया है, पर उनके काव्य में नवल ये ही वस्तुएँ नहीं हैं—इसके अतिरिक्त उनमें और कुछ भी है। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सूफी का एकमात्र ध्येय अपने काव्य को प्रियतमा, शराब और प्याले से ही आवद्ध करना नहीं था वरन् अपने काव्य को जीवन और जगत के कठोर सत्य पर भी आश्रित करना था जो भारतीय महाकाव्यों की प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण है कि सूफी काव्य में इन प्रतीकों का प्रयोग प्रसंगवश हुआ है, उनका वहाँ पर स्थान तो है पर एकक्षत्र साम्राज्य नही है जैसा कि हमें उमर खैयाम, अत्तार, हाली में प्राप्त होता है।

जायसी ने अपने काव्य में नायिका को प्रियतमा का रूप दिया है। पद्मावती को प्रियतमा के रूप में चित्रित करते हुए, रत्नसेन के समागम पर, कवि ने "मिलन-शराव" का जिक्र किया है—

विनय करहिं पद्मावति बाला।
सुधि न सुराही पियऊँ पियाला॥[1]

इस कथन में सुरा का संकेत तो अवश्य है, पर साकी का रूप नितांत, भारतीय प्रभाव के कारण पृष्ठभूमि में चला गया है। फारस आदि देशों की साकी कभी विनय नहीं करती है, परन्तु जायसी ने भारतीय प्रभाव के कारण नायिका को भी नायक के समान प्रेम-विह्वल दिखाया है। यह जायसी की समन्वकारी प्रवृति का फल है।

आनंद का 'रस' पीना ही मिलन के समय ध्येय होता है, तभी साधक का मन, उसकी इन्द्रियों तथा आत्मा एकात्म भाव का आनंद प्राप्त करती हैं। तभी तो नूर मोहम्मद ने कहा है—

दे मदिरा भर प्याला पीवौं।
होइ मतवार कांथर सीवौं॥[2]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पद्मावती रत्नसेत भेंट खण्ड, पृ० १६०
२. इंद्रावती, द्वारा नूरमोहम्मद, पृ० २२, स्वप्न खण्ड

साधक का बस यही लक्ष्य है कि उसे एक भरा हुआ शराब का प्याला मिल जाय तो उसका मानस जगत प्रियतम के चरणों पर लोटने लगे—

एक पियाला भरि भरि दीजै।
झेल पियारि मानस लीजै ॥[१]

यही भावना जायसी में भी प्राप्त होती है जब वह केवल मात्र सुरापान की इच्छा करता है—देनेवाले के स्वरूप से उसे सरोकार नहीं है—

प्रेम-सरा सोइ पै पिया। लखै न कोई कि काहू दिया ॥[२]

साधक की केवल यही इच्छा है कि उसके रोम-रोम में यह शराब इस तरह व्याप्त हो जाय कि उसे बार-बार माँगने की भी आवश्यकता न पड़े।[३] इसी प्रकार नूर मोहम्मद ने इस प्रेम-सुरा को रात और दिवस पीने की बात कही है जिससे मन बलवान् हो जाय।[४]तथ्य तो यह है कि मानसिक दृढ़ता के बिना साधक प्रियतम के निकट पहुँच ही नहीं सकता है, इसी सत्य को ध्यान में रखकर नूर मोहम्मद ने "मन के बलवान" होने की ओर संकेत किया है।

इस प्रेम-मदिरा का संकेत रूमी ने भी किया है। वह कहता है—"मैं प्रेम की मदिरा पान कर मदमस्त हो गया हूँ। दोनों जहाँ को त्याग चुका हूँ।"[५] इसी मदिरा को पीकर जीवात्मा परमात्मा के महाअस्तित्व से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसी भाव को विदेशी सूफी कवि शब्सतरी ने इस प्रकार व्यंजित किया है—"तू यह मदिरा पी जिससे अहंकार को भूल जाय और समझने लगे कि एक बूँद का अस्तित्व उस महा सागर के अस्तित्व से संबंध रखता है।"[६] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट भासित होता है कि हिंदी सूफी कवियों के भावों में कितना साम्य है? परन्तु इस साम्य के होते हुए भी सुरा का एक अन्य अर्थ भी हिंदी में प्राप्त होता है जो बिप्रलंभ शृंगार से सम्बंध रखता है, जो कदाचित् विदेशी कवियों में नहीं प्राप्त होता है—

---

१. वही, पाती खंड, पृ० ७८
२. जायसी ग्रन्थावली, रत्नसेन पद्मावती भेंट खण्ड, पृ० १६०
३. वही, पृ० १६१
४. इंद्रावती, मानिक खण्ड, पृ० १३६
५. ईरान के सूफी कवि, सं० बाँकेबिहारीलाल, पृ० १८८
६. वही, पृ० २६०

बहुत बियोग सुरा मैं पीया ।
संयोगी मद चाहत हीया ।।[१]

इसी प्रकार जायसी ने सुरा का प्रयोग एक अत्यंत रहस्यमय रूप में किया है। उसने सात समुद्रों के वर्णन-प्रसंग में सुरा-समुद्र का भी संकेत किया है— "इसको पान करनेवाला व्यक्ति "भाँवरि" लेने लगता है" इस कथन के द्वारा उसने सुरा को एक मुकाम का ही रूप प्रदान कर दिया है। जैसा कि प्रथम संकेत हो चुका है कि शराब का महत्व इसी में है कि वह आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी को कम करती है अथवा दोनों को मिलाती हुँ, उसी प्रकार सुरा समुद्र भी मुकाभातों में वह मुकाम है जिसे पार करने पर साधक "प्रियसाध्य" से मिलनानंद की दशा तक पहुँचता है। **अतः इन सब प्रयोगों के आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिंदी के सूफी कवि जायसी ने (अन्यों ने भी "सुरापान" के प्रचलित तात्विक अर्थ में अन्य अर्थों का भी समन्वय किया है, परंतु यह समन्वय इतना सूक्ष्म है, इतना अपरोक्ष है कि धरातल पर दृष्टिगत नहीं होता है।**

साकी का सुरा से अन्योन्य सम्बंध है। हिंदी सूफी कवियों ने अपनी नायिकाओं—पद्मावती तथा इन्द्रावती आदि—को उसी की भावभंगिमा में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी, सूफी कवियों ने उनकी भावना में (जायसी में) समानताओं के अतिरिक्त अनेक नव तत्वों का भी समाहार किया है। जहाँ तक विदेशी सूफी कवियों का प्रश्न है, उसमें भी प्रिया का रूप अत्यंत मुखर है जो उसके प्रतीक रूप की ओर संकेत करता है। जायसी में और विदेशी सूफी कवियों में सबसे बड़ी समानता यही है कि दोनों धाराओं में 'प्रियतमा' का स्वरूप मूलतः रतिपरक है अथवा अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो उनका रूप अनुभूतिपरक है जिसमें तत्व और रूप content and form का सुन्दर समन्यव प्राप्त होता है। दूसरी प्रमुख समानता जो दोनों धाराओं में प्राप्त होती है, वह है नायिकाओं के नख-शिख एवं विभिन्न अंगों कों लोकोत्तर रूप प्रदान करना। इस दिशा में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सूफी कवियों ने ईरान तथा फारस के कवियों की परम्परा को यथोचित रूप से ग्रहण किया है। उदाहरण स्वरूप केश को ले सकते हैं। सूफी मान्यतानुसार प्रियतमा के केश माया के प्रतीक हैं—इस तथ्य की प्रतिध्वनि जायसी ने पद्मावती के रूप-वर्णन प्रसंग में इस प्रकार की है :—

---

१. इंद्रावती, पृ० १७६

२. जा० ग्रं०, सात समुद्र खण्ड, पृ० ७६

बेनी छोरि झारि जो बारा ।
सरग पतार होई अंधियारा ।।[1]

यह माया का ही अंधकार है जो स्वर्ग तथा पाताल सर्वत्र व्याप्त है । इससे भी स्पष्ट संकेत एक स्थान पर प्राप्त होता है—

ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा ।
नागिन झांपि लीन्ह चहुं पासा ।।
ओनई घटा परी जग छाहां ।
ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां ।।[2]

माया के इस छांह का क्षेत्र कितना विस्तृत है, इसकी व्यंजना इस प्रकार की गई है—

अस फँदवार केस कै परा सीस गिउँ फाँद ।
अस्टो कुटी नाग सब अरुझि केस के बांद ।।[3]

इसी भाव का संकेत नूर मोहम्मद ने भी इन्द्रावती के सौंदर्य-वर्णन में सखियों के द्वारा करवाया है—

एक कहा लट नागिन कारी ।
डसा गरल सो गिरा धिखारी ।।[4]

इन सभी उदाहरणों में केश के प्रतीकार्थ की ओर संकेत प्राप्त होता है एवं संसार पर उसके एकमात्र प्रभुत्व का भी संकेत मिलता है । विदेशी सूफी कवि हाफिज ने भी केश का वर्णन इसी अर्थ में किया है—

---

१. जा० ग्रं० नखसिख वर्णन, खण्ड, पृ० ४६
२. वही, मानसरोदक खण्ड, पृ० २८
२. वहीं, नखशिख खंड, पृ० ४७
४. इंद्रावती, कुलवारी खंड, पृ० ६०

"तेरी काली अलकों के जाल में यह हृदय जाकर अपने आप फँस गया।"[१]

इससे भी स्पष्ट रूप एक अन्य स्थान पर प्रकट हुआ है—

"अपने मुख पर से अलकों को हटा ले जिससे तेरें रूप-सुधा को पीकर संसार चकित हो जाय और प्रेम से मतवाला हो जाय। तुम्हारी प्रत्येक लट में पचास-पचास फंदे पड़े हुए हैं। भला यह टूटा हुआ हृदय उनसे किस प्रकार जीत सकता है।[२]

इन सब प्रतीकात्मक संदर्भों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी तथा अन्य कवियों में प्रियतमा का रूप विदेशी कवियों की भाँति व्यक्तिगत नहीं है। जायसी ने जैसे केश-वर्णन के द्वारा व्यक्तिगत रूप के साथ-साथ उस विस्तृत क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत की है जो समस्त चराचर प्रकृति को 'केश' की सापेक्षता में अत्यंत मुखर कर देता है। यह बात केवल केश के बारे में ही सत्य नहीं हैं, पर अन्य अंगों के वर्णन में इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है—

चतुरवेद मत सब ओहि पाँही।
रिजु, जसु, सांम अथर तन माही ।।
एक एक बोल अरथ चौगुना।
इन्द्र मोह, ब्रह्मा सिर धुना ।।
अमर भागवत पिंगल गीता।
अरथि बूझि पंडित नहिं जीता ।।[३]

यहाँ पर मानो साकी का पूर्ण भारतीयकरण कर दिया गया है और उसे एक तात्विक रूप में व्यंजित किया गया है। तात्विक दृष्टि से, परम तत्व से ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है जिनका एक एक शब्द अनेक अर्थों का व्यंजक है। यह तो हुआ प्रियतमा की वाणी का विस्तृत प्रतिकार्य। इसी प्रकार दंतपंक्ति पर जायसी का कथन लोकोत्तर अनुभूति को अत्यंत स्पष्ट रूप प्रदान करता है—

रवि ससि नखत दिहहि ओहि जोति।
रतन पदारथ मानिक मोती ।।[४]

---

१. ईरान के सूफी कवि, पृ० ३२२
२. वही, पृ० ३४८–३४६
३. जायसी ग्रन्थावली, नखसिख खंड, पृ० ५०
४. जायसी ग्रन्थावली, नखशिख खंड, पृ० ५०

इसी तरह की उक्ति बरुनी पर भी है जो प्रतीक रूप को स्पष्ट करती है, कि उस प्रियतमा के दृष्टि-वाणों से सारा संसार बिंधा हुआ है; दूसरे शब्दों में प्रिया का 'नूर' समस्त जगत में व्याप्त है।

ओहि बानन्ह अस को जो न
बेधि रहा सगरौ संसारा ।।[१]

इन सब उदाहरणों से स्वयं सिद्ध है कि सूफी कवि जायसी ने किस प्रकार भारतीय प्रियतमा में साकी के तत्वों का समन्वय किया है। मानसिक क्रियाओं में जहाँ एक ओर विश्लेषण की प्रवृत्ति होती है, वहीं पर विश्लेषित तत्वों में समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इस विश्लेषण एवं समन्वय में चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का समान महत्व रहता है। साकी या प्रिया की धारणा में मानसिक क्रियाओं की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर जायसी आदि में इस मानसिक क्रिया की अभिव्यंजना आध्यात्मपरक हो गई है। अतः सूफी काव्य में साकी का नायिका रूप (प्रियतमा), तात्विक दृष्टि से, आध्यात्मिक मनोविज्ञान का सुन्दर विकास कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सूफी काव्य में नायिका की भावना में अनेक नवमूल्यों का भी समहार प्राप्त होता है। यह समाहार या तो परिस्थितिजन्य या कथा-रूपक के कारण है। विदेशी सूफी कवियों ने प्रियतमा को अधिकतर एकांतिक रूप में ही चित्रित किया है, परंतु जायसी आदि ने उसे जनजीवन एवं समाज की सापेक्षता में चित्रांकन किया है। इसी से, इन्द्रावती तथा पद्मावती का स्वरूप अधिक व्यापक अर्थ-समष्टि का द्योतक है। सूफी मान्यतानुसार प्रियतमा एक ऐसा व्यक्तित्व है जो प्रेमी को अपनी ओर प्रत्यक्ष रूप से आकृष्ट करती है, परंतु 'वह' स्वयं उसकी ओर आकर्षित नहीं होती है। इसी प्रकार, केवलमात्र जीवात्मा ही 'उसके' विरह एवं प्रेम में तड़पता है, पूर्वराग की ज्वाला से दग्ध होता है, परन्तु प्रियतमा की ओर से ऐसी चेष्टाओं का अभाव रहता है। इस कमी को सूफी भारतीय कवियों ने भारतीय प्रभाव के फलस्वरूप पूरी की। उन्होंने दोनों ओर के प्रेम को, विरह को समान महत्व दिया है। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है, उन्होंने अपनी नायिकाओं के द्वारा दो छोरों को एक सरल रेखा में लाने का सफल प्रयत्न किया है। 'पद्मावती'

---

१. वही, पृ० ४६

में जहाँ एक ओर प्रेम-भावना का सुन्दर विकास प्राप्त होता है, वहीं उसमें कर्म-भावना की सुन्दर परिणति है। वह अलाउद्दीन के आक्रमण के समय अपने कर्त्तव्य का निश्चय करती है अथवा राजा रत्नसेन के बंदी हो जाने पर अपने नारीत्व का कर्मप्रधान एवं सतीप्रधान परिचय भी देती है। जो आलोचक यह मत रखते हैं कि जब रत्नसेन तथा पद्मावती का मिलन हो गया तब प्रतीकात्मक दृष्टि से कथा का अंत हो जाना चाहिये था—कथा का उत्तरार्ध किसी भी प्रतीकात्मक संदर्भ को पूरा नहीं करता हैं। उनके इस मत का उत्तर यहां स्वयं प्राप्त हो जाता हैं। जायसी आदि ने अपनी नायिकाओं में पूर्ण भारतीय नारीत्व के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कदाचित् इसी हेतु उन्हें कथा के उत्तरार्ध को बढ़ाना पड़ा है। इस विस्तार के मूल में यही तथ्य भासित होता है कि प्रियतमा का एकांतिक रूप भारतीय विचारधारा के प्रतिकूल है, उसे कर्त्तव्यप्रधान रूप में, मानवीय भावनाओं, क्रियाओं एवं संवेदनाओं के संदर्भ में दिखाना भी अपेक्षित है। ठीक है कि आध्यात्मिक मिलन हो गया, और यहाँ पर 'सब कुछ' समाप्त हो गया। परन्तु क्या जीवात्मा परमपद तक पहुँच कर, माया और संसार आदि के प्रलोभनों में फँस कर, फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती है? यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है जिसकी ओर स्वयं कवि ने ग्रंथ के अंत में अपने अन्योक्ति-कोष में संकेत किया है। मान वहाँ पर रत्नसेन है, बुद्धि पद्मावती है, अलाउद्दीन माया और चेतन शैतान के प्रतीक है।[1] मन अत्यन्त चंचल होता है, वह स्थिर होकर भी फिर चलायमान हो जाता है। क्या विश्वामित्र का मन समाधि में स्मितप्रज्ञ होकर भी, अप्सरा के मनोमोहक वाह्य प्रभावों के द्वारा अपने उच्च स्थान से डिग नहीं गया था? यही हाल रत्नसेन का भी हुआ, वह बुद्धिरूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी, वाह्य प्रलोभलों के कारण (अलाउद्दीन तथा राघव चेतन) माया के जाल में फँस कर अपना अधःपतन कर लिया। ऐसा ज्ञात होता है 'पद्मावत' का उत्तरार्ध इसी मानसिक अधःपतन की करुण कथा है जहां मन ऊर्ध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो जाता है? यह उत्तरार्ध मन की चलायमान प्रकृति के प्रति साधक को ही नहीं, पर संसार के मनुष्यों को भी चेतावनी देता है। जब मन इस प्रकार अधोगति को प्राप्त हो जाय तब बुद्धि की क्या दशा होगी? मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि मन से सूक्ष्म है जो 'मन' को अधिकार में रखती है जब मन निरोधात्मक दशा में हो। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है कि पदार्थ से इंद्रिया सूक्ष्म है, इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है और जो बुद्धि से

---

१. जा० ग्रं० उपसंहार पृ० ३४१

भी महान या सूक्ष्म है, वह 'आत्मा' है।[1] यदि बुद्धि की बागडोर ढ़ीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से मुक्त हो जाय तो वह क्रमशः वाह्य वासानाओं एवं प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को ही खो देता है। तब निदान बुद्धि भी हताश होकर किश्चेष्ट हो जाती है। एक प्रकार से मानव-बुद्धि मरणप्राय हो जाती है। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा 'पद्मावत' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीन दशा उस समय साकार हो उठती है जब वह स्वयं अग्नि की लपटों में समा जाती है।' पद्मावत' की पूर्ण कथा को ध्यान में रखकर [मन—रत्नसेन; बुद्धि —पद्मावती जायसी के दिये कोषानुसार] यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन और पद्मावती के परस्पर विकास और उन दोनों की अन्योन्य अधोगति की करूण कथा ही यह काव्य है जहां मानवीय चेतना में बुद्धि तथा मन का अन्योन्य संबंध-उनका विकास और फिर उनका करुणामय अध:पतन क्रमिक रूप में दिखया गया है। मेरे विचार से जायसी ने अपनी 'प्रियतमा' को एक साथ इतने विस्तृत क्षेत्र का वाहक बनाकर, उसे जहाँ एक ओर आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों का समष्टि रूप में चित्रांकन किया है, वहीं उसकी धारणा में मानव-जीवन के कर्त्तव्यप्रधान रूप का और ऐतिहासिकता का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है।

---

१. श्रीमद्‌भगवद्‌गी कर्मयोग, पृ० १३२, श्योक ४२

क्या 'पद्मावत' का कोश प्रक्षिप्त है ? एक विश्लेषण | ५

पद्मावत के कवि ने कथा काव्य के अंत में जो कोश दिया है, वह अनेक आलोचकों तथा भाषा-वैज्ञानिकों के द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। डॉ० माताप्रसाद तथा डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ ने इस कोश को निरर्थक एवं कवि रचित नहीं माना है। डॉ कमलकुलश्रेष्ठ का मत है कि मन के दो प्रतीक है रत्नसेन और सिंहल तथा माया के तीन प्रतीक है—नागमती, अलाउद्दीन और राघव-चेतन। अतः कथा के पात्रों के और इस कोश में दिये गये। पात्रों में काफी अंतर दृष्टिगत होता है जो कोश को बरबस प्रक्षिप्त तथा निरर्थक ही घोषित करता है।"[1]

कोष में दिए गए पात्रों के प्रतीकार्थ संकेत इस प्रकार है—

"चित्तौड़ तन का प्रतीक है जिसका राजा रत्नसेन मन है। सिंघल हृदय है, पद्मावती बुद्धि है, नागमती दुनिया धंधा है, सुआ गुरू है और राघव तथा अलाउद्दीन क्रमशः शैतान और माया के प्रतीक हैं[2]।", अब देखना है कि कवि ने अपनी कथा के माध्मयम से इस कोश का कहां तक पालन किया है। मेरा विवेचन इसी आधार पर आश्रित है और जिसके विवेचन में मैने मनोवैज्ञानिक तथा अध्यात्मिक भावभूमियों का आश्रय लिया है।

पद्मावत् के पात्रों के प्रतिकार्थ के लिए अध्यात्म तथा मनोविज्ञान दोनों दृष्टियों से देखना आवश्यक है। यह तथ्य प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कोष ही से प्रकट होता

---

१. जायसी ग्रन्थावली, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका, पृ० १३ तथा मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा डा० कमल कुलश्रेष्ठ, पृ० ९८

२. जायसी ग्रन्थावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, उपसंहार, ३४१

है। उसमें चित्तौड़, सिंघल, रत्नसेन और पद्मावती मानव मन तथा शरीर से ही सम्बन्धित हैं। नागमती, राघव तथा अलाउद्दीन भौतिक जगत से सम्बन्धित हैं जो मानव मन तथा बुद्धि के मार्ग में व्यवधान रूपमें आते हैं। स्वयं जायसी ने "उपसंहार" के अन्तर्गत ये पंक्तियां प्रारंभ में ही कहीं हैं जो सारी कथा को शरीरान्तर्गत ही संकेत करती हैं—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं ।।[१]

इस प्रकार जायसी ने मानव शरीर तथा उसके बाहर की शक्तियों का अन्योन्य संघर्ष ही उपस्थित किया है। मन या रत्नसेन, मानसिक त्रियाओं की क्रमिक अवस्थाओं से होता हुआ बौद्धिक क्षेत्र (पद्मावती) में पहुंचने में समर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, यही मानसिक आरोहण है जो क्रमशः बुद्धि तथा आत्मा का साक्षात्कार करता है यहां पर हमें भारतीय आध्यात्मिक मनोविज्ञान का स्वरूप प्राप्त होता है। इसके अनुसार इन्द्रियों तथा मानसिक क्रियाओं से भी उच्चस्तर है जिसकी ओर मानव मन आरोहण करता है[२]। इसी की प्रतिध्वनीप्रसिद्ध विकासवादी वैज्ञानिक चिंतक ली कॉम्टे डूं नूं (Lecomte du' Nouy) के इस मत में भी प्राप्त होती है कि मानव का भावी विकास भौतिक अथवा शारीरिक क्षेत्र में न होकर मानसिक तथा नैतिक क्षेत्र में होगा क्योंकि वह शारीरिक क्षेत्र में अन्य स्तनधारियों (Mammals) से सबसे अधिक विकसित है।[३] गीता में इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान के प्रति स्पष्ट संकेत है जो मेरे इस सम्पूर्ण विवेचन का आधार भी हैं। वहाँ कहा गया हैं कि "इंद्रियो से महान् पदार्थ है, मन इन दोनों से उच्च है, बुद्धि मन से उच्च है और जो बुद्धि से भी सूक्ष्म है, वह आत्मा है।"[४]

अतः मानसिक जगत अनुभव ही क्रमशः उच्च स्तर (आरोहण) में अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेता है इस अभियान में मन (रत्नसेन) के सम्मुख तीन व्यावधान आते हैं, प्रथम नागमती तथा उसके बाद राघव और अलाउद्दीन। कवि ने यह अद्‌भुत योजना सोद्देश्य की है जिसका विवेचन अपेक्षित है।

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३४१
२. हिंदू साइक्लाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द, पृ० ७०
३. ह्यूमन डेस्टनी द्वारा ली कॉम्टे डूं नूं, पृ० ७८-८०
४. गीता, कर्मयोग, श्लोक ४२, पृ० १३२

कवि ने नागमती को गोरखधंधा का प्रतीक माना है। कवि ने उसे कहीं पर भी मन (रत्नसेन) के प्रयत्नों में बाधक चित्रित नहीं किया है जिस प्रकार राघव तथा अलाउद्दीन को। इसका प्रमुख कारण तीनों पात्रों की धारणा का सूक्ष्म अंतर है नागमती तो रत्नसेन की पहिलबियाही" पत्नी है, वह तो मन का एक अभिन्न अंग हैं। लौकिक क्षेत्र में वह संसार -चक्र का प्रतीक है जो मन के साथ प्रारम्भ से लगी हुई है। अतः रत्नसेन से उसका जो भी संबंध कवि को मान्य है, वह संसार सापेक्ष है। जीव के लिए संसार का रूप हेय तथा व्यर्थ नहीं हैं क्योंकि उसी की आधारशिला पर वह अनुभव तथा ज्ञान का अर्जन करता है। इस दृष्टि से नागमती मन की एक प्रवृत्ति है जो प्रवृत्तिमूलक है। स्वयं कवि ने इस तथ्य का स्पष्ट संकेत किया हैं और उसका पद्मावतीं से सापेक्ष महत्व प्रदर्शित किया है—

धूप छाँह दोउ पीय कै संगा।
दूनो मिल रहहिं इक संगा।।
गंग जमुन कुग नारि दोउ, लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करौ मिलि दूनौ, तो मानहुं सुख-भोग।।[1]

यही कारण है कि कवि ने नागमती को एक आदर्श नारी का रूप दिया है क्योंकि मानसिक उत्थान के लिये निम्न मानसिक स्तर एंव बाह्य जगत (नागमती के उन्नयन का आध्यात्मिक महत्व है न कि उसके तिरोभाव का। उपनिषद की शब्दावली में कहे तो नागमती प्राण की प्रतीक है जो इंद्रियों के संघात् रूप का शब्द है प्राण में ही समस्त इंद्रिय-क्रियाओं का संयमन होता हैं, अतः मन ही प्राण है। इसीसे प्राणमय कोष के बाद मनोमय कोष को स्थान दिया गया है मेरे विचार से, कवि ने नागमती को जो गोरखधंधा कहा हैं उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य यही है।

अब रहा माया और शैतोंन का पक्ष। मिनन के पूर्ण न होने में अलाउद्दीन तथा राघव दोनों का क्रियात्मक योग है। सत्य में "मन" और "बुद्धि" (आत्मा, परमात्मा) के मिलन के बाद इन शक्तियों का क्रियात्मक रूप हमारे सामने आता है। यहाँ पर शैतान का रूप सामी परम्परा से गृहीत हुआ है। सामी परम्परा में शैतान ईश्वर का अंश है जो आदम और हौवा को स्वर्ग से च्युत करता हैं। यहाँ पर राघव पद्मावती तथा रत्नसेन के मिलन हो जाने के बाद, शैतान की भाँति, उनमें पार्थक्य का

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पृ० २२५, नागमती पद्मावती भेंट खंड

१. वृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २, पृ० ४५७ (गीत प्रेस, उप० भाष्य)

बीज डालने की कोशिश करता हैं। राघव, शैतान का वह रूप हैं जिसे कवि ने इन शब्दों के द्वारा शैतान ही कहा हैं, जो अप्रत्क्ष है—

तू चेतन औरहि समुझावै।
चेतन तो कह को समुझावै।[१]

"पद्मावती" में शैतान को 'माया' का पूरक माना गया है क्योंकि वह अलाउद्दीन के कार्य को, एक प्रकार से पूरा करने में सहायता प्रदान करता है। यहां हम कह सकते हैं कि अलाउद्दीन (माया) का क्रियात्मक रूप यह राघव चेतन (शैतान) है। अतः कवि ने इन दोनों पात्रों के द्वारा एक अत्यंत सूक्ष्म अंतर हमारे सामने रखा है जो सामी परम्परा की भारतीय परिणति है। अतः ये तीनों पात्र (नागमती, राघव, अलाउद्दीन) माया के प्रतीक नहीं हैं, वरन् उनका प्रतिकार्थ अपने में स्वतंत्र अर्थ की अवतारणा करता है।

कथा के उत्तरार्ध का विस्तार भी कवि ने साभिप्राय किया है और वह भी मन तथा बुद्धि के अन्योन्य संबंध को समक्ष रखने के लिए। आलोचकों के अनुसार यह उत्तरार्ध का अंश विस्तार व्यर्थ है क्योंकि आध्यात्मिक प्रतीक की दृष्टि से, कथा का अन्त मिलन के बाद ही हो जाना चाहिए था। ठीक है आध्यात्मिक मिलन हो गया और यहाँ पर "सब" कुछ समाप्त हो गया। परन्तु क्या मन या जीवात्मा "परम पद" तक पहुंचकर, माया और संसार तथा शैतानादि के प्रलोभनों में फंस कर, फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती हैं? यहाँ पर मनोंवैज्ञानिक दृष्ढि से देखना आवश्यक है। मन अत्यंत चंचल होता है। यदि वह एक बार स्थित प्रज्ञ हो भी गया, तो विश्वामित्र की भाँति, अप्सरा के मनमोहक प्रभाव के कारण, फिर डिग भी सकता है। वह बुद्धि रूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी वाह्य प्रलोभनों के कारण, फिर माया के आवरण में फंस गया ऐसा ज्ञात होता है कि कथा का उत्तरार्ध इसी मानिसक अधःपतन की करूणा कथा है जहाँ मन ऊर्ध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो सकता है जब मन इस प्रकार अधोगति को प्राप्त हो गया तब 'बुद्धि' की क्या दशा होगी यदि बुद्धि की बाग डोर ढीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से छूट जाय, तो वह क्रमशः वाह्य प्रभावों एवं प्रलोभनों के कारण, अपने निजत्व को खो देता है। इस दशा में बुद्धि मरणप्राय और निश्चेष्ट हो जाती है। बुद्धि की इसी करूण समाप्ति की कथा 'पद्मावती' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीनदशा उस समय साकार हो जाती है,

---

१. जायसी ग्रंथावली, राघव चेतन देश निकाला खंड, पृ० २३३

जब वह स्वयं अग्नि की लपटों में समाजाती है अत सम्पूर्ण कथा को ध्यान में रख कर यह कहा जा सकता है कि "मन" और "बुद्धि" के परस्पर विकास और फिर उनके अन्योन्य अधोगति की करूण कथा ही यह "महाकाव्य" है जहाँ मानवीय चेतना में मन तथा बुद्धि का सम्बन्ध, उनका विकास और फिर उनका अध:पतन दिखाया गया है।

जहाँ तक सुआ का प्रश्न है, वह 'गुरु' का रूप है जिसपर संदेह की कोई गुंजायश नहीं है। दूसरी ओर चित्तौड़ शरीर का और सिंघल हृदय का प्रतीक है। शरीर और हृदय का अन्तर इतना स्पष्ट है कि उस पर अधिक कहना व्यर्थ है। शरीर का राजा मन है जो इन्द्रियों पर अधिकार भी रखता है और कभी-कभी चंचल भी हो जाता है। ये दोनों स्थितियाँ पद्मावत् में स्पष्ट है जिसका मैं विवेचन कर चुका हूँ। बुद्धि (पद्मावती) और 'हृदय' (सिंघल) का अन्योन्य सम्बन्ध है क्योंकि कवि ने पद्मावती का निवास सिंघल माना है। यहाँ पर कवि दोनों में सामरस्य दिखाना चाहता है, जो प्रसाद की कामायनी का ध्येय है। परन्तु उत्तरार्ध में, यह समरसता विच्छिन्न हो जाती है और बिना भावना (हृदय) के बुद्धि भी मृतप्राय हो जाती है।

अस्तु, मैं, उपर्युक्त कारणों के प्रकाश में, पद्मावत् के कोश को प्रक्षिप्त नहीं मानता हूँ।

मीरा और सूर में प्रेम-भक्ति के प्रतीक

६

प्रतीक का संस्कृत पर्यायवाची शब्द प्रतिनिधि है जिसका अर्थ यही है कि जो किसी भाव, विचार अथवा धारणा का प्रतिनिधित्व करे, वही प्रतीक है। अतः प्रतीक का मुख्य कार्य किसी भाव अथवा विचार को विशिष्ट रूप देना है जिसके द्वारा वह विचार या भाव, सादृश्यता के आधार पर, प्रतीक से अपना साम्य स्थापित कर सके। जब तक वस्तु और भाव में साम्य नहीं होगा, प्रतीक की स्थिति स्पष्ट नही हो सकेगी। इस प्रकार संक्षेप में प्रतीक का मुख्य कार्य विचारोद्भावना है,[1] चाहे वह स्वतन्त्र रूप में हो अथवा अलङ्कारों के आवरण में।

गोपी-भाव—कृष्णकाव्य में प्रेम-भक्ति के प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि कृष्णकाव्य के मूल आधार स्तम्भ कृष्ण, राधा और गोपियाँ स्वयं प्रतीक हैं जिनके द्वारा किसी न किसी तात्विक अर्थ की व्यंजना होती है।[2] इन प्रतीकों का आश्रयभूत तत्व ही प्रेम-भक्ति या रागानुगा भक्ति ही है। सूरदास तथा अन्य कवियों ने प्रेम भाव का आदर्शीकरण गोपी अथवा राधा भाव के द्वारा व्यक्त किया है। उनका प्रेम प्राधुर्य भाव से परिव्याप्तहोने के कारण कृष्ण की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है और अन्त में उनकी तद्रूपता 'कीटभृङ्ग' के समान परिलक्षित होती है।

---

१. द नैचुरल हिस्ट्री आफ माइण्ड द्वारा ए० डी० रिट्ची (१९१२) पृ० २१

२. राधा परमात्मा के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति है, गोपियाँ रसात्मक सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक हैं और कृष्ण पूर्ण 'सच्चिद नन्द' रूप के प्रतीक। पूर्ण विवेचन के लिये देखिए 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' पृ० ५००–५०९ द्वारा डा० दीनदयालु गुप्त, भाग २ (सं० २००४)।

मीरा में 'गोपी-भाव' की परिणति, व्यक्तिगत प्रेम-साधना के संस्पर्श से अत्यन्त माधुर्यपूर्ण हो गई है। उनका 'गोपी-भाव' स्वयं में एक प्रतीकात्मक अर्थ का सुन्दर स्वरूप है। मीरा का पूर्ण व्यक्तित्व ही मानो 'गोपी-भाव' में साकार हो उठता है और साथ ही उसके रतिपूर्ण प्रेम की भावना यहीं पर आकर 'मधुर-भाव' में लय हो जाती है। यही मधुर भाव आत्मा का धर्म है जिसकी चरम परिणति मीरा के गोपी भाव में प्राप्त होती है। सूर के गोपी-भाव का आलम्बन प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है, वह गोपियों के द्वारा व्यक्त हुआ है। परन्तु मीरा का गोपीभाव उनके अन्तःकरण का प्रतिरूप है जिसमें उनकी अनुभूति अत्यन्त एकान्तिक है और गोपियों की तरह उसमें विरह का अत्यधिक आग्रह है। मीरा के गोपी भाव में तादात्म्य योग का मधुर रूप प्राप्त होता है "जहाँ जैसे भी और जिस प्रकार भी 'हरी' रीझे, वैसा ही 'बनाव-सिंगार' करना होता है[1] अथवा "उनका 'मुरारी' तो 'हिरदे' में बसा हुआ हुआ है जिसका वह पलपल 'दरसण' किया करती है"[2] "दिन रात 'खेलकर' उसे रिझाने का उपक्रम करती रहती है" क्योंकि मीरा की 'प्रीति पुराणी' है, 'जनम-जनम' की है, 'पूरब जन्म' की है—उस प्रीत का तभी तो उन्हें जन्मजन्मान्तर से अधिकार है।[3] कितना गहरा और कितना रतिपूर्ण माधुर्यभाव है इस गोपीभाव में? मीरा ने अपनी 'प्रेम-भक्ति' का प्रतीकीकरण इसी गोपी-भाव के द्वारा सफलता से किया है।

सम्बन्ध-प्रतीक योजनाएँ—मीरा के इस व्यक्तिगत गोपी-भाव के अतिरिक्त सूर अथवा मीरा ने स्थान-स्थान पर ऐसे सम्बन्ध प्रतीकों की योजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा भक्त का भगवान् के प्रति या प्रेमी का प्रेम-पात्र के प्रति एकात्म प्रेमभाव व्यंजित होता है। जब यह प्रेम-भक्ति अपनी चरमावस्था को प्राप्त हो जाती है और साधक उसे व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है, तब वह अपनी प्रेमानुभूति को प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करता है और 'गूँगे का मधुर फल चखने'[4] की अनुभूति को प्रतीकात्मक विधि से व्यक्त करता है।

---

१. मीराबाई की पदावली, सं० श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १९५, पद १६ (सं० २०१४)।

२. वही, पृ० १०५, पद १५।

३. वही, पृ० १०६ पद २०, पृ० १३९ पद १२५ तथा पृ० १४२ पद १३१।

४. सूरसागरसार, सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ९, (सं० २०११)।

इन सम्बन्ध प्रतीकों में मुख्यतः अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही प्राप्त होते हैं, इसी से उनके प्रयोग से यह स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि उनमें साध्य-साधक, प्रेमी-प्रेमपात्र, विषय विषयी अथवा भक्त और भगवान् का अन्योन्य सम्बन्ध ही चित्रित किया गया है। सत्य में, इस प्रेमपूर्ण सम्बन्ध में द्वयता की भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु इस द्वयता में एकता का प्रतिपादन करना ही इन प्रतीकों का मुख्य ध्येय है। इसे ही हम भक्त कवियों का अद्वैत-दर्शन कह सकते हैं जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति उनके सम्बन्ध प्रतीक हैं। इसी द्वयता में अद्वैत की सुन्दर परिणति ही अपेक्षित है। इसी प्रेम-भाव की व्यंजना सूरदास ने भौंरे और कमल के द्वारा प्रकट की है—

भौंरा भोगी बन भ्रमै (रे) मोद न मानै ताप।
सब कुसमनि मिलि रस कर (पै) कमल बंधाये आप ।।[1]

जीवात्मा (भँवरा) चाहे संसार के विषय-भोगों में, एक प्रेमी की तरह, चाहे अनेक स्थानों का भ्रमण ही क्यों न करे, पर अन्त में वह अपने साध्य या प्रेम-पात्र 'कमल' के बिना शान्ति नहीं पा सकता है। इसमें साध्य और साधक की द्वैत भावना के साथ-साथ उस अद्वैत की झलक भी प्राप्त होती है जो 'भक्ति-भाव' के लिये परमावश्यक है। इसी जीव को (भृङ्ग) सम्बोधित करते हुये, सूर ने 'अद्वय प्रेम तत्व' की व्यंजना की है—

भृङ्गी री, भजि श्याम कमल पद,
जहाँ न निसि को बास।[2]

हे आत्मा, उस परमसाध्य के चरणों में मन लगा जहाँ अविद्या अथवा अज्ञानान्धकार (निसि) का वास नहीं है। जब तक जीवात्मा अविद्या और अज्ञान में लिप्त रहेगी, तब वह सत्य रूप में, परमात्मा की अनुभूति प्राप्त न कर सकेगी। वह भौंरा जो एक मन, वचन, प्राण से कमल का प्रेमी है, उसके सामने चम्पक-बन की क्या महत्ता है? जब मन साध्य तत्व में प्रेम-मग्न हो गया—एकीभूत हो गया, तब उसके अन्तर्चक्षुओं के सामने यह अस्थिर विश्व (चम्पक) और उसके

---

१. सूरसागर सं॰ नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ॰ १०६ पद ३२५ (सं॰ २००५) प्रथम खण्ड।

२. वही, पृ॰ ११२ पद ३३६।

विषयभोग केवल घटनामात्र रह जाते हैं; गोपियाँ इसी भाव को प्रतीकात्मक विधि से इस प्रकार कहती हैं—

सूर मृङ्ग जो कमल के बिरही,
चम्पक बन लागत चित थोरे ।[1]

इस सम्बन्ध-प्रतीक योजना के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध योजनायें भी हैं जिनमें मानवेतर प्राणियों अथवा पदार्थों को प्रतीक का रूप प्रदान किया गया है और उसके द्वारा प्रेम-भक्ति को आदर्श की श्रेणी तक पहुंचा दिया गया है। सत्य में ये योजनायें; रूढ़ि परम्परा की हैं जिनका पालन प्राचीन काल से होता आ रहा है और सूर तथा मीरा ने भी इन परम्परागत 'प्रतीकों' के द्वारा प्रेम-भक्ति का निरूपण किया है। इन प्रतीकों के द्वारा (चातक, मीन, दीपक, पतङ्ग आदि) भक्त कवियों ने जिस प्रेमपूर्ण-भावभूमि का प्रस्तुतीकरण किया है, उसे हम "मनोवैज्ञानिक-अध्यात्मवाद" की संज्ञा दे सकते हैं। उनकी समस्त मनोवृत्तियों का पर्यवसान उस समय चित्त में हो जाता है और वे जागृत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं से ऊपर उठकर परमानन्द स्वरूप 'कृष्ण' या 'हरि' (ब्रह्म के समान) की भावना में लीन हो जाते हैं। इस मनोविज्ञान का संकेत हमें माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार मिलता है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।[2]

अर्थात् जिस समय चित सुषुप्ति में लीन न हो और फिर विक्षिप्त न हो तथा निश्चल और विषयाभास से रहित हो जाय, उस समय वह ब्रह्म रूप ही हो जाता है। हमारे भक्त-कवियों ने ऐसे ही चित्त के द्वारा 'सगुण ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त किया था क्योंकि प्रतीक का महत्व इसी में है कि साधक उनके द्वारा अपने आराध्य की अनुभूति प्राप्त कर सके।[3] प्रेम-भाव में यह अनुभूति परमावश्यक है; इसीसे भक्त कवियों ने अपने हृदय की प्रेम-भक्ति का प्रतीकीकरण 'चातक-वृत्ति' के द्वारा किया है। महाकवि तुलसी ने भी चातक को आदर्श भक्त का प्रतीक बनाकर, उसके

१. सूरसागर, द्वितीय खण्ड पृ० १५४७ पद ३८५४ (सं० २००५)
२. माण्डूक्योपनिषद्, पृ० १८४ श्लोक ४६ अद्वैत प्रकरण, (उपनिषद् भाष्य, गीता प्रेस सं० २०१३)
३. गीता रहस्य द्वारा बालगङ्गाधर तिलक, पृ० ५८०, भाग १ (१६३५)

द्वारा भक्ति के आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। परन्तु कृष्ण-काव्य में चातक-वृत्ति का उतना विस्तार नहीं प्राप्त होता है क्योंकि तुलसी की भांति, उसके स्वतन्त्र सन्दर्भ की अवतारणा यहां पर लक्षित नहीं होती है। सूरदास ने गोपी-प्रेम के अन्तर्गत चातक को एकनिष्ठ प्रेम का प्रतीक व्यंजित किया है—

सुनि परिमति पिय प्रेम की (रे) चातक चितव न पारि।
घन आसा सब दुख सहै, पै अनत न जांचै वारि ॥[1]

घन की एक मात्र आशा ही चातक को अपेक्षित है, चाहे उसके सामने कितने ही दुखों एवं आपदाओं के वज्रपात होने लगें। प्रेमी भक्त-चातक के इसी भाव को तुलसी ने भी ग्रहण किया है—

उपल करषि गरजन तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुं दूसरी ओर ॥[2]

तुलसी की भक्ति में चातक हास्य भाव का प्रतीक है जब कि वह मीरा और सूर में माधुर्य भाव का प्रतीक अधिक स्पष्ट रूप में प्राप्त होता है। मीरा की चातक (पपीहा) वृत्ति में विरह का ही आधिक्य है, और वह भी व्यक्तिगत। पपीहा मानो उनके 'विरहपूर्ण-हृदय' का ही प्रतीक है जिसके माध्यम से वे अपने विरह-प्रेम को साकार रूप देती है यथा :—

पपइया म्हारा कब री बैर चितार्यां ॥टेक॥
म्हा सोबूं छी अपणे भवण मां पिय पिपु करतां पुकर्या।
दाध्या ऊपर लूण लगायां, हिवड़ो करवत सार्यां ॥[3]

पपीहे की भांति गोपियों ने अपने विरह अथवा प्रेम की व्यंजना को चातक पर आरोपित कर एक अत्यंत अर्थगर्भित-प्रतीक की अवतारणा इस प्रकार की है:—

---

१. सूरसागर, भाग प्रथम पृ० १०६, पद ३२५ तथा पृ० १५४० (द्वितीय भाग) पद ३२३१ (सभा)
२. तुलसी ग्रन्थावली खंड २, सं० रामचन्द्र शुक्ल, दोहावली पृ० १०६, दोहा २८३ (सं २००४)
३. मीरांबाई पदावली, पृ० १२६—१२५ पद ८३ व ८४।

सखी री चातक मोहि जियावत
जैसहिं रैनि रहित हौ पिय पिय तैसहि वह पुनि गावत ।
अतिहि सुकण्ठ दाह प्रीतम कै, तारु जीभ न लावत ।।[१]

'तारु जीभ न लावत' में चातक की वृत्ति मानों भक्त के एकनिष्ठ प्रेम में एकाकार हो गई है ।

कृष्ण काव्य में चातक वृत्ति के अतिरिक्त चकई, मीन और पतङ्ग के द्वारा भी प्रेम की व्यंजना प्रस्तुत की गई है । मीरा ने मीन अथवा दीपक के द्वारा भी प्रेमाभिव्यंजना प्रस्तुत की है, वह कवियित्री के आनन्दपूर्ण प्रणय भावना की प्रतीक है:—

नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो नेह ।।टेक।।
पाणी पीर ण जाणई, मीन तलफि तज्यो देह ।
दीपक जाण्या पीरणा, पतङ्ग जल्या जल खेह ।
मीरा रे प्रभु सांवरे रे, थे विण देह अदेह ।।[२]

इसी एकात्म-प्रेम भावना को सूर ने भी दीपक-पतङ्ग और जल-मीन के द्वारा अभिव्यक्त किया है ।[३] इसी प्रेम-सम्बन्ध का एक अत्यन्त सुन्दर स्वरूप सूर में उस समय प्राप्त होता है जब वे मानवेतर जड़ पदार्थों के सम्बन्ध के द्वारा प्रेम-भाव की व्यंजना करते हैं जो प्रेमी एवं प्रेमपात्र (आत्मा व परमात्मा) के सापेक्ष महत्व की ओर संकेत करते हैं । सरिता एवं तड़ाग का ऐसा ही सम्बन्ध है:—

सरितां निकट तड़ाग कै, निकसी कूल बिदारि ।
नाम मिट्यो सरिता भई, कौन निबारै वारि ।।[४]

यह उदाहरण प्रकृतिगत रहस्य-भावना का सुन्दर उदाहरण है जहां प्राकृतिक पदार्थों एवं क्रियाओं के द्वारा किसी तात्विक-रहस्य का निर्देश किया जाता है ।

---

१. सूरसागर, भाग दो पृ० १३६० पद ३३३८ (सभा संस्करण)
२. मीरांबाई की पदावली, पृ० १३३ पद १०५
३. सूरसागर, भाग प्र०, पृ० १०७, पद ३२५ (सभा)
४. सूरसागर, द्वितीय भाग पृ० ८२८, पद १६८० (सभा)

साधनागत प्रसंग प्रतीक—कृष्ण-काव्य में उपर्युक्त सम्बन्ध प्रतीकों के अतिरिक्त ऐसे प्रतीकात्मक-सन्दर्भ मिलते हैं जो भक्ति-प्रेम साधना के मार्ग की दुरूहताओं एवं कठिनाइयों को रखते हैं। सूफियों में जो मार्ग की कठिनाइयों का एक दुरूह रूप प्राप्त होता है, उसके स्थान पर यहां माधुर्यपरक रूप ही प्राप्त होता है, सूरसागर में द्वारिका-चरित के अन्तर्गत विरह विदग्धा गोपियों के निम्न वचन साधनात्मक प्रतीकार्थ की ओर संकेत करते हैं।

हौं, कैसे कै दरसन पाऊँ।
बाहर भी बहुत भूपनि की, बूझत वदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग भामिनि की, तिहि ठां काहि पठाऊँ।[1]

अपने प्रिय का दर्शन किस प्रकार प्राप्त किया जाय क्योंकि बाह्य प्रलोभन एक ओर आकर्षित करते हैं और दूसरी ओर भोग विषयों का बाहुल्य अपनी ओर खींचता है, इन दो के मध्य में 'परमाराध्य' का दर्शन कैसे किया जाय ? इसी प्रेम-भाव का निरूपण माधुर्य-भाव के कारण मीरा में अत्यन्त मोहक रूप से व्यक्त हुआ है।

जोगिया जी निसिदिन जोऊ बाट ।।टेक।।
पांव न चालै पंथ दुहेलो, आड़ा औघट घाट।
नगर आई जोगी रम गया रे, मो मन की प्रीति न पाइ।[2]

'औघट-घाट' के द्वारा मीरा ने उन समस्त बाधाओं का केन्द्रीभूत स्वरूप प्रस्तुत कर किया है जो भक्ति-मार्ग की बाधाओं का प्रतीक है। इन बाधाओं के फलस्वरूप मीरा का जोगी (अराध्य) संसार में व्याप्त होकर भी, उनके हृदय में स्थान न पा सका क्योंकि हृदय में जो प्रीति अपेक्षित है, उसका शायद अभाव है। सत्य रूप में राणा का सांप की पिटारी सूली विष का प्याला[3] आदि भेजना और मीरा के सामने उनका अमृतवत् हो जाना जहां एक ओर प्रेमभक्ति-मार्ग की कठिनाइयों की ओर संकेत करता है (सर्प जो काल का और विष संसार की विषयबासनाओं का प्रतीक माना जा सकता है) वहीं, दूसरी ओर भक्ति की परम शक्ति का परिचय देता है। यदि हम इन ऐतिहासिक घटनाओं को (सर्प व विषादि)

---

१. सूरसागर सार, सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १९५
२. मीराबाई की पदावली, पृ० ११५, पद ४४।
३. वही, पृ० ११३ पद ३७, ३८, ३९ व पृ० ११४ पद ४१।

प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण करे तो, मेरे विचार से, इतिहास के साथ-साथ एक ऐसे उच्च मानसिक एवं आत्मिक स्तर का अनावरण होगा जिसकी ओर संकेत करना ही मीरा का ध्येय रहा हो। यहाँ पर ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता का सुन्दर निर्वाह होता है जैसा कि 'कामायनी' में अथवा 'पद्मावत' में भी प्राप्त होता है।

साधक की अन्तिम स्थिति मिलनावस्था की होती है जिसके आनन्द की अभिव्यंजना प्रतीकों के द्वारा भी प्रकट होती है। मीरा में मिलन की रम्य अनुभूति 'झिरमिट खेलने'[1] की लालसा से साकार हो उठी है। यह 'खेल' उसके जीवन भर का खेल है और इसी से, 'झिरमिट' आध्यात्मिक-प्रतीक का रूप है। इसी मिलनानन्द की चरम परिणति उस समय होती है जब आनन्दानुभूति की अभिव्यक्ति अनेक प्राकृतिक एवं लौकिक व्यापारों के द्वारा व्यक्त होती है। सत्य में, मीरा ने मिलन के समय जिस भावभूमि का सृजन किया है, वह अनेक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त हुआ है। 'गणगौर', सांवन के बादल, दादुर, पपीहा का बोलना और होली तथा फाग का उन्मादपूर्ण वर्णन करना—ये सबके सब व्यापार मिलन से उद्भूत आनन्दानुभूति के ही प्रतीक है जिसके द्वारा मीरा ने अपनी हृदयगत आनन्दानुभूति को प्राकृतिक व्यापारों के द्वारा साधारणीकरण किया है। होली का एक वर्णन इसी तथ्य का प्रतीक रूप है—

> रङ्ग भरी, राग भरी राग सूँ भरी री।
> होली खेल्यां स्यांम संग रङ्ग सूँ भरी री।।टेक।।
> उड़त गुलाल लाल बदला री रङ्ग लाल,
> पिचकां उड़ावां रङ्ग रङ्ग री झरी री।।[2]

लाल रंग अथवा गुलाल अनुराग अथवा प्रेम का प्रतीक है जिससे साधिका पूर्ण रूप से ओतप्रोत है। इसी प्रकार 'सावन के बादल' प्रेमानन्द की रस-वृष्टि के प्रतीक हैं जिससे मीरा का सारा व्यक्तित्व ही आप्लावित है।[3] सूर की गोपियां भी ऐसी आनन्दानुभूति में उस समय दिखाई देती हैं जब वे फाग अथवा वसन्त-लीला की रसानुभूति का अनुभव करती हैं। मीरा का मिलन गोपियों के मिलन से भिन्न है। मीरा की मिलनावस्था व्यक्तिगत है और विरह के बाद उनको मिलन की

---

१. वही, पृ० १०६, १०८ पद २३।
२. मीरांबाई की पदावली, पृ० १४५, पद १४८
३. वही, पृ० १४४, पद १४६।

अनुभूति भी प्राप्त होती है, परन्तु गोपियों का मिलन, विरह की अवतारणा तो करता है पर अन्त में (द्वारिका चरित्र में) वे कृष्ण से कुरुक्षेत्र में मिलती हैं पर मिल कर भी नहीं मिल पाती हैं। गोपियों का यह 'दुखान्त-मिलन' दुख और सुख दोनों से परे है। यदि शेक्सपियर ने रोमियो और जूलियट की मृत्यु के द्वारा दुखान्त की अवतारणा की है तो सूर ने गोपियों को जीवित रखते हुए भी दु:खान्त की सृष्टि की है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार महाकवि कालीदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शकुन्तला की ट्रेजेडी का मृत्युपरक चित्राङ्कन न कर, जीवित दशा में, उसकी ट्रेजडी का रूप मुखर किया है। मेरे विचार से, दु:खान्त का स्थान भारतीय महाकाव्यों में मृत्यु का द्योतक नहीं है पर वह कलुषताओं एवं वीभत्सताओं का प्रतीक है।

सगुण भक्ति काव्य में महाप्रमुद्रा साधना का स्वरूप

७

सिद्धों की तान्त्रिक साधना में 'महामुद्रा, शून्य की उस स्थिति को कहते हैं जिसमें इस शून्य तत्व को प्रज्ञोपाय योगप्रणाली में नैरात्म बालिका प्रज्ञा या महामुद्रा, रूप में ग्रहण किया जाता था ।[1] इस महामुद्रा प्राप्त साधक की स्थिति महासुख (महासुह) चक्र में मानी जाती थी । आगे चलकर स्वयं सिद्धों तथा बौद्धों में ही इस साधना का (नारीपरक) एक अत्यन्त कलुषित एवं वासनापूर्ण रूप प्राप्त होता है स्वयं सरहपा ने इसका घोर विरोध किया था क्योंकि नारी-मुद्रा का जो प्रतीकार्थ था, उसे भूलकर लोग विलास एवं ऐन्द्रिय लोलुपता के चक्र में फंस गए थे।[2] सत्य में महामुद्रा, प्रज्ञा और उपाय तथा शिव और शक्ति के मिलन का 'युगनद्ध, आनन्दपरक रूप था जो भविष्य में निरा स्त्री और पुरुष के सम्भोग का द्योतक शब्दमात्र रह गया ।

सगुणभक्त कवियों ने 'मुद्रा' शब्द का उपर्युक्त अर्थ ग्रहण नहीं किया है वरन् उनमें जो मुद्रा के तथा मुद्रा साधना से कुछ सम्बन्धित शब्दो (यथा योगिनी, हस्तिनी, चित्रिनी आदि) के नवीन अर्थपरक प्रयोग प्राप्त होते हैं, वह एक प्रकार से किसी सीमा तक सन्तों के 'मुद्रा' शब्द से प्रभावित हैं । परन्तु इसके साथ-साथ इन सगुण भक्त कवियों ने, अपनी प्रेमभक्ति साधना के अनुसार इस शब्द को अपनी भावभक्ति में एक विशिष्ट स्थान दिया है। सन्तों ने विशेषकर कबीर ने, जिन्होने यदा-कदा इस शब्द का प्रयोग किया है, उसका एकमात्र कारण उसके पतित अर्थ के

---

१. सिद्ध-साहित्य द्वारा डॉ० धर्मवीर भारती, पृ० ३३६ (प्रयाग १९५५) ।

२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा द्वारा श्री परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४१, (प्रयाग–सं० २ ।

प्रति एक सचेतन प्रतिक्रिया थी जोकि उस समय भी अनेक इतर साधना प्रणालियों में प्रचलित थी। इसी प्रकार की स्थिति राम तथा कृष्ण काव्य में भी प्राप्त होती है क्योकि इन कवियों ने सामान्यतः मुद्रा के प्रतीक रूप को कबीर आदि की भाँति एक प्रतिक्रियात्मक रूप में ही ग्रहण किया है और यहाँ तक कि सूरदास ने भ्रमरगीत प्रसङ्ग में 'मुद्रा' के प्रति हींन भाव भी ग्रहण किया है इस पर यथास्थान विचार किया जायगा। परन्तु यह सब होते हुए भी भक्त कवियों ने 'मुद्रा' को नवीन अर्थ तत्वों के स्पन्दन से भी स्पन्दित किया है जो उनकी समन्वयात्मक एवं उदार वृतियों की परिचायक है। महामुद्रा से सम्बन्धित कुछ शब्दों (यथायोगिनी आदि) की एक सबल परम्परा इन कवियों में प्राप्त होती है, जिसके प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि इन शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ में हमारे कवियों ने विस्तार ही किया है, उन्हे समय तथा वातावरण के अनुकूल ढालने का सुन्दर प्रयत्न किया हैं।

'मुद्रा' शब्द की परम्परा हमें रामकाव्य में भी प्राप्त होती हैं जिसका वह रहस्यात्मक अर्थ नहीं है जो कुछ सीमा तक सन्तों में और पूर्ण रूप से सिद्धों में प्राप्त होता है। केशवदास ने मुद्रा शब्द को बाह्य आकृति अथवा कही-कहीं पर एक विशिष्ट यौगिक साधना के वाचक शब्द रूप में सम्मुख रखा है। सिद्धों में महामुद्रा साधना का जो योगपरक स्वरूप था, उसका यहाँ पर सर्वथा अभाव है और यह शब्द केवल मात्र एक पारिभाषिक अर्थ का द्योतक ही रह गया है केशव ने एक स्थान पर इस शब्द के अर्थ में एक नवीन तत्व का समावेश किया है जो विजय का 'सिक्का' जमाने कीं लोकोक्ति के अर्थ में ग्रहण किया गया है यथा–

> मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,
>
> आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की।[1]

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि-भक्तिकाव्य में मुद्रा की नारीपरक साधना का अर्थ लोप हो गया था या हो रहा था, परन्तु दूसरी ओर भक्त कवियों में 'मुद्रा' शब्द के रूढ़ि अर्थ के स्थान पर नवीन अर्थ-तत्वों का भी समाहार प्राप्त होता है। हम कह सकते हैं कि भक्त कवियों ने मुद्रा के जटिल साधनात्मक रूप के स्थान पर उसके सहज एवं भक्तिपरक स्वरूप कीप्रतिष्ठा की हैं। परन्तु इसके साथ-साथ मुद्रा का अर्थ बाह्य आकृति से ग्रहण करते हुये, उसके तान्त्रिक रूप के प्रति

---

१. रामचन्द्रिका, द्वितीय भाग, सं० लाला भगवानदीन, ३५ प्रकाश, पृ० २४० (प्रयाग १९५०)

एक निषेधात्मक प्रवृति को भी प्रश्रय दिया है। यही कारण है कि सूर की गोपियों ने इस शब्द का प्रयोग निर्गुण तथा तान्त्रिक अनुष्ठानों की सापेक्षता में, अपने प्रेमपरक साधना की उच्चता दर्शाने के लिये भी किया हैं—

मुद्रा न्यास अंग आभूषन, पतिव्रत तै न टरौ।
सूरदास यहै व्रत मेरो, हरि पल नहिं बिसरौ ।।[१]

यही नहीं, पर कहीं-कहीं पर पूरी योग-प्रणाली के अङ्गों की ओर भी संकेत प्राप्त होता है जैसे सीस, सेली, कंथा, केश, मुद्रा और भस्म आदि।[२] इन सभी प्रयोंगो में मुद्रा का अर्थ एक विशिष्ट बाह्य आकृति का द्योतक है जिनके सामने गोपियों का 'पतिव्रत' कहीं अधिक महान है, वे अपने प्रेम-धर्म को 'मुद्रा' साधना की समकक्षता में 'बलिदान नहीं कर सकती हैं। कुछ इसी प्रकार की प्रवृति कबीर में भी दर्शित होती है जब वे कहते हैं—

क्या सींगी मुद्रा चमकावै,
क्या विभूति सब अंग लगावै।[३]

यहाँ पर भी मुद्रा के प्रति एक प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना दृष्टिगत होती है, परन्तु गोपियों में यह विद्रोह इतना स्पष्ट नहीं है, पर वह अप्रत्यक्ष रूप में केवल उदासीनता का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त मुद्रा के प्रतीक-रूप में, कृष्ण -काव्य में एक रोचक अर्थ का समावेश प्राप्त होता है इस प्रयोग को भी हम एक प्रकार से निषेधात्मक अथवा हास्यास्पद कोटि में रख सकते हैं। सूर ने समस्त ऐसी विचारधाराओं को 'माटी की मुद्रा' की संज्ञा दे डाली जो सगुण अथवा भक्ति भावना की उपासना-पद्धति के विपरीत पड़ती थी, दूसरे शब्दों में उस समय की प्रचलित तान्त्रिक योगिक तथा अन्य साम्प्रदायिक अनुष्ठानों के प्रति एक अवहेलना का रूप इस 'शब्द' के द्वारा व्यंजित होता है। पंक्ति इस प्रकार है जो उद्धव (मधुकर) के प्रति गोपियों का व्यंग्य भी कहा जा सकता है – तिन मोहन माटी के मुद्रा, मधुकर हाथ पठायो।[४]

---

१. सूरसागर, पृ० १४५५/३५५१ तथा पृ० १३०४/४०४० (खण्ड दूसरा) (सभा) (काशी सं० २०१०)
२. वही, पृ० १४९९/३६९४
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३०७/३५५, सं० डा० श्यामसुन्दरदास (काशी १९२८)
४. सूरसागर-सार, सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १६२ (भ्रमर गीत)

यहाँ पर उद्धव का संकेतवाचक शब्द 'मधुकर' है जो निर्गुण ब्रह्म का आख्याता है। ऐसे निर्गुण रूह को 'मुद्रा' न कहकर, उसे 'माटी की मुद्रा' कहने से यही ध्वनित होता है कि गोपियों को इस 'मुद्रा- के प्रति, जो कृष्ण ने उद्धव के हाथों गोपियों के पास भिजवाई है, एक सचेतन प्रतिक्रिया का रूप प्राप्त होता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि किस प्रकार किसी प्रतीक-विशेष के द्वारा किसी 'मत' के प्रति एक व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है ?

महामुद्रा साधना के कुछ शब्दों की एक बलवती परम्परा भक्ति काव्य में प्राप्त होती है जिनके स्वरूप में सगुण कवियों ने यथोचित अपनी भावनानुसार नव-अर्थ तत्वों का समावेश किया है। इन शब्दों में योगिनी, पद्मनी, चित्रनी और यक्षिणी प्रमुख हैं। इन सब में योगिनी शब्द का इतिहास प्रतीक की दृष्टि से, अत्यन्त रोचक कहा जा सकता है क्योंकि प्रत्येक काल में इसके प्रतीक रूप का अर्थ-विस्तार ही होता गया है। रामकाव्य में योगिनी का प्रयोग अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है जिसके आधार पर उसका प्रतीकार्थ भी स्पष्ट हो जाता है। सिद्धों में जोगिनी एक विशिष्ट साधना का नारीपरक रूप था जिस अर्थ का अभाव रामकाव्य में प्राप्त होता है। सन्तों में इस शब्द का कोई विशेष आग्रह नहीं है; वह केवल एक शब्द मात्र का निर्वाह ही ज्ञात होता है। तुलसी ने शङ्कर की बारात के समय जोगिनियों का नाम लिया है जो शङ्कर के 'गण' के समान प्रतीत होती हैं जो एक प्रकार से भयानक रूप की प्रतिरूप ही कही जा सकती हैं यथा—

'संग भूत प्रेत पिशाच जोगिन विकट मुख रजनीचरा।'[१]

जोगिनी का इसी प्रकार का भयावह रूप रामायण युद्ध के समय तुलसीदास ने प्रयुक्त किया हैं—

जोगिन भरि भरि खप्पर संचहिं।
भूत पिचाच बधू नभ नंचहिं ॥[२]

अब प्रश्न है कि जोगिनी शब्द का जो प्राचीनतम दिव्य साधना का रूप था, उसका एक प्रकार से यह निम्न रूप रामकाव्य में किस प्रकार से ग्रहण हुआ ? तांत्रिक साधना में 'मुद्रा' युगनद्ध का भी रूप था जिसने प्रज्ञा और उपाय, शिव और

---

१. रामचरितमांनस, तुलसी, बालकाण्ड, पृ० ११५ (गीताप्रेस गोरखपुर सं० २०११)
२. वही, लङ्काकाण्ड, पृ० ८२४

शक्ति के रूप में गृहीत हुये थे, और आगे चल कर महामुद्रा साधना के अन्य रूपों का रूपान्तर शिव के साथ भी हो जाना एक सम्भावना हो जाती हैं। यही कारण है कि जोगनी शब्द का उपर्युक्त रूप राम काव्य में प्राप्त होता है।

इस रूप के अतिरिक्त रामकाव्य में जोगिनी की भावना एक समाधि रूप से भी सम्बन्धित प्राप्त होती है जैसा कि केशवदास की यह पंक्ति संकेत करती है—

सिद्ध समाधि सजै अजहूँ न कहूँ
जग जोगिन देखत पाई।[1]

यहां पर जोगिनी का योगपरक रूप भी ध्वनित होता है। परन्तु कबीर ने जोगिनी को इस अर्थ में प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण नहीं किया है, पर उसे एक प्रकार से शुद्ध चित का प्रतीक ही माना है जिसके जागृत होने पर काम, क्रोध का नाश हो जाता है यथा—

काम क्रोध दोऊ भया पलीता
तहाँ जोगिणी जागी।[2]

कबीर का यह जोगिनी रूप, सूक्ष्म रूप से देखने पर, साधनापरक होते हुये भी कुछ सीमा तक हृदय अथवा चित्त से भी सम्बन्धित है जिसका एक सुन्दर भावात्मक विकास हमें कृष्णकाव्य की भाव-भूमि में प्राप्त होता है। कम से कम योगिनी शब्द का प्रतीक रूप और उस शब्द का अर्थ-विस्तार कृष्णकाव्य की मूल देन कही जा सकती है जिसने परम्परा से त्याज्य (सन्तों तथा सूफियों में ऐसी प्रवृत्ति यदा-कदा मिल जाती है जो सामान्य नहीं है) एक शब्द-प्रतीक को अपनी प्रेमपरक साधना में एक नवीन अर्थ वाहक हीं नहीं बनाया पर उसके द्वारा एक आन्तरिक मनोवृत्ति का मानवींकरण प्रस्तुत किया है। स्वयं सूरदास ने एक ओर और मीरा ने दूसरी ओर इस जोगिन शब्द को अपनी प्रेम-भक्ति-भावना में इतना घुला-मिला दिया है कि वह उनकी अपनी धरोहर सी हो गई है। इस शब्द की समस्त प्राचीन निषेधात्मक एवं साधनात्मक जटिल रूपों को तिलाञ्जलि देकर मीरा ने प्रधान रूप से अपनी व्यक्तिगत साधना का, अपनी विरह जनित अवस्था का एवं अपनी चिरकालीन गोपी-भावना का एक सुन्दर साकार रूप इस 'शब्द' के द्वारा प्रस्तुत किया है। तभी

---

१. रामचन्द्रिका छठा प्रकाश, पृ० ८६

२. कबीर ग्रन्थावली, सं० डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १११/७४

तो मीरा के निम्न शब्द जोगिन भावना के प्रतीक कहे जा सकते हैं जिसमें योगपरक शब्दों का प्रयोग तो अवश्य हुआ है, पर उनकी पृष्ठभूमि में योग-भावना का मुख्य रूप प्राप्त नहीं होता है, वह तो स्वयं मीरा की व्यक्तिगत प्रेम-साधना, आराधना एवं गोपी प्रेम की चरम आत्माभि-व्यक्ति कही जा सकती है—

माला मुंदरा मेखला रे बाला
खप्पर लूँमी हाथ।
जोगिन होइ जुग ढूँढसू रे
म्हांरा रावलियारी साथ ।।[१]

यह सम्पूर्ण योगिकी का बाह्य भेष केवल एक आन्तरिक लालसा का प्रतीक है जो प्रिय से मिलने की इच्छा से प्रबल हो गई है, उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति तो निम्न पंक्तियों में स्वयं फूट पड़ती है—

सावण आवण कह गया बाला
कर गया कौल अनेक।
गिणता गिणता घस गई रे,
म्हांरा आंगलयारी रेख ।।
पीव कारण पीली पड़ी बाला, जोबन वाली बेस।
दास मीरा रांम भजि कै, तन मन कीन्हो पेस ।.[२]

अतः मीरा का जोगिन भेष केवल बाह्य मुद्रा मात्र नहीं है, वह तत्वतः हृदय एवं अन्तःकरण का दिव्य एवं भावपूर्ण 'भेष' है जो ऊपर से दिखाई नहीं देता है, पर राख के अन्दर छिपी चिनगारी की तरह अव्यक्त रहता है जो प्रिय के मधुर संस्पर्श से स्वमेव प्रज्ज्वलित हो उठता है। सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के विरह में जोगिन बनने की बात कहती हैं जो सन्दर्भानुसार एक अन्तर के भावपूर्ण प्रेम का प्रतीक ही है—

---

१. मीरांबाई की पदावली, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १३७, पद ११७, (प्रयाग २०१०)

२. मीरांबाई की पदावली, पृ० १३७/११७।

सिंगी मुद्रा कर खप्पर लै, करिहौं जोगिन भेष ।[१]

सूरदास ने जोगिन के जगने का भी एक स्थान पर संकेत किया है जिसमें तान्त्रिक प्रभाव का पुट है। लंका काण्ड में सिन्धुतट पर सुग्रीव, अंगद आदि के आने पर जोगिनी का जागृत होना कहा गया है—

चले तब लषन, सुग्रीव, अंगद, हनू,
जामवन्त, नील नल सबै आयौ ।
भूमि अति डगमगी, जोगिनी सुन जगी,
सहस फन सेस कौ सीस काँप्यौ ।।[२]

यह गोगिनी का रूप तुलसी-वर्णित योगिनी से साम्य रखता है जो भयानक रूप की ओर संकेत करता है।

जोगिन शब्द के अतिरिक्त अपरोक्ष रूप से पद्मिनी का आदर्श सगुण काव्य में भी मान्य रहा है। रामकाव्य में सीता का और कृष्ण-काव्य में राधा का पद्मिनी रूप अपनी चरम अभिव्यक्ति में प्राप्त होता है। तुलसी ने सीता को कहीं पर भी पद्मिनी नहीं कहा है, पर सीता का माधुर्यपरक रूप पद्मिनी का ही है. यहाँ तक कि केशवदास ने एक स्थान पर सीता को पद्मिनी प्रकार का भी कहा है।[३] जो सीता की स्थिति है वही राधा की भी है कि सूर ने स्पष्ट रूप से राधा को पद्मिनी प्रकार चित्रित नहीं किया है। परन्तु फिर भी, सीता व राधा के रूप वर्णन, उनके एकनिष्ठ प्रेम, उनके हाव-भावों और रतिपरक क्रियाओं में समानता होते हुए भी, दृष्टिोण का विशेष अन्तर है। रामकाव्य का दृष्टिकोण मर्यादापूर्ण होने से वहाँ पर 'रति' का रूप उस दृष्टि से उच्छृखल नहीं हैं जिस दृष्टि से कृष्णकाव्य में प्राप्त होता है। केशवदास में 'रति' का यह मर्यादित रूप कुछ सीमा तक उच्छृंखल प्रतीत होता है, पर वह अपवादस्वरूप ही है, पूरे रामकाव्य की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती है। केशव ने तो एक अन्य स्थान पर पद्मिनी को चित्रिनी तथा 'पुत्रिनी' के साथ भी वर्णित किया है—

सबै प्रेम की पुण्य की पद्मिनी सी।
सबै पुत्रिनी चित्रिनी पद्मिनी सी ।।[४]

---

३. सूरसागर सार : सं० डा धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १३२
२. सूरससागर (सभा) नवम स्कन्ध, पृ० २२७/५५१
३. रामचन्द्रिका, भाग दो, ३३ प्रकाश, पृ० २१२ ।
४. वही, २८ प्रकाश, पृ० १०८ ।

अतः सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि सूर की राधा में पद्मिनी का सुन्दर विकास प्राप्त होता है जो हमें सूफ़ीकवि जायसी की 'पद्मावति' में ही प्राप्त होता है। जायसी ने पद्मिनी नारी को 'पद्म' रङ्ग का कहा है जिसमें सोलह कलायें अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है; वह न तो बहुत मोटी होती है और न बहुत दुबली ।[1] नूरमोहम्मद ने तो अपनी नायिका इन्द्रावती को स्पष्ट रूप से पद्मिनी प्रकार का कहा है—

है पद्मिनि इन्द्रावति प्यारी ।
ताको बदन रूप फुलवारी ।।[2]

इस प्रकार केवल राम तथा कृष्णकाव्य में ही नहीं पर अन्य काव्यों में भी पद्मिनी नारी की प्रधानता रही है जो कवि की भावभूमि के अनुसार रूपान्तरित होती रही है। सीता में वह मर्यादापूर्ण आदिशक्ति के रूप में राधा में वह रतिपूर्ण आहलादिनी-शक्ति के रूप में और पद्मावती में सूफ़ी साक़ी या माशूका के रूप में—एक साथ विभिन्न भावभूमियों में रूपान्तरित हो सकी है। पद्मिनी प्रकार का प्रतीक एक अत्यन्त विशाल सन्दर्भ को रूप, मेरे विचार से, अपने अन्दर समेटे हुये है।

महामुद्रा सांधना के इन मुख्य शव्द-प्रतीकों के विवेचन के अतिरिक्त अन्य नारी प्रकारों में चित्रिनी तथा यक्षिरणी नाम केवल रामकाव्य (केशव में) प्राप्त होता है जिनमें से चित्रिनी की ओर ऊपर संकेत हो चुका है। केवल एक स्थान पर केशव ने यक्षिरणी का संकेत किया है जो लंका वर्णन के प्रसङ्ग में एक नारी प्रकार के रूप में प्रयुक्त हुआ जो पक्षियों (तोता-मैना) को पढ़ाती हैं—

कहूँ यक्षिणी पक्षिरणी लै पढ़ावैं ।
नगी कन्याका पन्नगी को नचाव ।।[3]

जायसी ने यक्षिरणी नारी की सिद्धि राघवचेतन जैसे शैतान को बतलायी है—

राघय पूजा जाखिनी, दुइज देखावा सांझि ।[4]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, सं० रामचन्द्र शुक्ल, स्त्री भेद खण्ड, पृ० २३२ (प्रयाग १९३५)
२. इन्द्रावती : सं० डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १६, सप्त खण्ड (काशी १९०६)
३. रामचन्द्रिका, तेरहवाँ प्रकाश, पृ० २२६, सं० लाला भगवानदीन ।
४. जायसी ग्रन्थावली, स्त्री-भेद खण्ड, पृ० ४२० ।

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो जायसी में यक्षिणी एक तान्त्रिक हेय नारी प्रकार है जबकि केशव में वह एक हीन नारी रूप नहीं कही जा सकती है पर है वह सन्दर्भानुसार एक राक्षसी । अतः यक्षिणी प्रकार के अर्थों मे कवियों ने अपनी मनोवृत्ति के अनुसार परिवर्तन किया है और वह भी बहुत ही सीमित । अतः उनके स्वरूप पर योगिनी की तरह किसी प्रकार की धारणा का स्थिर करना नितान्त असम्भव है । समष्टि रूप से हम यही कह सकते हैं कि महामुद्रा साधना के शब्द प्रतीकों में मुद्रा के अतिरिक्त योगिनी तथा पद्मिनी प्रकारों को विशेष भावपरक नव अर्थों से समन्वित किया है और कवियों ने इन शब्दों को अपनी सगुण साकार भावना में तिल-तन्दुल का रूप प्रदान कर दिया है ।

रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के प्रतीक

८

रीतिकालीन कवि-परिपाटियों के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक वनस्पति संसार का और दूसरा जीवधारियों का। यहाँ प्रथम वर्ग पर ही विचार अपेक्षित है।

कवि-प्रसिद्धियों का आदितम रूप हमें आदिम जातियों के वृक्ष तथा पौधों के पूजा-भाव अथवा पवित्र-भावना में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दूसरा तत्व 'वृक्ष-दोहद' की भावना का भी है। इन दोनों तत्वों का समाहार कवि प्रसिद्धियों के उद्गम तथा विकास में प्राप्त होता है। दूसरी ओर केवल मात्र 'वृक्ष-दोहद' की भावना को ही इन परिपाटियों का स्रोत नहीं माना जा सकता है जैसा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।[१] इसके अतिरिक्त, कवि-परिपाटियों का उद्गम तथा विकास पौराणिक तथा धार्मिक स्रोतों से भी हुआ है। इन सभी तत्वों का एक समन्वित रूप हमें परिपाटियों में दृष्टव्य होता है।

आदिम ज़ातियों में जड़ पदार्थों में भी सचेतन-क्रिया का आरोप प्राप्त होता है इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वृक्ष तथा पौधों की भावना से सचेतन-क्रिया का आरोप किया गया है। वैसे तो ये प्रथायें तथा विचार अंधविश्वास ही थे, पर उनके अंतराल में प्रतीक-सृजन का स्रोत एक सत्य है। फ्रेजर[२] ने अपने अत्यंत खोजपूर्ण ग्रन्थ में इस ओर संकेत किया है। इन अंध विचारों ने ही जिज्ञासा को जन्म दिया और क्रमशः जड़-प्रकृति में मानवीय स्पंदन को देखा गया। आदिम जातियों ने वृक्षों तथा पौधों के उत्पन्न होने में और मानवीय प्रजननक्रिया में एक धूमिल समानता का

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२३

२. गोल्डन बाउ द्वारा फ्रेजर—ए स्टेडी इन मैजिक एण्ड रिलीजन, पुस्तक २, भाग १, अध्याय २, ३

अनुभव किया। इसी विश्वास ने वृक्ष को उर्वरता का प्रतीक बनाया। यही कारण है अनेक परिपाटियों में मिथुनपरक अर्थ की भी अवतारणा प्राप्त होती है। ऐसे कुछ उदाहरण हैं – श्रीफल, अशोक तथा प्रियंगु। इस मिथुन भाव में दोहद (पुष्पोद्‌गम) का भी अर्थ समाविष्ट है। यह एक यौनपरक (sexual) क्रिया है।

प्रश्न है कि दोहद की प्रवृत्ति का आरोपण नारी की क्रियाओं पर क्यों किया गया? इसका उत्तर हमें आदिम जातियों (आर्येतर) के विश्वासों में मिलता है। अनेक आदिम जातियों में प्रजनन क्रिया के प्रथम अनेक वृक्षों से नारी के प्रजनन अंगों के स्पर्श करने की प्रथा का संकेत मिलता है। इससे यह समझा जाता था कि स्त्री की उर्वरा शक्ति का विकास उस विशिष्ट पौधे या वृक्ष में स्पर्श के सम्भव है। फलतः इस अंधविश्वास के कारण वृक्षों की उर्वरा शक्ति से स्त्री का उत्तरोत्तर सम्बन्ध बढ़ता गया, और अंत में, स्त्री के अङ्गों के स्पर्श से पौधों तथा वृक्षों का पुष्पित तथा विकसित होना, एक प्रकार से, कवि प्रसिद्धि में परिवर्तित हो गया।

वृक्ष की इस उर्वरा शक्ति से पुराणों में वर्णित यक्षों, गंधर्वों तथा अप्सराओं का श्री अपरोक्ष सम्बंध है। नागों तथा यक्षों का देवता 'वरुण' है। वरुण जल का अधिपति है। वरुण से सम्बंधित यक्षि तथा यक्षणियां भी अपदेवता के रूप में रामायण तथा महाभारत में भी मान्य रहें।[1] अतएव इनका सम्बन्ध वृक्ष की उर्वरा शक्ति तथा जल से माना गया। अतः यक्ष को उर्वरता का प्रतीक माना गया। दूसरी ओर गंधर्व और अप्सरायें भी उर्वरता के प्रतीक हैं। इनका घनिष्ट सम्बंध इन्द्र से रहा। गंधर्व जल या सोम का रक्षक है[2]। ऋग्वेद में सोम को देवताओं के पिता का सृजनकर्ता भी कहा गया है। यह सोम वृक्ष पर्वतों पर प्राप्त होता है जहाँ गंधर्व वास करते हैं[3]। दूसरी ओर, गीता तथा उपनिषद् में गंधर्व को अमानवीय जीव भी कहा गया है। यहां तक कि कृष्ण ने अपने को गंधर्वों में चित्ररथ की संज्ञा प्रदान की है[4]। इस प्रकार गंधर्व शब्द एक विस्तृत क्षेत्र की व्यञ्जना करता है। इसी प्रकार अप्सरायें भी जल से सम्बंधित हैं जो उर्वरता की प्रतीक हैं।

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका – डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २२९

२. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—त्रिवेणी प्रसाद सिंह, पृ० ८८

३. इपिक्स, मिथ्स एण्ड लीजेन्ड्स आफ इन्डिया—पी० थामस, पृ० ६

४. गीता, विभूति योग, श्योक २६, पृ० ३६२ तथा बृहद् उपनिषद्, अध्याय ३ पृ० ६९२।

निरुक्तिकार ने अप्सरा की व्याख्या 'अपस्' अर्थात् जल में 'सरण' करनेवाली नारी-रूपिणी शक्ति से माना है। ऐसी स्त्रियों की कल्पना पाश्चात्य देशों में साइरन, मरमेड तथा निम्फ के रूपों में प्राप्त होती है[१]।

इन सब विवरणों से सिद्ध होता है कि यक्ष, गंधर्व तथा अप्सरायें, किसी न किसी रूप में, जल तथा वृक्ष से सम्बंधित हैं। वरुण भी जल का अधिपति है। जब वरुण का स्थान इन्द्र ने ग्रहण कर लिया, तो ये गंधर्व और अप्सरायें वरुण के हाथ से च्युत होकर इन्द्र के दरबार के गायक हो गए। इसी से, यक्ष और यक्षिणी तथा गंधर्व और अप्सरायें एकार्थवाची शब्द माने गए हैं।[२] यहां तक कि कामदेव और वरुण मूलतः एक ही देवता हैं जो उर्वरता के प्रतीक होने के कारण, वृक्ष से सम्बंधित हैं। जल का एक अन्य प्रतीक 'कमल' भी है जिसमें वरुण और उसकी स्त्री वास करते हैं। भारतीय साहित्य में कमल जल और जीवन का प्रतीक होने से अत्यंत मंगलमय माना है। कवि परिपाटियों में कमल और कामदेव का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार, इस प्रसंग में जिन कल्पित रूपों की अवतारणा की गई है, उनका प्रयोग कवि प्रसिद्धियों के रूप में, संस्कृत साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में होता रहा।

मैंने रीतिकालीन कवियों में बिहारी, मतिराम, केशव और सेनापति के काव्य को ही विवेचन का आधार बनाया है। इन कवियों ने अनेक वृक्षों तथा फूलों को अपनी भावाभिव्यंजना का प्रतीक बनाया है। ये प्रसिद्धियां उसी समय प्रतीक का कार्य करती हैं जब उनके द्वारा किसी भाव तथा विचार या वस्तु की व्यंजना होती है और उस व्यंजना में उनका परम्परागत रूप भी स्पंदित होता है।

चम्पक—चम्पक के प्रति यह प्रसिद्धि है कि वह रमणियों के मृदु हास से मुकलित एवं पुष्पित हो जाता है। सत्य में यह एक प्रसिद्धिमात्र है। मेघदूत में चम्पक के प्रति ऐसी ही प्रसिद्धि प्राप्त होती है[३]। रीतिकाल में चम्पक के प्रति ऐसी धारणा नहीं प्राप्त होती है, परन्तु, दूसरी ओर कवियों की भावाभिव्यंजना में वह अन्य संदर्भों की वाहक अवश्य बन गई है। एक स्थान पर बिहारी ने चम्पक को रूप-सौंदर्य का व्यंजक बनाया है :—

---

१. हिंदू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ, पृ० ८८

२. हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० द्विवेदी, पृ० २३१

३. वही, पृ० २४५

केसरि कै सरि क्यौं रुकै, चंपक कितक अनूप ।
गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप कौ रूप ।।[१]

यहां बिहारी ने चम्पक की प्रसिद्धि को व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर मतिराम ने चम्पक और भौरे के द्वारा नीतिपरक अर्थ-व्यंजना प्रस्तुत की है :—

सुबरन, बरन सुवास जुत, सरस दलनि सुकुमारि ।
ऐसे चम्पक कौ तजै, तै ही भौंर गँवारि ।।[२]

यहाँ पर चम्पक को सद्‌गुणों का और भंवरे को उस व्यक्ति का प्रतीक बनाया गया है जो सद्‌गुणों से युक्त 'वस्तु' का त्याग कर देता है ।

अशोक—अशोक एक अत्यंत रहस्यमय वृक्ष माना गया है । संस्कृत कवियों ने इसके गुच्छों तथा किसलयों का ही अधिक वर्णन किया है । ऐसी मान्यता है कि ये सुन्दरियों के वाम पदाघात से अथवा स्पर्श से खिल उठते हैं । राजशेखर तथा कालिदास ने इसी प्रसिद्धि को अपने काव्य में स्थान दिया है ।[3] मतिराम ने अशोक की इस प्रसिद्धि का अपने ढंग से प्रयोग किया हैं—

तेरो सखी सुहागबर, जानत है सब लोक ।
होत चरन के परस पिय, प्रफुलित सुमन अशोक ।।[४]

यहां पर अशोक की प्रसिद्धि का सहारा लेते हुए कवि ने उसे नायिका के हृदगत भावों का व्यंजक बनाया है ।

मालती—इसका वर्णन कविगण वसंत तथा शरद् ऋतु में नहीं करते हैं । रात्रि के आगमन पर ये प्रफुल्लित होते हैं । मतिराम ने इसका वर्णन किया है और उसे कामदेव (अतनु) की फुलवारी का एक वृक्ष माना है—

दिसि दिसि विगसित मालती, निसि नियराति निहारि ।
ऐसे अतनु-अराम में, भ्रम भ्रम भौर निवारि ।।[५]

---

१. बिहारी-सतसई; सं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, पृ० ४२।१०२
२. मतिराम ग्रन्थावली, सतसई, पृ० १७९।७४
३. हिंदी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; पृ० २३५
४. मतिराम ग्रन्थावली, सतसई, पृ० २३७।६५२
५. वहीं, पृ० १८९।१७७

मालती का विकसित होना नायिका के विकसित होने का प्रतीक है जब वह प्रिय के मिलन-मोद के वशीभूत हो जाती है। उस समय मानो मालती का आरोपण संयुक्तावस्था की नायिका का भावात्मक रूप प्रस्तुत करता है। इस प्रकार मतिराम ने मालती की प्रसिद्धि को मिलनेच्छा का प्रतीक बनाया है —

सकल कला कमनीय पिय, मिलन-मोद अधिकात।
विलसति मालति मुकुल निसि निसि, मुख मृदु मुसक्यात ॥[१]

मंदार—रीतिकालीन कवियों में मंदार के प्रति प्राप्त प्रसिद्धि का प्रयोग नहीं मिलता है। रीतिकाल में जो भी प्रयोग प्राप्त होता है वह अपनी विशिष्टता लिये हुए है। मूलतः उसका प्रयोग किसी भाव-विशेष की अभिव्यंजना के लिये हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि रीतिकवियों ने परम्परागत परिपाटी का भी उल्लंघन किया है और साथ ही, उस वस्तु का अर्थ-विस्तार भी किया है। मंदार के बारे में यह पूर्ण सत्य है। मंदार रमणियों के नर्म वाक्यों से कुसुमित होता है और इन्द्र के नंदनकानन का एक पुष्प है।[२] इस प्रसिद्धि में कल्पना का ही अधिक आश्रय है। परंतु रीति कवियों ने उसमें यथार्थ दृष्टि का भी सुन्दर काव्यात्मक समावेश किया है। बिहारी का निम्न दोहा मेरे कथन की पुष्टि करता है जहाँ पर उसने आक (मंदार) को मानवती नायिका का प्रतीक बनाया है जिसके पास उसका प्रिय (भंवरा) भी प्रेम के लिये नहीं आता है, यथा—

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक कली न रली करे, अली अली जिय जानि ॥[३]

आक के प्रति यह सत्य धारणा है कि वह ग्रीष्म में भी फूला रहता है। बिहारी ने एक अन्य स्थान पर इस तथ्य का सहारा लेकर मंदार को एक ऐसे निराश्रित एवं त्याज्य व्यक्ति का प्रतीक बनाया है जो संसार में किसी का भी दयापात्र नहीं है। फिर भी, वह विपरीत दशाओं में अस्तित्व के लिये द्वन्द करता है :—

जाकैं एकाएक हूँ, जग ब्यौसाइ न कोय।
सो निदाघ फूलैं फरै, आक डहडहौ होय ॥[४]

---

१. वहीं, पृ० २१७।५४२
२. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २५०
३. बिहारी सतसई, पृ० २४।६८
४. वही, पृ० १११।४६६

चंदन--चंदन वृक्ष का महत्व काव्य में व्यापक रहा है। इसके प्रति जो भी प्रसिद्धि काव्य में प्रचलित हुई, वह कवि-कल्पना में अनेक भावभूमियों की वाहक बन सकी। रीतिकाल में हमें इस प्रवृत्ति के स्पष्ट दर्शन होते हैं। कवि समयानुसार चंदन वृक्ष में फल फूल होते हैं, पर सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। अतः यह प्रसिद्धि केवलमात्र एक कल्पना है। चंदन के प्रति दूसरी प्रसिद्धि यह है कि यह केवल मलय पर्वत पर प्राप्त होता है और सर्पों से वेष्टित रहता है। जहां तक सर्प का प्रश्न है, यह सत्य है, पर इसका मलय पर्वत पर ही प्राप्त होना, एक कल्पना है। अतः चंदन के प्रति यह कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि में सत्व और कल्पना का सुन्दर समन्वय है। केशव ने चंदन की दोनों प्रसिद्धियों का वर्णन किया है —

केशवदास प्रकाश बहु, चदन के फल फूल।

अथवा

वर्णत चंदन मलय ही, हिमगिरि ही भुजपात।[१]

इसके अतिरिक्त केशव ने चंदन को शृंगार का एक अंग भी माना है जिसे स्त्रियां प्रयुक्त करती हैं।[२] मतिराम ने मुख के सौंदर्य की सादृश्यता चंदन से इस प्रकार प्रस्तुत की है--

उजियारी मुख इंदु की, परी कुचनि उर आनि।
कहा निहारति मुगधि तिय, पुनि पुनि चंदन जानि।।[३]

कमल—कवि समय है कि पद्म के सात प्रकारों में 'कुमुद' केवल जलाशयों में ही प्राप्त होते हैं। पौराणिक क्षेत्र में विष्णु के लिये श्वेत पद्म तथा शक्ति के लिये रक्तपद्म का वर्णन मिलता है।[४] इसी प्रकार पद्म की तरह नीलोत्पल का नदी तथा समुद्र में वर्णन नहीं होना चाहिए। नील कमल का वैष्णव साहित्य में भी संकेत प्राप्त होता है। असल में, यह कही भारत में होता है या नही, इसमें विद्वानों को

---

१. कविप्रिया द्वारा केशवदास, सं० लाला भगवानदीन, पृ० ३६ तथा ३६
२. कविप्रिया, केशव, पृ० ३८
३. मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १८८।१७१
४. कल्याण, संख्या २, फरवरी १६५०, वर्ष २४ में 'हिंदू संस्कृति और प्रतीक' द्वारा प्राणकिशोर स्वामी, पृ० ६४०

संदेह है। नीलोत्पल दिन में नहीं खिलता है, परंतु पद्म दिन में ही खिलते हैं और उनके मुकुल हरे होते हैं।[१]

कमल या पद्म (सरोज-कंज) का संकेत रीतिकाव्य में यदा कदा मिल जाता है, परंतु प्रसिद्धि के तौर पर अत्यंत न्यून। मेरे देखने में कमल की प्रसिद्धि का निषेधात्मक रूप ही मिलता है। सेनापति ने सरोज का सरोवर में प्रफुल्लित होने का वर्णन निषेध रूप में इस प्रकार किया है।

दामिनी ज्यौं भानु ऐसे जात है चमकि ज्यौ न
फूलन हूँ पावत सरोज सरसीन के।[२]

इसी प्रकार, नीलोत्पल की यह प्रसिद्धि कि वह रात्रि में ही खिलता है और दिन होने के साथ कुम्हलाने लगता है—इसका भावात्मक चित्रण मतिराम ने इस प्रकार किया है—

दुहूँ अटारनि मैं सखी, लखी अपूरब बात।
उतै इंदु मुरझात है, इतै कंज कुँम्हलात॥[३]

इन प्रसिद्धियों के अतिरिक्त कमल को अन्य संदर्भों का भी प्रतीक बनाया गया है। वह प्रेम तथा प्रणय का भी प्रतीक है। कहीं वह नैन के प्रफुल्लित होने तथा मुख की शोभा का प्रतीक माना गया है। केशव ने कमल को चमत्कारिक विधि से दो संदर्भों का वाहक बनाया है। उन्होंने कमल के द्वारा वियोगिनी नायिका के नीर भरे नेत्रों का भाव कमल को उलटा करके व्यंजित किया है। दूसरी ओर, उसी कमल को कली बना कर लौटाने का अर्थ यही है कि जब रात्रि में कमल संकुचित हो जायेंगे। तब मैं तुमसे मिलूंगा। सत्य में यहाँ भाव, संवेदना तथा प्रेम के मिलन-सुख का सुन्दर प्रतीकात्मक निर्देशन प्राप्त होता है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं जब गोप सभा में बैठे कृष्ण के पास एक गोपी आती है और—

तिनको उलटों करि आनि दियो, केहुँ नीर नयो भरिकै।
कहि काहे ते नेकु निहारि मनोहर फेरि दियो कलिका करिकै॥[४]

---

१. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० २४७
२. कवित्त रत्नाकर, सं० उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ ६७।४७
३. मतिराम ग्रन्थावली, पृ० १९३।२१७
४. कविप्रिया, केशव, पृ० २००।४६

उपर्युक्त कवि-परिपाटियों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रतीकों का कलात्मक रूप ही कवियों को मान्य है। इन प्रतीकों में भाव तथा रूप (Form) दोनों का समन्वय प्राप्त होता है, पर 'रूप' का आग्रह अधिक है। सत्य में रीति काव्य में रूढ़ि परम्पराओं के पालन के साथ उन परम्पराओं में नवीन उद्भावनायें भीं यदा कदा मिल जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि परिपाटीगत प्रतीक, भावों तथा संवेदनाओं की दृष्टि से, कहीं अधिक हृदयग्राही एवं स्वाभाविक हैं। इन प्रतीकों के द्वारा हमारी प्राचीन परम्परा का एक कलात्मक उन्मेष ही प्राप्त होता है।

सेनापति के श्लेषपरक प्रतीक

९

अलंकारों में प्रतीक की स्थिति सम्भव है। वस्तुतः अलंकारों का प्रतीकात्मक महत्व शब्द की लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों पर निर्भर करता है। शब्द एवं उसके अर्थ-विस्तार पर ही अलंकार की आधारशिला प्रतिष्ठित है। अनेक ऐसे काव्यालंकार हैं जिनमें शब्द प्रतीकों के अर्थ-विस्तार पर 'रस' का उद्रेक होता है। अलंकारों में यमक तथा श्लेष में प्रतीक की स्थिति शब्द-परक ही है।

श्लेष में शब्द के अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं, परन्तु शब्द का प्रयोग एक बार ही होता है। शब्द का यह अर्थ वैविध्य उस शब्द की विशिष्ट अर्थाभिव्यक्ति के कारण होता है। यहीं पर शब्द-प्रतीक की स्थिति स्पष्ट होने लगती है और अन्त में वह स्थिर हो जाती है। इस प्रकार, अर्थ-समष्टि के अभिव्यक्तिकरण में प्रतीक किसी शब्द-विशेष का आश्रय ग्रहण करता है। यह शब्द उस सप्तखण्ड के समान है, जिसके अर्थ की अनेक रश्मियां इष्ट दिशाओं में गतिशील होती हैं। अतः, शब्द अनेकार्थी होकर विस्तृत संदर्भ (reference) को किसी विशिष्ट भाव या विचार में केन्द्रीभूत कर देते हैं। श्लेषगत प्रतीकों का औचित्य इसी तथ्य पर आश्रित है कि वहां पर केवल 'एक' शब्द, सादृश्य के आधार पर दो संदर्भों में स्थिर होकर, प्रतीकात्मक व्यंजना प्रस्तुत करता है। उदाहरणस्वरूप 'घनश्याम' शब्द को लीजिए। यह शब्द प्रतीकात्मक रूप उसी समय धारण करेगा जब वह 'मेघ' के साथ साथ किसी अन्य भाव, व्यक्ति या वस्तु की गतिशीलता में स्थिर हो जाय। रीति-काल के कवि सेनापति में ऐसे प्रतीकों का सुन्दर समाहार प्राप्त होता है।

सेनापति के श्लेष-वर्णन में प्रतीकों की स्थिति दो बातों पर आश्रित है। प्रथम यह कि कवि श्लेष के द्वारा किसी भाव या विचार की उद्भावना किस सीमा तक कर सका है? दूसरे, यह उद्भावना दो वस्तुओं की तुलना, समानता अथवा असमानता पर आश्रित है। कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जिनमें दो विपरीत वस्तुओं में अन्योन्याश्रित समानता दिखायी गयी है। यहाँ प्रतीक की दशा उसी समय मान्य

होगी, जब इन दोनों पक्षों में एक दूसरे की धारणा या भाव की समान व्यंजना होगी। कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें एक 'शब्द' की संधि पर दो अर्थ-पक्षों की अवतारणा होती है और पक्ष दूसरे में स्थिर होकर प्रतीक के भाव को स्पष्ट करता है। इन प्रतीकों का अर्थ, शब्द-विश्लेषण तथा अर्थ-विविधता की सम्मिलित प्रक्रिया के द्वारा स्पष्ट होता है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत, कवि दो विपरीत वस्तुओं में समानता दिखला कर 'प्रतीक' की अवतारणा करता है। सामान्यत:, यहाँ पर भी शब्द के विविध अर्थ कभी-कभी शब्द-विश्लेषण के द्वारा व्यंजित होते हैं। सेनापति तथा बिहारी में इनका सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है। सेनापति ने एक स्थान पर गोपियों के प्रेम और दूसरी ओर कुब्जा के प्रेम में, जो संदर्भानुसार दो छोर ही कहे जा सकते हैं, समानता की अवतारणा कर, एक के भाव को दूसरे का प्रतिरूप बना दिया है। इसमें जहाँ एक ओर काव्य-चातुर्य के दर्शन होते हैं, वहीं पर गोपियों के आंतरिक विक्षोभ की व्यंजना भी होती है।

कुबिजा उर लगायी हमहूँ उर लगायी
पी रहे दुहूँ के, तन मन वारि दीने हैं।
वै तो एक रति जोग, हम एक रति जोग,
सूल करि उनके, हमारे सूल कीने हैं।।
कुबरी यौ कलिपैहै, हम इहाँ कल पैहैं,
सेनापति स्याम समुझै यौ परबीने हैं।
हम-वे समान उधौ! कहौ कौन कारन तै,
उन सुख मानै, हम दुख मानि लीने हैं।।[1]

अर्थ स्पष्टीकरण के लिए दोनों पक्षों में जो श्लेष शब्द समान प्रयुक्त हुए हैं, उनकी तालिका निम्न है—

शब्द		गोपी पक्ष	कुब्जा पक्ष
उर लगायी	(अर्थ-विविधता)	प्रेम किया	प्रेम किया
पी रहे दुहूँ	(,, ,,)	प्रेमी रहे	प्रेमी रहे
रति जोग	(,, ,,)	योग	शृंगार भोग
सूल करि	(,, ,,)	मन में शूल (पीड़ा)	गले में माला पहनाया
कल पैहै	(शब्द-विश्लेषण)	सुख पायेगी (कल पैहै)	दु:खी होंगी (कलपै हैं)

---

१. कवित्त-रत्नाकर, सं० पं० उमाशंकर शुक्ल, पहली तरंग, पृ० २१।६६

इसी प्रकार, एक अन्य कवित्त में सूम तथा दानी जैसे विपरीत व्यक्तियों में समानता प्रदर्शित की गयी है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विपरीत धारणाओं तथा भावों का यह शब्द-परक नृत्य ही श्लेषगत प्रतीकों की कसौटी है। जिस बात को सेनापति अति विस्तार से कहते हैं, उसी बात को बिहारी सूक्ति रूप में कहते हैं। सेनापति का काव्य-माधुर्य शब्द-परक अर्थ-समष्टि है तो बिहारी का काव्य-सौंदर्य शब्द और ध्वनि से शासित अर्थ-समष्टि का द्योतक है। एक उदाहरण है—

> जोग जुगति सिखये सबै, मनो महामुनि मैन।
> चाहत पिय अद्वैतता, कानन सेवत नैन॥[2]

इस दोहे में योगी और भोगी (नायिका) के विपरीत भावों की व्यंजना प्रस्तुत की गयी है। यहाँ पर चार श्लेषगत शब्द हैं, जोग (योग), पिय, कानन तथा अद्वैतता। योग (जोग) शब्द का अर्थ योगी पक्ष में योग है तो नायिका पक्ष में संयोग सुख है। पिय का अर्थ एक पक्ष में ईश्वर है तो दूसरे पक्ष में में प्रियतम है। अद्वैतता का अर्थ योगी पक्ष में परम तत्व से एकात्म-भाव की अनुभूति है तो नायिका पक्ष में प्रिय से मिलन का प्रतीक है। कानन का एक पक्ष में अर्थ (नायिका) 'कानों तक' है तो दूसरे पक्ष में उसका अर्थ वन है।

इन विपरीत योजनाओं में अनेक ऐसी भी योजनाएँ हैं जो धार्मिक देवों से सम्बन्धित हैं। इन देवों में अभिन्नता का समावेश अवश्य किया गया है, पर सत्य में, जहाँ तक उनकी धारणा का प्रश्न है, वे विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हैं। उदाहरणस्वरूप सेनापति ने एक स्थान पर राम की भावना का आरोप कृष्ण की भावना पर किया है।[3] इस प्रकार राम के द्वारा कृष्ण के प्रतीक रूप का स्पष्टीकरण होता है। प्रतीकात्मक अर्थ की दृष्टि से, पौराणिक व्यक्तियों के रूप का कोई न कोई प्रतीकार्थ अवश्य होता है। सेनापति के ऐसे उदाहरणों को हम इसी दृष्टि से प्रतीक के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

इन विपरीत योजनाओं के अतिरिक्त दूसरा वर्ग ऐसे उदाहरणों का है जो एक 'शब्द' की संधि के द्वारा दो पक्षों की अर्थ-समष्टि की व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणस्वरूप, सेनापति का निम्न छंद लीजिए जिसमे 'उमाधव' व शब्द की संधि (विश्लेषण) करने पर दो पौराणिक व्क्तियों शिव और विष्णु की समानता प्राप्त होती है—

---

१. वही, पहली तरंग, पृ० १६।४०
२. बिहारी सतसई, सं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', पृ० २०।५४
३. कवित्त-रत्नाकर, पहली तरंग, पृ० २२।६६

सदा नन्दी जाको आसाकर हैं विराजमान,
नीको घनसार हूँ तै बरन है तन कौ ।
सैन सुख राखै सुधा दुति जाके सेखर हैं,
जाकै गौरी को रति जो मथन मदन कौ ।।
जो है सब भूतन कौ अन्तर निवासी रमै
धरै उर भोगी भेष धरत नगन कौ ।
जानि बिन कहै जानि सेनापति कहै मानि,
बहुधा उमाधव कौ भेद छाड़ि मन कौ ।।[१]

श्लेष-शब्द		शिव पक्ष	विष्णु पक्ष
सदा नन्दी	(शब्द-विश्लेषण)	नंदी के साथ	सदा आनन्दमय (सदानंदी)
आसाकर	(,, ,,)	हाथ	वरदहस्त
घन सार	(अर्थ-विविधता)	कपूर सा सुन्दर वर्ण	कपूर सा वर्ण
सैन सुख	(शब्द-विश्लेषण)	योग में समाधिस्थ	क्षीरसागर में शयन का सुख (सयन सुख)
सुधा दुति	(अर्थ-विविधता)	जिनके मस्तक पर चंद्रमा	सुधावर्ण द्युतिवाला
सेखर		भासमान है (सेखर)	शेषनाग
गौरी की रति	(शब्द-विश्लेषण)	पार्वती का शृंगार (काम)	जिसकी उज्ज्वल कीर्ति है जो मदों को नष्ट करता है (गौरी की रति.... मदन मथन)
सब भूतन	(अर्थ-विविधता)	समस्त भूतों में	सब गणों के
रमै	(,, ,,)	व्याप्त है	रमा या लक्ष्मी
धरत नगन कौ	(,, ,,)	जो नग्न रहता है	जो पर्वत को धारण करता है (गोवर्धन)

१. कवित्त-रत्नाकर, पहली तरंग, पृ० १२।३८

सेनापति के काव्य-चातुर्य में इस प्रकार के श्लेषगत प्रतीकों में 'घनश्याम' शब्द भी विशेष महत्व रखता है, जो एक साथ मेघ और कृष्ण पक्षों का समान अर्थबोधक शब्द है। कवि मेघ की भावना का आरोपण कृष्ण के प्रतीकार्थ में करता है, जब तक कि उस वस्तु (मेघ) का क्रमिक अर्थ-विस्तार कृष्ण की भावना को पूर्णरूपेण अपने में समेट नहीं लेता है। सेनापति ने गोपियों के व्याज के द्वारा, मेघ की सादृश्यता कृष्ण से इस प्रकार प्रतिष्ठित कर दी है—

सेनापति जीवन अधार निरधार तुम,
जहाँ को ढरत तहाँ टूटत अरसते।
उनै उनै गरजि गरजि आये घनश्याम,
ह्वै के बरसाऊ एक बार तो बरसते ॥[1]

अथवा

सारंग धुनि सुनावै, घुन रस बरसावै
मोर मन हरषावै, अति अभिराम हैं।
× × ×
संपै संग लीन सनमुख तेरे बरसाऊ
आयो घनश्याम सखी मानो घनस्याम हैं ॥[2]

यहाँ पर श्लेषपरक शब्द सारंग, मोर, संपै तथा घनस्याम हैं। सारंग का अर्थ मेघ पक्ष में घन-गर्जन है और कृष्ण पक्ष में वेणु-ध्वनि है। मोर का अर्थ क्रमशः 'मयूर' और 'मेरा' है तथा संपै का अर्थ क्रमशः 'विद्युत' और 'ऐश्वर्य' है। इस प्रकार शब्दों की अर्थ-विविधता मेघ को कृष्ण का प्रतीक बना देती है। बिहारी ने भी, एक स्थान पर, श्लेषपरक शब्दों के विविध अर्थों के द्वारा मेघ को कृष्ण का प्रतीक रूप प्रदान किया है—

बाल बेलि सूखी सुखद, इहि रूखी रुख घाम।
फेरि डहडही कीजिए, सुरस सींचि घनस्याम ॥[3]

---

१. वही, पृ० २१
२. कबित्त रत्नाकर, पहली तरंग, पृ० ४।१२
३. बिहारी सतसई, पृ० ६४।२१६ तथा इसी भाव का एक दोहा मतिराम ग्रन्थावली, पृ० २४०।६७८ में भी प्राप्त होता है।

यहाँ पर बाल बेलि, डहडही और सुरस श्लेषपरक शब्द हैं जो क्रमशः मेघ पक्ष में 'नवविकसित बेल', हरित या मुकलित और जल के अर्थों को और कृष्ण पक्ष में गोपी (नायिका), 'प्रफुल्लित' एवं प्रेम रूप रस के अर्थों की एक साथ व्यंजनाकर मेघ की भावना को कृष्ण के रूप में स्थिर कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त, सेनापति ने कृष्ण के प्रतीकत्व को एक अत्यन्त अद्भुत वस्तु 'कमान' के द्वारा व्यंजित किया है। कवि ने 'कमान' के कार्यव्यापारों को कृष्ण की निष्ठुरता एवं उदासीनता का एक सुन्दर प्रतिरूप ही बना डाला है। इस सादृश्य भावना को कुछ शब्द अपनी व्यंजना में गतिशील होकर दो अर्थों में व्यंजित करते हैं। 'ज्यारी' शब्द कमान के पक्ष में 'जारी' (प्रत्यंचा) का और कृष्ण पक्ष में 'साहस' का अर्थ देता है। दूसरा शब्द 'गोसे' है जो कृष्ण पक्ष में 'एकांत' का और कमान पक्ष में धनुष की दोनों नोकों का वाचक है। तीसरा शब्द 'तीर' है जिसका अर्थ क्रमशः बाण तथा संयोग है। इसी प्रकार एक पूरी पंक्ति 'पहिली नवनि लही जाति कौन भाँति हैं' दोनों पक्षों के अर्थों को स्पष्ट करती है। कृष्ण पक्ष में इस पंक्ति का व्यंग्यार्थ यह हुआ कि गोपियाँ कृष्ण के द्वारा जो सम्मान एवं प्रेम पहले प्राप्त करती थीं, उसे वे अब कैसे प्राप्त करें, जब कृष्ण निष्ठुर हो गये हैं। दूसरी ओर कमान पक्ष में इसका अर्थ यह हुआ कि कमान को पहले सा झुकाव कैसे प्राप्त हो ?[१]

श्लेष-प्रतीकों में सादृश्य-भावना का दूसरा रूप उन उदाहरणों से प्राप्त होता है, जिनमें किसी विशिष्ट संवेदना अथवा भाव (सौंदर्य भी) को मुखर रूप दिया जाता है। मूलतः किसी नारी का सौंदर्य-वर्णन हमारे भावों को सुखानुभूति की ओर उन्मुख करता है। कदाचित् इसी भाव को व्यक्त करने के लिए सेनापति ने नवग्रहों के वर्णन के द्वारा किसी नायिका के सौंदर्य की सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की है। निम्न छंद में रेखांकित शब्द नवग्रहों का संकेत करते हैं, जिनका बाल पक्ष में अर्थ कोष्ठक में दिया गया है—

> **अरुन** (सूर्य-लाल) अधर सोहै सकल वदन **चंद** (मुख),
> **मंगल** (शुभ) दरस **बुध** (बुद्धिमत्ता) बुद्धि कै विसाल हैं।
> सेनापति जासौ **जिव** (युवा) जन सब **जीवक** है (वृहस्पति; जीवनी शक्ति)
> (नारी)
> **कवि** (शुक्रग्रह; पंडित नारीपक्ष में) अति **मंदगति** (शनि; धीमी चाल)
> चलति रसाल हैं।।

---

१. कवित्त-रत्नाकर, पहली तरंग, पृ० ९-१०।२९

तम-चिकुर (काले रंगवाला राहु जिसका अर्थ काले केशों से ध्वनित होता है।)

केतु काम (काम ध्वजा की विजयनिधि)

जगत जगमगत जाके जोति जाल हैं।

अंबर लसत भुगवति सुख रासिन कौ,

मेरे जान बाल नवग्रहन की माल है ॥[१]

इसी प्रकार कवि ने कहीं पर अमरावती या इन्द्रपुरी के वर्णन द्वारा 'भावती प्रियतमा' के रूप-सौंदर्य की व्यंजना की है[२] तो कहीं पद्मिनी नारी के मुख की सुन्दरता को व्यक्त करने के लिए तामरस या कमल का प्रयोग किया है।[३]

इन रूप-चित्रों के अतिरिक्त रीतिकाव्य की भावभूमि में प्रेम तथा विरह का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विरहजनित अवस्था का वर्णन करने के लिए कवि ऐसे प्रतीकों का चयन करता है, जो विरहिणी के भावों तथा संवेदनाओं की तीव्रतम व्यंजना कर सके। ऐसे प्रतीकों का चयन भाव साम्य तथा क्रिया साम्य के आधार पर होता है। जीवधारियों का जगत् एक ऐसा ही माध्यम है, जो विरह को तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त करता है। सेनापति ने विरहावस्था की तीव्र व्यंजना करने के लिए 'हरिनी' को ब्रज विरहिणी का प्रतीक बनाया है। कवि कहता है—

हरिन है संग बैठी जोबन जुगारति है।

तिन ही कौ मन-बच-क्रम-उमहति है।

जाकौ मन अनुराग बस ह्वै के रह्यौ मधु,

बड़े बड़े लोचननि चंचल चहति है॥

सेनापति बार बार सिकार तहाँ,

मदन महीप तातैं सुख न लहति है।

कुंज कुंज छाँह तन तपित बरावति है,

हरिनी ज्यौं ब्रज की विरहिनी रहति है॥[४]

---

१. कवित्त-रत्नाकर, पहली तरंग, प० १०।३१
२. वही, पहली तरंग, पृ० ७।२२
३. वही, पृ० ७।२१
४. कवित्त-रत्नाकर, पृ० २७।८४

		हरिनी पक्ष	विरहिणी पक्ष
हरिन	(शब्द-विश्लेषण)	हरिन	हरि या कृष्ण नहीं है (हरि न हैं)
तिन	(अर्थ-विविधता)	घास	उन्हीं को (कृष्ण)
मधु	(,, ,,)	पानी	प्रेम भाव
लोचननि चंचल	(शब्द-विश्लेषण)	चंचल नेत्र	अचंचल या निश्चल नेत्र (लोचन निचंचल)
मदन	(अर्थ-विविधता)	गर्विष्ट	काम

इन श्लेषगत प्रतीकों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सेनापति ने इन चामात्कारिक प्रतीकों के द्वारा मानवीय भाव-जगत्, मानवीय जीवन एवं धार्मिक जगत् के रूपों को व्यंजनात्मक शैली में रखने का प्रयत्न किया है। मूलतः, कवि ने किसी भाव या वस्तु की व्यंजना के लिए जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, उनमें से कुछ नवीन हैं और कुछ परम्परा के हैं। इससे यह भी स्वयं साक्ष्य है कि रीतिकाव्य के समस्त प्रतीक रूढ़ि परम्परा के ही नहीं हैं, उनमें से अनेक स्वयं कवियों के अपने हैं। यही प्रवृत्ति हमें रीतिकाव्य के अन्योक्तिगत प्रतीकों में भी द्रष्टव्य है। समस्त प्रतीकात्मक उद्भावनाएँ स्वाभाविकता की अपेक्षा कलात्मकता की ओर अधिक उन्मुख प्राप्त होती हैं और यह तथ्य अलंकारगत प्रतीकों के बारे में पूर्ण सत्य है। यही कारण है कि इन प्रतीकों में विचारोद्भावना का वह रूप नहीं मिलता है जो कबीर, सूर तथा जायसी में प्राप्त होता है। परन्तु, फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्लेषगत प्रतीकों में कलात्मकता के साथ-साथ कहीं-कहीं पर भाव-जगत् का सुन्दर रूप व्यंजित होता है।

आधुनिक रचना-प्रक्रिया और विसंगति

१०

आधुनिक मूल्यों तथा प्रतिमानों को लेकर अनेक वाद-विवाद होते रहे हैं और उनके संदर्भ में यदा कदा विसंगतियों के महत्व को स्वीकारा गया है। आधुनिक रचना प्रक्रिया में विसंगतियों का जो स्वरूप तथा उनका बिंबात्मक प्रयोग दिखाई देता है, उसने जहाँ शिल्पगत प्रभाव डाला है, वहीं रचनाकार के भावात्मक एवं बौद्धिक चेतना को एक नवीन दिशा प्रदान की है। इस विसंगति के पीछे कौन सी मनोवृत्तियाँ तथा परिस्थितियाँ, कार्य करती रही हैं, इसका विश्लेषण अपेक्षित है। इसके लिये मैं केवल एक क्षेत्र-वैज्ञानिक प्रगति को ही, अपने विवेचन का आधार बनाकर विश्लेषण प्रस्तुत करूंगा।

विसंगति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस पर विचार करें कि विसंगति है क्या ? वैसे तो इसे परिभाषित करना कुछ कठिन है, क्योंकि शब्द की अर्थ-प्रतीति से सभी परिचित हैं। फिर भी रचना प्रक्रिया के संदर्भ में विसंगति का अर्थ वह यथार्थमूलक मनोवृत्ति है जो बाहरी परिस्थितियों से उद्भूत होकर, उन्हीं परिस्थितियों एवं परिवेशों के प्रति एक विचित्र आक्रोश है जो ऊपर से तारतम्यहीन लगता है, पर अंदर से उसमें एक संवेदनात्मक संगति होती है। शायद इसी अर्थ में हम विसंगति को एक तात्विक रूप में देख सकते हैं। इसी कारण, विसंगति का महत्व आधुनिक काव्यात्मक भाषा में एक आंतरिक क्षमता के रूप में देखा जा सकता है जो भाषा के स्तर पर अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है जिसका विवेचन यथास्थान होगा। विसंगति के अन्तर्गत हम अनेक तत्वों को शामिल कर सकते हैं, और हो सकता है कि ये तत्व अनेकों को पर्यायवाची लगे। उदाहरणस्वरूप, विडंबना

निरर्थकता, अर्थहीनता ऐसे ही तत्व हैं जो अपनी भूल अर्थवत्ता में विसंगति के समान ही लगते हैं। कदाचित इसी से क्लींथ बुक्स ने अपनी पुस्तक "वेलराटअर्न" में विसंगति एवं बिडम्बना को काव्य भाषा की आंतरिक क्षमता के रूप में स्वीकारा है और विसंगति की आधुनिक स्थितियों एवं मन: स्थितियों के घात-प्रतिघात का एक अभिव्यक्तिकरण माना है।

इस तथ्य के प्रकाश में हम वैज्ञानिक प्रगति की बात को उठाते हैं। इसके दो पक्ष है। एक पक्ष उसके तकनीकी प्रगति से सम्बंधित है और दूसरा पक्ष उसके अनुसंधानों से उद्‌भूत चितंन व दर्शन का वह क्षेत्र है जो मानव, विश्व तथा प्रकृति के प्रति अनेक प्रस्थापनाएं प्रस्तुत करता है। यही पक्ष विज्ञान के दर्शन की ओर संकेत करता है जिसकी ओर आज का विज्ञान क्रमश: गतिशील है। हमारी अनेक परम्परागत मूल्यों की धरणा में इस प्रगति ने परिवर्तन भी किया है, तो दूसरी ओर अनेक मूल्यों को, नकारा भी हैं। अत: विज्ञान की दृष्टि से, कोइ भी मूल्य निरपेक्ष नहीं होता है, वह सापेक्षिक होता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक श्री जे सूलीवेन ने मूल्यों के विश्लेषण के अन्तर्गत इस तथ्य को सामने रखा है कि भौतिकी (Physics) का सत्य संसार हमारे इद्रियानुभव से काफी परे है और उसके अनेक मूल्य अस्थायी है और सम्पेक्षिक। (The Limitations of Science) P. 162

इस दृष्टि से 'विसंगति' को हम निरपेक्ष रूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं क्योंकि उसका सबंन्ध परिस्थितियों और मन:स्थितियों की सम्पेक्षता में है। विज्ञान की प्रगति ने तकनीकी सुविधाओं का वरदान मानव को १८ वीं शताब्दी से देना आरंभ किया। इस प्रगति ने योरूप की समस्त समाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों में केवल क्रांति ही उपस्थिति नहीं की पर उसके साथ साथ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की शोषण प्रक्रिया को जन्म दिया। इग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने मशीनी सम्यता को जन्म दिया और इन मशीनों ने मानव को शोषित एवं कुठित भी काफी किया। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाओं ने मानव के अंतरमन को आंदोलित किया और इसका फल यह हुआ कि क्रमश: मानव को निरर्थकता एवं विसंगतियों का शिकार बनना पड़ा और वह अपने को अकेला, अजनबी समझने लगा। इस अजनबीपन तथा अकेलेपन के बोध के पीछे उसकी आंतरिक विक्षुब्धता का ही प्रदर्शन है जो द्वितीय महायुद्ध के बाद रचाना प्रक्रिया में अत्यंत उभर कर आया। रचनाकार ने निरर्थकता एवं विसंगतियों के एक घुटनपूर्ण वातावरण को प्रस्तुत किया। काम्, सात्र, तथा इलियट के साहित्य को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उनमें प्रयुक्त विसंगतियों, तनाव, मृत्युसंत्रास तथा घुटन विघटन की समस्त प्रक्रियायें समसामयिक परिस्थितियों की सापेक्षता में देखी

जा सकती हैं । टी० एस० इलियट की 'वेस्टलैंड' रचना आदि मानवीय उपपत्तियों पर आधुनिक तनाव तथा व्यंग्यपूर्ण विसंगतियों (राजनीतिक सामाजिक) को सामने रखती है । इसी प्रकार कांमू के एक नाटक 'कैलीगुला' में कैलीगुला को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है जो अपने संदेश को दूसरों तक पहुंचाने के लिये सबसे अच्छा मार्ग यह समझता है कि वह बिना कारण दूसरों को कत्ल करवाता चले । बात तो यह अत्यंत विसंगतिपूर्ण है, पर यह उस मनोवृत्ति का सूचक है जो तानाशाही मनोवृत्ति पर एक तीखा व्यंग्य है । अत: आज के रचनाकार के लिये विसंगतियों का महत्व मान्य है क्योंकि अस्तित्व तथा परिस्थिति की तनावपूर्ण स्थिति में व्यक्ति विसंगतियों का शिकार होता ही है । परंतु इन विसंगतियों को अर्थवत्ता प्रदान करना ही आज के रचनाकार का दायित्व है और इस दृष्टि से हमारे आज के अनेक कवि तथा नाटककार प्रयत्नशील हैं । मैं यह मानता हूँ कि विसंगति की दृष्टि से, आज की कविता तथा नाटक अधिक प्रेरित हो रहे है । इसका कारण है उसका आंतरिक रूप से रचनाकार की रचना-प्रक्रिया से सीधा सम्बंधित होना क्योंकि आज के जीवन की विघटनपूर्ण स्थितियों का चित्रण करना और वह भी ईमानदारी से, आज के रचनाकार की पहली तथा अंतिम शर्त है । वैसे तो ईमानदारी सदैव ही वृतिकार की शर्त रही है, पर आज के वैविध्ययूर्ण उहाँपोह में ईमानदारी का महत्व एक अपना विशिष्ट स्थान रखता है । आज की विसंगतियों को ईमानदारी से ग्रहण करना और उसके सही बिंब को मानस-पटल पर उतार देना कि वह ऊपर की विसगति, रचना प्रक्रिया में एक आंतरिक संगठन को व्यक्त करदे, यहीं पर विसंगति को अर्थवत्ता प्राप्त हो सकती है, नहीं तो विसंगति केवलमात्र एक चमत्कार एवं विदग्धता का रूप ही रह जायगी । कबीर की उल्टवासियों में भी विसंगति प्राप्त होती है, पर वहाँ पर विसंगति का रूप कहीं अधिक क्लिष्ट और किसी मत अथवा संप्रदाय की भावभूमि को ही सामन्यत: प्रकट करता है पर आज की कविता में विसंगति का जो भी स्वरूप मिलता है, वह उसके परिवेश से कहीं अधिक सम्बंधित है और यह किसी मत अथवा पूर्वाग्रह के आधार पर विकसित नहीं हुआ है ।

मैं अपने उपर्युक्त मत को एक दो उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहता हूँ । आज की जीवन स्थितियों की विडंबनापूर्ण दशाओं के पीछे एक ऐसी मन:स्थिति बन जाती है जो व्यर्थता एवं अर्थहीनता का बोध देती है । यह अर्थहीनता जब किसी अर्थवत्ता को व्यक्त (Significance) करती है, तब विसंगति का अर्थबोध एक महत्व की भी व्यंजना करता है । आँतरिक शून्य की अर्थहीनता का एक आधुनिक रूप निम्न पंक्तियों में दर्शित है—

तुम्हें मालूम है—
दोनों को बराबर बराबर
बाँट सके,
जिससे धाँय धाँय, हाय हाय
बंद हो जाए
और नाखून से भी नहीं
खुर और पूँछ से इतिहास लिखा जाय !

(श्रीराम वर्मा)

उयर्युक्त कविता को पढ़ने से एक स्थिति का बोध होता है जो हमे एक निष्क्रिय अर्थवत्ता के प्रति सचेत करती है। अंतिम दो पंक्तियों में खुर और पूँछ के प्रयोग के द्वारा रचनाकार इतिहास की व्यंग्यात्मक परिस्थिति को संदर्भ की एक गरिमा से मंडित करता है। परंतु एक बात अवश्य है कि इस कविता में अर्थबोध पहली कविता की अपेक्षा कहीं अधिक दुसह है क्योंकि इस कविता के बिंब कवि की रचना प्रक्रिया में उस हद तक घुलमिल नहीं गए है जो उसके अर्थ को गतिशील महत्व की गरिमा दे सके। विसंगति के रूप निर्माण की एक विशेषता यह भी मानी जा सकती है कि वह बिंबों एवं प्रतीकों को किस सीमा तक एक अर्थवत्ता प्रदान कर सके है।

मेरे हाथ में कुछ नही है
फिर भी मेरी मुट्ठी
बंद है।
यह बात किसी से न कहो—
क्योंकि —
हो न हो यह स्थिति तुम्हारी भी हो—
इसीलिये चुप रहो !—

(चंद्रकांत कुसनूरकर)

कवि की रचना-प्रक्रिया के संदर्भ में विसंगति का अर्थबोध उसकी एकांत विसंगति में न होकर, उसके द्वारा की गई एक व्यंग्यात्मक एवं तथ्यपरक वायड (Void) या शून्य का द्योतक है जो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच में घर करता

जा रहा है। एक दूसरी कविता श्रीराम वर्मा की है जिसमें कि केवल एक स्थिति का बोध होता है—

> दूध की तरह खून—
> गिरे तो गिरे
> मगर दुहेंगे जरूर
> ताकि साँप और साँप काटे

अतः विसंगति के रूप निर्माण में एक अन्य तत्व का भी विशेष हाथ है जो उपचेतनवाद से सम्बंधित हैं। फ्रायडवाद के प्रभाव ने अनेक विसंगतियों को जन्म दिया जो कहने को तो मानसिक थी, पर वे मूलतः परिस्थितिजन्य थीं। इनकी अभिव्यक्ति इस तरीके से की गई कि व्यक्ति का यौन पक्ष बुरी तरह से रचनाकारों पर हावी हो गया ! सेक्स अपने में कोइ हेय मनोवृत्ति नही हैं, उसका जीवन-प्रक्रिया में एक विशिष्ट स्थान है, पर देखना यह है कि उसने किस सीमा तक रचना-प्रक्रिया को अर्थवत्ता (Significance) प्रदान की है। मंटो, कृष्णचंद्र, कमलेश्वर आदि रचनाकारों में सेक्स की मनोवृत्ति का जो विच्छृंखलित रूप प्राप्त होता है, वह सामान्यतः एक अद्भुत कुन्ठा का ही प्रदर्शन है (मैं कहूँ कि फैशन सा हो गया है तो अात्युक्ति न होगी) परन्तु इससे उत्पन्न विसंगति बोध का मूल्य उसकी अर्थवत्ता में निहित माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि जहां पर भी कोई भी विसंगति अनर्गल प्रलाप की कोटि में आई कि उसकी अर्थवत्ता समाप्त हो जाती है। सेक्स की अनुभूति में मात्रा का महत्व उतना नहीं है जितना गुण का। उसकी अनुभूति में प्रसार की अपेक्षा घनत्व अपेक्षित है ! यह बात ध्यान में रखनी है। कि व्यक्तित्व के विघटन में सेक्स उसी समय सहायक होता है जब उसकी अर्थवत्ता को ओझल कर दिया जाता है। आज का रचनाकार एक ऐसे नुकीले विन्दु पर खड़ा हुआ है जो उसे बार बार चुमन देता है पर, पर वह एक रचनाकार की हैसियत से उसे झेलता हुआ, विसंगतियों के हुजूम से जूझता हुआ, अर्थ की खोज में लगा हुआ है।

मनोविज्ञान से सम्बंधित एक अन्य क्षेत्र व्यक्तिवादिता का है जिसे 'अहं' की संज्ञा दी जा सकती है। उपचेतन, अवचेतन, तथा अस्तित्ववादी-दर्शन ने, महायुद्ध के बाद, व्यक्ति के आन्तरिक 'अहं' को उसके उस छिपे हुए चित्र को जो गहरी गुफाओं में समाया हुआ है, उसे उजागर किया है। इस चित्र ने विसंगतियों, कुठाओं की अभिव्यक्ति के नाम पर एक ऐसे आदमी का रूप सामने आ रहा है। जो मूलतः घिनौना, कमजोर, उपर से मुलम्मा चढ़ाये हुये तथा विघटित व्यक्तित्व का एक चलता फिरता पुतला ही मालूम होता है। आज के

रचनाकार ने व्यक्ति की इस विसंगति को अर्थ देने की प्रक्रिया में एक कदम उठाया है जो अपने में एक उपलब्धि का रूप है। यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिवाद के पीछे केवल मनोविज्ञान ही नहीं, पर नीत्से, हीगेल आदि दार्शनिकों की विचार प्रणाली का हाथ रहा है और अंत में अस्तित्ववादी चिंतन ने इस मनोवृत्ति को एक शक्तिवान् जीवन-दर्शन के रूप में सामने रखा है। भारतीय वातावरण में यह एक विडम्बना रही है कि सांस्कृतिक प्रक्रिया में यहाँ का अशिक्षित वर्ग, किसान, मजदूर, बाबू, अभागा तथा अजनबी रहा है क्योंकि वह रचना प्रक्रिया की केवल एक बाहरी तस्वीर है। मैं समझता हूँ कि यदि इस वर्ग के लोग रचनाकार के दायित्व को निभाने में सफल होते (?) तो वे अपने परिवेश की विसंगतियों को कहीं अच्छे तौर पर अर्थवत्ता प्रदान कर सकते।

विसंगति का प्रभाव शिल्प तथा भाषा दोनों पर पड़ता है। मैं शिल्प और भाषा को एक ही तत्व के दो रूप मानता हूँ, उन्हें रचनाप्रक्रिया में अलग नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार भाव और कला को अलग नहीं किया जा सकता है। भाषा और शिल्प की दृष्टि से, विसंगतियों का रचना प्रक्रिया में पिघल कर एक नये रूप में आना, कुछ उसी प्रकार की प्रक्रिया है जो किसी कल्पना, फैन्टसी आदि के पिघलने पर एक अभिव्यक्ति का रूप में आना। यही कारण है कि आज की भाषा में संवेदना तथा परिवेश दोनों की मिली हुई प्रक्रिया नजर आती है। बिखराव, अतारतम्यता, शब्दों का नवीन संदर्भ में प्रयोग और यहाँ तक उन संदर्भो का शाब्दिक रूपों में इस प्रकार घुलमिल जाना कि वे हमारी आधुनिक संवेदना, घुटन तथा विसंगति को एक अर्थमय तनाव की दशा में रूपांतरित कर सकें। नाटक तथा कविता में यह मनोवृत्ति अत्यंत व्यापक है। नाट्य शिल्प में रंगमंचीय विसंगतियों तथा वस्तु जनक विसंगतियों का बहुत कुछ दारोमदार आधुनिक शाब्दिक-संवेदना से जुड़ा हुआ है। यह शाब्दिक संवेदना शिल्प के स्तर पर एक बिखराव को ऊपरी सतह पर प्रकट करती है, पर यह बिखराव एक आंतरिक संगठन को भी व्यक्त करत है जो कथ्य की व्यंजना को परिवेश के अनुकूल व्यक्त करता है। उदाहरण स्वरूप निम्न कविता में ऐसा ही एक शिल्पगत बिखराव प्राप्त होता हैं जो आज की विसंगति को शिल्प के बिखराव में व्यक्त करती है। लक्ष्मीकांत वर्मा की लंबी कविता "एक एक्सट्रा" इसी विसंगति का एक सुन्दर उदाहरण है जिसमें आधुनिक जीवन की विसंगतिपूर्ण स्थितियों की व्यंजना प्राप्त होती है। एक शब्द-चित्र लें—

एक दोस्त का घर है
जिस पर लिखा हुआ है : शुभ लाभ स्वागतम्
मुझे आधी-रात गए
उसी घर में घुस कर अपने दोस्त के पैसे चुराने हैं

चुराने हैं और चोरी करके निकलने के पहले

अपने दोस्त को इस तरह जगाना है

कि मैं जो कि चोर हूँ

और दोस्त जोकि दोस्त है

दोनों मिलकर दोस्त की तलाश करें

और अंत तक चोर को न पकड़ पायें।

ऐसे अनेक उदाहरण अनेक कवियों से दिये जा सकते हैं जो विसंगतिपूर्ण स्थितियों तथा तनावों को शिल्प के स्तर पर भी व्यंजित करते हैं। शिल्प के इस रूप के कारण आज के अनेक कवियों में असंगतियों का एक हुजूम सा प्राप्त होता है और हम कभी कभी उन पर अन्याय भी कर बैठते हैं क्योंकि हमारी संवेदना का इस नवीन आयाम को पूर्णतया हृदयंगम नहीं कर सकी है। उदाहरण स्वरूप मुक्ति बोध की कविताओं में एक ऐसी ही सवेदना तथा शब्दों का बिंबात्मक रूप प्राप्त होता है। मुक्तिबोध ने एक स्थान पर कहा है—"मुझे लगता है कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वंय को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं ही हूँ।" (एक साहित्यिक की डायरी, पृ० ४) इस उदाहरण को देने का मकसद यह है कि आज की रचना प्रक्रिया में इन बिंबों को समझे बगैर आज की नव-संवेदना को समझना मुश्किल है। मन का यह अथाह जल जिससे स्वयं को ही भय लगता है, वह असल में आज अपने सही रूप में, अपनी विसंगतियों के साथ, ठीक उसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत कर रहा है जिसे हम अश्लील, बेहूदा तथा निरर्थक कह कर उससे भागते हैं, पर जितना ही हम उससे भागते हैं, वह भयावह काला जल हमारे सारे व्यक्तित्व को जैसे खोखला करता जाता है। आज का रचनाकार, व्यक्ति के इसी चित्र को उसके सामने रखता जा रहा है और इस चित्र के प्रस्तुतीकरण में वह ऐसी भाषा, शिल्प काप्र योग करता है जो इस विसंगति को जन-शब्दों के द्वारा, शिल्पगत "बिखराव" के द्वारा उसे संवेदित एवं संप्रेषित करना चाहता है। आज का रचनाकार इस बिखराव के द्वारा उसमें एक आंतरिक तारतम्यता स्थापित करना चाहता है क्योंकि सृजनात्मकता के दायरे में बिखराव और संयोजन एक साथ चलते हैं और इसी समानांतर गतिशीलता में सृजन प्रक्रिया अपनी राह को प्रशस्त करती है।

अतः विसंगतियो का अपना महत्व है जो आज के परिवेश की एक दशा है जिससे व्यक्ति घिरा हुआ है। रचनाकार का इन दशाओं से सापेक्ष-सम्बंध है, परंतु इस सम्बंध को ही एकमात्र ध्येय मान कर, उसके वात्याचक्र में फँसे रहना, स्वयं ही एक विसंगति हो जाना है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक फ्रेड हॉयल ने सृष्टि रचना और व्यक्ति के सापेक्ष सम्बंव को एक भ्रमात्मक व्यामोह एवं निरर्थकता-बोध की हद तक स्वीकार किया है। इस भ्रम एवं निरर्थकता को वह अर्थवत्ता देना चाहता है और ईश्वर की धारणा उसी का अंतिम पर्यवसान है जो एक भ्रम है, पर आवश्यक भी है (दे० दिनेचर आफ यूनीवर्स, पृ० १००) क्या यह एक विसंगति नहीं है, पर इस विसंगति को भी अर्थ प्रदान करने की चेष्टा है। आज के साहित्य में विसंगतियों का मूल्य इसी अर्थवत्ता में निहित हैं अन्यथा वह क्या है, इसे आप समझ ही सकते हैं।

प्रतिक्रियायें | ११

[क] +एकलव्य : एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन

आधुनिक महाकव्य और 'एकलव्य'

'एकलव्य' महाकाव्य, हिन्दी महाकाव्यों की परंपरा में एक नई कड़ी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। दूसरी ओर, उसके प्रति यह कहना कि वह प्राचीन परम्पराओं को ही लेकर चला है उसके प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकता है। यह अवश्य है कि कवि ने प्राचीन परम्पराओं की जान बूझ कर अवहेलना नहीं की है, पर उन्हें आधुनिक काव्य शिल्प में यथोचित स्थान अवश्य देने का प्रयत्न किया है। उदाहरणस्वरूप मंगलाचरण, देवी देवताओं की प्रशस्तियाँ, कथानक के संगठन में संधियों, अर्थकृतियों, अवस्थाओं की योजना (?) आदि ऐसे संकेत मिलते हैं, जो आलोचकों को बरबस प्राचीन मान्यताओं के प्रकाश में विवेचन के लिए कटिबद्ध करते हैं। श्री राधेकृष्ण श्रीवास्तव[1] तथा श्री प्रेमनाथ त्रिपाठी[2] ने अपने ग्रन्थों में एकलव्य के कथानक को इसी दृष्टि से विवेचित किया है। मैं उस दृष्टि को अपने विवेचन में अपनाने में असमर्थ रहा हूँ क्योंकि 'एकलव्य' के कलात्मक सौंदर्य को, उस दृष्टि से देखने पर उसे सीमित बंधी बंधाई परम्राओं में बाँधना ही होगा जो उसके प्रति अन्याय ही कहा जा सकता है। मैं शिल्प विधान के अन्तर्गत, इस विषय को आगे के पृष्ठों में लूंगा!

आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात्र बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण से माना जा सकता है। जब गुप्त जी तथा अरिऔध ने अनेक खण्डकाव्यों का

+ एकलव्य—ले० डा रामकुमार वर्मा का महाकाव्य
१. एकलव्य—एक अध्ययन, पृ० ३६-४५
२. डा० रामकुमार वर्मा का काव्य, प्रेमनाथ त्रिपाठी, पृ१ १६६-१७३

प्रणयन प्रारंभ किया। इस समय के महाकाव्यों का सबसे प्रमुख स्वर पौराणिक कथाओं का नवीन संदर्भ में अवतीर्ण करना था। इसी कारण, इस काल के महाकाव्यों में वर्णनात्मकता तथा घटनाओं का क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप प्राप्त होता है। 'प्रिय प्रवास'; 'जयद्रथबध'; 'साकेत' आदि काव्यों में घटना तथा वर्णन का मुखरित रूप मिलता है; परन्तु गुप्त जी के 'साकेत 'जय भारत' तथा 'यशोधरा' काव्यों में हमें नाटकीय गीति-शैली का भी यदा कदा संकेत मिलता है जो वर्णनात्मकता तथा घटनात्मकता का अभाव प्रतीत होता है जो 'कामायनी' 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी' के शिल्प-विधान में द्रष्टव्य है। इन महाकाव्यों की शैली कहीं अधिक संकेतात्मक एवं व्यंजनापूर्ण हो गई है। 'कुरुक्षेत्र' में कथानक नहीं के बराबर है, और उसमें विचारों का जो आलोड़न प्राप्त होता है, वह आधुनिक भावबोध को मुखर करता है। इसी परम्परा में 'एकलव्य' महाकाव्य एक नई कड़ी के रूप में आता है, जिसमें आधुनिक युग-बोध के साथ, पौराणिक-आख्यान के एक धूमिल पात्र का सहारा लेकर, कवि ने नाटकीयता एवं संकेतात्मकता के साथ जो वैचारिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है, वह सत्य में, एकलव्य की महानता का परिचायक है। इस महाकाव्य का वैचारिक वैभव, कथानक के घटनाचक्र में समाहित न होकर, पात्रों तथा स्थितियों के संघर्ष में सन्निहित है। इस मत का पूर्ण विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

प्रारम्भ के महाकाव्यों से उद्देश्य अथवा आदर्श का स्वर इतना प्रमुख हो जाता था कि कहीं-कहीं पर वह ऊपर से थोपा हुआ सा प्रतीत होता था। गुप्त जी तथा हरिऔध जी में यह प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ तक कि 'कामायनी' में भी इस प्रवृत्ति को कवि बचा नहीं सका है। यह दूसरी बात है कि कवि ने उसे अधिक व्यंजनात्मक रूप से रखने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से 'एकलव्य' का स्थान अपनी विशिष्टता को लिये हुए है। यहाँ पर उद्देश्य तो है, पर वह उद्देश्य ऊपर से थोपा हुआ सा नहीं ज्ञात होता है। मेरा यह अर्थ नहीं है कि कोई भी महान् कृति उद्देश्यहीन होती है, पर इतना स्वयंसिद्ध है कि उसका उद्देश्य इस प्रकार से व्यंजित होना चाहिए कि वह पात्रों तथा स्थितियों के विकास में इस प्रकार से घुला मिला हो कि पाठक एक को दूसरे से अलग करके देखने में असमर्थ हो। 'एकलव्य' के उद्देश्य का विकास कवि ने इसी शिल्प से प्रस्तुत किया है। एकलव्य तथा आचार्य द्रोण की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं में उद्देश्य जैसे स्वयं मुखर सा हो जाता है; कवि को इसकी आवश्यकता कहीं पर भी नहीं पड़ी है कि वह स्वयं अपने विचारों को पाठकों के ऊपर थोपने का प्रयत्न करें।

आधुनिक महाकाव्यों की प्रारम्भिक दशा में नायक के महत्व तथा महानता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। 'साकेत' 'यशोधरा'

'कृष्णायन' 'कामायनी' 'उर्वशी आदि महाकाव्यों में नायक अथवा नायिका के कुल-शील का अवश्य ध्यान रहता था परन्तु 'एकलव्य' की स्थिति इस परम्परा से नितान्त भिन्न है। यहाँ पर 'नायक' निषाद या अनार्य संस्कृति का प्रतीक है जिसे कवि ने एक ऐसे व्यक्तित्व का रूप दिया है जिसकी महानता, उसके 'कुल-शील' का परिचायक है जो इस तथ्य को प्रकट करता है कि व्यक्ति जन्म से नहीं, पर कार्य से महान् होता है। जहाँ तक आदर्शों का प्रश्न है, उसे डॉ० वर्मा ने 'एकलव्य' के चरित्र द्वारा व्यंजित किया है और उस आदर्श-निर्माण में आधुनिक भाव-बोध का भी यथोचित सहारा लिया है जो स्वाभाविक भी है और अनिवार्य भी। प्रसिद्ध इतिहास दार्शनिक टायनबी का मत है कि हम सम्पूर्ण इतिहास को अपने समय की दृष्टि से ही आँकते हैं और उसका मूल्यांकन करते हैं[1]; यही बात कवि के लिए भी सत्य है जो किसी ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आख्यान को ग्रहण कर, अपने 'समय की दृष्टि' को उसमें अन्तर्हित भी करता है और साथ ही साथ, उस आख्यान को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में अवतीर्ण करने का प्रयत्न करता है। इस दृष्टि से 'एकलव्य' महाकाव्य आधुनिक दृष्टि को और आधुनिक विचार धारा को सुन्दर रूप में समक्ष रखता है। इस विचार धारा का क्या रूप है और उसकी अन्विति किस धरातल पर हुई है, इसका सम्यक् विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

शिल्प-संगठन—शिल्प संगठन महाकाव्य का प्राण है क्योंकि इसी के आधार पर कवि अपने विषय को संप्रेषित करता है। अनेक सौंदर्य-शास्त्रियों ने शिल्प को, विषय की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है; परन्तु महाकाव्य की दृष्टि से दोनों का समान महत्व है, क्योंकि 'विषय' उसी समय महत्व ग्रहण करता है (जहाँ तक सर्जनात्मक साहित्य का प्रश्न हैं) जब वह 'शिल्प' के सौंदर्य का निखार प्राप्त करता है। 'एकलव्य' के शिल्प में ऐसा ही सौंदर्य प्राप्त होता है क्योंकि उसका विषय जहाँ दो संस्कृतियों के संघर्ष को लेकर चलता है, वहीं एकलव्य एवं आचार्य द्रोण के मानसिक संघर्ष को भी अपना विषय बनाता है। वैसे तो 'विषय' का विस्तार सीमित हैं, पर कवि ने उस सीमा के अन्दर ही शिल्प के सौंदर्य को इस प्रकार उभारा है कि महाकाव्य में शिल्प और विषय दोनों एकरस हो गए हैं।

(१) **कथावस्तु की संगठनाः**—कथावस्तु में विषय के प्रतिपादन को कलात्मक रूप में रखा जाता है। एकलव्य की 'वस्तु' महाभारत की एकलव्य कथा से ली गई है जिसकी ओर स्वयं कवि ने 'भूमिका' के अन्तर्गत संकेत किया है। इस कथा को, जहाँ तक वस्तु-नियोजना का प्रश्न है, कवि ने अतीव कलात्मकता से उसे कल्पना तथा मनोविज्ञान के आधार पर संगठित किया है। इस दृष्टि से, जिन

---

१. **ए स्टडी इन हिस्ट्री, टायनबी, पृ० २९**

आलोचकों ने एकलव्य की कथावस्तु को प्राचीन नाट्य सिद्धांत पर आधारित माना है और उसी के प्रकाश में 'वस्तु' का विवेचन प्रस्तुत किया है, उनके दृष्टिकोण को मैं गलत नहीं मानता हूँ, पर वह एक पिटी-पिटाई परम्परा मात्र है जो यांत्रिक (Mechanical) सी हो गई है। मैं तो समझता हूँ कि आलोचक अपनी भी एक दृष्टि रखता है, वह केवल परम्परा से चालित नहीं होता है। जैसा कि कहा गया है कि 'एकलव्य' की 'वस्तु' नियोजना में तीन तत्व प्रमुख हैं—

(क) कल्पना

(ख) मनोविज्ञान

(ग) राजनीति

और इन्हीं तीन तत्वों के सम्मिलित प्रकाश में, कवि ने दो संस्कृतियों के संघर्ष तथा मनोविज्ञान को, राजनीति के फलक पर उभारने का प्रयत्न किया है।

महाकाव्य में कल्पना का प्रयोग अत्यंत दुर्लभ कार्य है। कल्पना कदापि दूर की उड़ान नहीं है, वह सर्जनात्मक प्रक्रिया में मूलतः सृजनात्मक (Creative) है। उसके द्वारा रचनाकार कथातंतुओं को एक तर्कमय रूप में अनुस्यूत करता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक कल्पना का प्रयोग तर्क तथा संयम से करता है, उसी प्रकार एक कृतिकार की कल्पना, जब संयम को तिलांजलि दे देती है, तो वह कल्पना सृजनात्मक नहीं हो सकेगी। आज के वैज्ञानिक युग में कल्पना इसी रूप में मान्य हो सकती है! वह अब केवल उपमानों तथा असंयमित तथा भावनाओं का रंगस्थल नहीं है। 'एकलव्य' में कल्पना कहीं अधिक सृजनात्मक हो सकी है क्योंकि कवि ने उच्छृङ्खल कल्पना का बहुत कम आश्रय लिया है। एकलव्य का आचार्य द्रोण के द्वारा अस्वीकृत होने का कारण कल्पना द्वारा शासित होने के साथ ही साथ, समसामयिक राजनीति के प्रकाश में एक नवीन संदर्भ उपस्थित करता है। एकलव्य में 'कल्पना' अनेक रूपों में प्रयुक्त हुई है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष में, एकलव्य जननी तथा नागदत्त जैसे पात्रों का सृजन, जिनके द्वारा कथावस्तु के संवेदनशील स्थलों को कवि सुन्दरता से उभार सका है। इसी प्रकार आचार्य द्रोण का एकलव्य विषयक साधना का स्वप्न देखना और एकलव्य द्वारा सार्थवाहों से अपनी माँ के पास संदेश भेजना आदि प्रसंग कल्पित हैं, पर कथानक की गति में, और पात्रों के चरित्र विकास में, इनका योगदान अत्यन्त स्पष्ट है। इसी स्थान पर पात्रों का जो मनोवैज्ञानिक संघर्ष दिया गया है, वह भी कथा वस्तु को एक गरिमा देने में समर्थ है। संक्षेप, में उपर्युक्त तीनों तत्वों का एक समन्वित रूप हमें इस महाकाव्य में प्राप्त होता है जिसका यदा कदा विवेचन प्रसंगवश होता रहेगा।

कथावस्तु के संदर्भ में कल्पना का तर्कमय रूप हमें सर्ग-विभाजन में प्राप्त होता है। कवि ने चौदह सर्गों के अन्तर्गत एकलव्य कथा को सत्य तथा कल्पना के

आयामों में बाँधा है। प्रारम्भ के ७ सर्ग (दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन,
और आत्म-निवेदन) महाभारत के अन्य प्रसंगों से जुड़े हुए हैं। जिसमें आचार्य
द्रोण की विगत कथा तथा एकलव्य से उनका सम्बन्ध-निर्देश प्राप्त होता है जो कथा
की पृष्ठभूमि तथा वस्तु संगठना को एक निश्चित रूप प्रदान करता है। इस प्रकार,
प्रारम्भ के ये सर्ग प्रधानतया क्षत्रिय-नीति के संदर्भ में आचार्य द्रोण के मनोविज्ञान
को समझने के लिए आवश्यक हैं। सबसे बड़ी विशेषता इन सर्गों की यह है कि
इनका सम्बन्ध घटनाओं की अपेक्षा पात्रों के मनोविक्षान को मुखर करने में अधिक
सहायक होते हैं; और यही कारण है कि महाकाव्य में घटनाओं का जो भी
तारतम्य है, वह मनोविश्लेषण पद्धति पर अधिक आश्रित है न कि घटनाचक्र के
घात-प्रतिघात में। इसी प्रकार अंत के ५ सर्ग (साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व और
दक्षिणा) मुख्यतः एकलव्य से सम्बन्धित हैं जो उसके चरित्र को मुखर करते हैं और
महाकाव्य के उद्देश्य को व्यंजित मात्र करते हैं।

(२) चरित्र-विश्लेषण शिल्पः—सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो सर्गों का
विभाजन, पात्रों के चरित्र-विश्लेषण के अनुसार ही किया गया है। इस शिल्प के
अन्तर्गत कवि ने मूलतः मनोवैज्ञानिक आधार ही ग्रहण किया है। इस मनोवैज्ञानिक
स्थिति को कवि ने अनेक रूपों में रखने का प्रयत्न किया है जो मनोविज्ञान के
सिद्धांतों को किसी न किसी रूप में रखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनोविज्ञान
का यांत्रिक प्रयोग काव्य की कसौटी हैं, पर इतना निश्चित है कि यदि, कृतिकार
को मनोविज्ञान का ज्ञान है, तो वह अपने पात्रों को विभिन्न स्थितियों में डालकर
उनकी मनोवृत्तियों को अधिक स्वाभाविक विकास दे सकता है। यदि 'एकलव्य' के
चरित्र-विश्लेषण-शिल्प का निरीक्षण किया जाए तो उसके प्रमुख पात्रों (एकलव्य,
के चरित्र-विश्लेषण-शिल्प का निरीक्षण किया जाए तो उसके प्रमुख पात्रों (एकलव्य,
द्रोण, अर्जुन आदि) को अनेक स्थितियों में डालकर, आत्मकथन-शैली के द्वारा,
उनके चरित्र की रेखाओं को उभारा गया है। एकलव्य में यह आत्मकथन शैली,
पात्रों को स्वयं आत्मविश्लेषण की ओर प्रेरित करती है जिसके द्वारा पाठक स्वयं
पात्रों के मनोविज्ञान में क्रमशः प्रविष्ट होता जाता है और कृतिकार पात्रों को एक
स्वतंत्र वातावरण देता है कि वे नाटकीयता से स्वयं अपना विकास कर सकें।

दूसरा तत्व जो चरित्र-विश्लेषण-शिल्प के अन्तर्गत प्राप्त होता है, वह
मनोविज्ञान के अनेक क्षेत्रों का है। इसके अन्तर्गत स्वप्न-मनोविज्ञान, परा-मनोविज्ञान,
बाल-मनोविज्ञान, तथा ओडीपस-ग्रन्थि का एक 'सम्मिलित' रूप मिलता है। एक
अन्य विशेषता जो इस महाकाव्य में प्राप्त होती है, वह यह है कि उपर्युक्त
मनोवैज्ञानिक प्रकारों का एक सम्मिलित रूप ही प्राप्त होता है, उन्हें हम नितांत एक
दूसरे से विलग कर नहीं देख सकते है। उदाहरणस्वरूप "स्वप्न सर्ग" के अन्तर्गत

आचार्य द्रोण का स्वप्न अचेतन मन की प्रक्रिया भी है और दूसरी और 'एकलव्य' का वह बालहठ (मनोविज्ञान) है जो असम्भाव्य को संभाव्य बना देता है। इसी प्रकार, बालमनोविज्ञान का वह प्रसंग जब एकलव्य अपनी माता से हठ करता है, और वह उसके हठ को स्वाभाविक रूप से 'स्वीकारती' हैं, पर इस प्रसंग में मनोविज्ञान की बहुचर्चित मान्यता 'ओडीयस-ग्रंथि' का वह रूप भी मिलता है जो माता तथा पुत्र का एक दूसरे के प्रति आकर्षण भाव है। यह मान्यता सभी स्थितियों तथा सम्बन्धों में मान्य नहीं है, पर इस स्थल पर हम उस मान्यता के केवल एक अंश को कार्यान्वित देखते हैं। ये सभी सम्बन्ध (माता-पुत्र, पिता-पुत्री तथा बहन-भाई) यौनपकर (Sexual) माने गए हैं और मैं समझता हूँ कि इसमें कोई अन्याय नहीं है क्योंकि संसार के जितने भी सम्बन्ध है, वे सब यौन पर ही आधारित हैं, परन्तु उनका रूप सभी स्थलों पर एक सा नहीं होता है। प्रत्येक संबंध में भावना का बदलता हुआ रूप प्राप्त होता है और इसी भावना के परिवर्तन के साथ, यौन-सम्बन्ध भी परिवर्तित होते जाते हैं। 'एकलव्य' का माता-पुत्र सम्बन्ध, इस दृष्टि से, पवित्र तथा महान ही है क्योंकि उसमें भावना का परिवर्तित रूप है। स्वयं कवि ने बालहठ को इसी रूप में ग्रहण किया है जिसमें नाटकीयता भी हैं और माता-पुत्र का प्रेम संबंध भी—

"एक बात मेरी भी पड़ेगी तुम्हें माननी'
"कौन सी रे एकलव्य ? बात कभीं टाली है ?"
"तब तो माँ ! कह दो कि बात तेरी मानूंगी'
कह दो न, माँ कि तेरी बात[1] ....!"

अंतिम दो पंक्तियों में बाल हठ का सुन्दर रूप प्राप्त होता है।

'एकलव्य में स्वप्न और परामनोविज्ञान का भी सुन्दर समाहार मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत जहाँ इन्द्रियों की सहायता के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाता हैं,[2] उसे परामनोविज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इसे ही हम प्रतिभज्ञान (Intuition) भी कहते है जिसका सुन्दर विवेचन आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक "रहस्यवाद" में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से, एकलव्य के 'प्रेरणा सर्ग' का स्वप्न महत्वपूर्ण है क्योंकि स्वप्न-बिम्बों के द्वारा कवि ने एकलव्य के भावी जीवन का संकेत प्रस्तुत किया है। स्वप्न में वह देखता है (पृ० ७४-७६) कि उसके सम्मुख आचार्य द्रोण खड़े हैं। मंत्र का एक चक्र आता है और वह भयभीत हो जाता है। पास ही कूप की वीटिका पड़ी है। वह आश्वासन देती हैं—

कि "मंत्रशक्ति तुमको भी कूप से उठावेगी"

---

१. एकलव्य, प्रेरणा सर्ग, पृ० ७८
२. द न्यू आउट लाइन आफ भा नार्डन लेज, जे० बी० राइन, पृ० १६३

फिर एक मेघ खंड आता है जिसमें आचार्य द्रोण छिप जाते हैं। तत्पश्चात् एक मृत्तिका के ढेर में अनेक पुष्प दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें द्रौण का मुख दिखाई देता है और तभी एकलव्य, अपना दाहिना हाथ बढाता है और उसी समय एक सर्प उसके अंगूठे को डस लेता है। इस प्रसंग में अनेक बिम्बो का प्रयोग किया गया है जो भावी घटनाओं का संकेत करते हैं। द्रोण का बादल के पीछे छिप जाना इस बात को स्पष्ट करता है कि वे एकलव्य की साधना में सहयोग न देंगे। वीटिका का आश्वासन एकलव्य की सफलता का प्रतिरूप है। मृत्तिका का ढेर, एकलव्य द्वारा निर्मित द्रोण की मूर्ति है; पुष्प श्रद्धा भावना के प्रतीक हैं तथा सर्प वह राजनीति का दंश हैं जो एकलव्य का अहित करता है। इस प्रकार प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक यूंग (Junq) का यह मत 'कि स्वप्न भावी जीवन का भी संकेत करते हैं[1]" एक सत्य प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'ममता' सर्ग में एकलव्य जननी का स्वप्न और एकलव्य-साधना का आचार्य द्रोण को आने वाला स्वप्न– ये ऐसे प्रसंग हैं जिनके द्वारा कवि ने एकलव्य और आचार्य द्रोण के मन:-संघर्ष को तीव्रतम करने की भूमिका प्रस्तुत की है जो आगे विकास को प्राप्त करती हैं। इस परा विज्ञान के अंतराल में: चरित्र-विश्लेषण की दृष्टि से, एक अन्य तत्व भी प्राप्त होता है। जो अध्यात्म की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा कोई ऐसी आन्तरिक शक्ति अवश्य है जो साधना के कठिन व्रत को पूरा करने में समर्थ होती है जबकि साधक के सामने साध्य तो है, पर प्रेरणा तथा मार्ग देने वाला गुरु नहीं। स्पष्टत:, यहाँ पर मनोविज्ञान आकर रुक जाता है और आत्मिक शक्ति का ऊर्ध्व लोक प्रकट होता है। यही भारतीय चिंतन पर आश्रित आध्यात्मिक-मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) है जिसका संधिस्थल हमें एकलव्य के अन्तिम सर्गो में प्राप्त होता है। इन सब प्रसंगो के द्वारा एकलव्य और द्रोण के चारित्रिक वैभव को साकार ही नहीं किया गया है, पर द्रोण के घुटते हुए मनोंविज्ञान को सुन्दरता से उभारा गया है।

(३) बिम्ब-विधान :—स्वप्न-मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक भाषा प्रयोग में 'बिम्ब' प्रयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मैं 'एकलव्य' की भाषा और बिम्ब-विधान को ही लूंगा, पर भाषा के विवेचन के अन्तर्गत नाद, अर्थ, गुण और अलंकारो की परम्परागत परिपाटी का पालन करना मैं व्यर्थ समझता हूँ क्योंकि इस दृष्टि से भी एकलव्य पर अनेक समीक्षकों ने विचार किया है।[2]

---

१. साइकलोजी आफ द अनकांशस द्वारा युंग, पृ० ७८

२. उदाहरणस्वरूप "एकलव्य एक अध्ययन" में तथा "डा० रामकुमार वर्मा का काव्य" नामक पुस्तकों में इसी दृष्टिकोण का पालन किया गया है।

३. एजरा पाउंड का अभिमत, उद्धृत 'नई कविता' से, डॉ० जगदीश गुप्त के निबंध से पृ० १८८

काव्य-भाषा में बिम्ब विधान एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि जीवन में एक बिम्ब का प्रस्तुतीकरण कही अधिक महत्व रखता है अपेक्षाकृत बहुत सी कृतियों की रचना से ।[1] यही कारण है कि आधुनिक बिम्बवादियों ने केन्द्रीभूत अर्थ को काव्य-भाषा का प्राण माना है। बिम्ब का कार्य अनुभूत वस्तु का प्रस्तुतीकरण हैं और प्रतीक का कार्य किसी विचार या प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करना है। बिम्बात्मक-प्रतीक में प्रस्तुति तथा प्रतिनिधित्व दोनो का संयोग होता है। 'एकलव्य' के बिम्ब इसी कोटि में आते हैं। उनमें से सबसे प्रमुख बिम्ब 'धनुर्वेद' का हैं जो जीवन तथा दर्शन दोनों क्षेत्रो की प्रस्तुति तथा प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणस्वरूप, प्रकृति वर्णन के संकेत के लिए धनुष-संधान का जो बिम्ब कवि ने लिया है, वह सृष्टि को ही एक संधान-रूपक दे देता है। इस बिम्ब में प्रस्तुति ही मुख्य है, यथा—

रवि रश्मियाँ उठी ज्यों सूची-मुख तीर हों,
छूटने ही वाले हो, जो क्षितिज के चाप से।
मात्र संधान में ही तिमिर वेध हो गया,
प्रेरित हुआ है, खग कलरव मंत्र से ॥[2]

इसी प्रकार धनुर्वेद का बिम्ब 'एकलव्य' की साधना का चित्र ही खड़ा कर देता है और कहीं पर एकलव्य का संधान चित्र भूत, भविष्य और वर्तमान का संधि-स्थल हो जाता है।[3] ऐसे स्थलों पर हमें बिम्बात्मक-प्रतीक की प्रस्तुति मिलती है।

"एकलव्य' महाकाव्य के विराट-फलक पर हमें कुछ ऐसे प्रकृति-चित्रण भी प्राप्त होते हैं जो चित्र-बिम्ब की सृष्टि करते हैं। इसमें ऐसे उदाहरण आते हैं जो किसी बिम्ब के द्वारा, प्रकृति के किसी पक्ष का चित्र साकार करते हैं। डा० वर्मा ने प्रकृति:चित्रों के ऐसे प्रयोग अनेक ग्रन्थों में किए हैं, पर एकलव्य में ऐसे चित्र 'बिम्ब' की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। प्रातः काल का वर्णन है जब आकाश पर श्वेत रंग आ जाता है और नक्षत्र धूमिल पड़ने लगते है। इस चित्र को कवि ने, स्वप्न और नींद के बिम्ब-विधान से सांकेतिक प्रस्तुति की है—

अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु बही धीरे से।'
जैसे स्वप्न सरक रहे हैं मन्द गति से,
और जीर्ण नींद-पत्र गिरा दृग-वृन्त से।[4]

१, एजरा पाउण्ड का मत "नई कवितां" से, पृ० १८८
२. एकलव्य, पृ० ९७ प्रदर्शन सर्ग
३. वही, पृ० १२५
४. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० ९११

इसी प्रकार एक शरद् चित्र में, शरद् आगमन का संकेत 'मंथन' के बिम्ब से लिया गया है—

आया शरद् प्रकृति का मीत।
वर्षा के मंथन से निकला।
जैसे यह नवनीत ।।[1]

यहाँ पर हमें परम्परागत षट्ऋतुओं का वर्णन मिलता है जिसमें रीतिकालीन वियोगनी नायिका के दर्शन तो होते हैं, पर संदर्भ के परिवर्तन के कारण, वैसी अनुभूति नहीं होती है, क्योकि यह मां के पवित्र ममत्व से उद्भूत उद्गार हैं। इसके अतिरिक्त, मुझे 'एकलव्य' में और सुन्दर बिम्ब नहीं मिल सकें, उदाहरण, दृष्टांत तथा उपमाओं का एक अनोखा कल्पना-विलास ही मिला है जो सदा से कवि की प्रवृत्ति ही रही है।

वैचारिक परिप्रेक्ष्य :—उपर्युक्त शिल्प-संगठना के विभिन्न तत्वों के प्रकाश में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि 'एकलव्य' का कला-पक्ष जितना उन्नत है, उससे कम उसका वैचारिक पक्ष नहीं है। मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँकि इस महाकाव्य में विचार और शिल्प का एक संयमित रूप प्राप्त होता है। अधिकांशतः वैचारिक स्थलों पर शिल्प-पक्ष कमजोर नहीं होने पाया है और महाकाव्य की महत्ता इसी तथ्य पर मूल्यांकित की जाती है।

'एकलव्य' का वैचारिक वैभव दो आयामों को स्पर्श करता है और इन आयामों का सम्बन्ध, मानवीय ज्ञान का एक समन्वित धरातल है जो आधुनिक भाव बोध का सुन्दर परिचय देता है। ये दो आयाम हैं—(१) जीवन-दर्शन (२) वैज्ञानिक-दर्शन।

(१) जीवन-दर्शन:—एकलव्य का समस्त जीवन-दर्शन जगत-सापेक्ष है। उसका मूल है गतिशीलता और पूर्णता। एकलव्य तथा द्रोण के चारित्रिक-विकास के द्वारा इस तत्व का समाहार किया गया है। वहां जीवन एक धनुर्वेद है जिसमें प्रतिशोध की गतिशीलता हैं[2], परन्तु 'एकलव्य' महाकाव्य इस प्रतिशोध को ही ध्येय नहीं मानता है, पर इस शक्ति के द्वारा जीवन में गति का समावेश चाहता है जो मिटती नहीं है, पर अवतार लेती है।[3] यही कारण है कि जीवन-नद का प्रवाह चिरन्तन है जिसका ध्येय सिंधु में विलयन है।

---

१. वही, ममता सर्ग, पृ० २५७
२. एकलव्य, दर्शन सर्ग पृ० १४
३. वही, दक्षिणा सर्ग पृ० २७९

"और स्वयं अपना प्रवाह देता सिन्धु को"[१] यही विलयन की पूर्णता का द्योतक है क्योंकि जीवन की गहराइयों में ही ऐसी शक्तियाँ हैं जो परिवर्तन को और अपने को पूर्ण करने का निरन्तर प्रयास करती हैं।[२] यहाँ पर कवि ने लय-समाधि का जो महत्व प्रदर्शित किया है, वह एकलव्य की साधना का चरमोत्कर्ष है। जीवन की गतिशीलता, जब अहंकार तथा द्वेष का तिरोभाव कर, साध्य से एकीभूत हो जाती है, तभी इस समाधि का रूप मुखर होता है। यह समाधि-दशा एक विशेष प्रकार की चैतन्यता है जो सुप्त रहती है और कोई प्रबल प्रेरणा पाकर गतिशील हो जाती है। यही प्रेरणा ही वह शक्ति है जो—

"चेतना में व्यक्त हुई गतिशील आत्मा सी,
सत्य के भी सत्य में प्रवेश चली पाने की।
दृष्टि एकलव्य की।"[३]

यह दृष्टि उसी समय प्राप्त होती है, जब दृष्टि और लक्ष्य में समभाव हो, उनमें परस्पर कर्षण हो और उनके मध्य कोई व्यवधान न हो। आचार्य द्रोण के शब्दों में, जब तक दृष्टि और लक्ष्य में अनेक दृष्टियाँ तथा व्यवधान रहेंगे, तब तक लक्ष्य-भेद असम्भव है—

'जब लक्ष्य भेदने में ये अनेक दृष्टियाँ
हैं तो लक्ष्य भेद होगा कैसे एक वस्तु का"[४]

अस्तु जीवन-दर्शन, का सबसे बडा तत्व गतियुक्त सम दृष्टि है जो लक्ष्य के प्रति आस्थावान् हो। एकलव्य की आस्था, श्रद्धा और त्याग की कसौटी पर खरी ही नहीं उतरती है, पर वह अपने में एक ऐसा मूल्य (Value) है जिसके वगैर जीवन का अस्तित्व अर्थहीन माना गया है। इसी 'आस्था' के कारण स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं। और साथ ही कल के भूले हुए स्वप्न भी सत्य बन जाते हैं।[५] इसी से, श्रद्धा और आस्था में एक शक्ति होती है जो एकलव्य का कथानक प्रकट करता है।

(२) वैज्ञानिक-दर्शन :—जब हम आस्था का प्रश्न उठाते हैं, तो यह कहा जाता है कि विज्ञान ने हमारी आस्था को खंडित किया है और हमारे अस्वित्व को

---

१. वही, पृ० २७६ ,, ,,
२. एन आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ, राधाकृष्णनन्, मृ० ६१
३. एकलव्य, साधना सर्ग, पृ० १९९-२००
४. एकलव्य, अभ्यास सर्ग, पृ० ५८-५९
५. एकलव्य, साधना सर्ग पृ० १९०

निरर्थक साबित किया है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक-दर्शन में आस्था का जो रूप प्राप्त होता है वह कोरी अंध भक्ति का पोषक नहीं है, उसकी आस्था सत्य की सापेक्षता में है न कि उसकी निरपेक्षता में वैज्ञानिक विचार सत्य अथवा ईश्वर को सापेक्ष मानता है, उसे संसार के साथ मानता है। वह ईश्वर को एक शक्ति रूप देता है जो एक परिवर्तनशील मूल्य है। हर युग की एक आस्था होती है और आधुनिक युग की भी अपनी विशिष्ट आस्था है जो विज्ञान की देन है जो निरन्तर दर्शन तथा धर्म की अवस्थाओं में परिवर्तन कर रही है। अस्तु, आज के जितने भी मूल्य माने गए हैं, वे सापेक्षिक ही हैं। असीम भी सीमा के परिवेश में बंध चुका है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक आईंस्टीन ने सापेक्ष सत्य को ही मूल्यवान् माना है। दिक् काल का महत्व ही सापेक्षिक है और असीम की सीमा भी सापेक्षिक हो चुकी है। डॉ० वर्मा ने इस सम्पूर्ण स्थिति का इस प्रकार सकेत किया है—

नभ की दिशाएँ चौगुनी सी हुई जाती हैं,
सीमा हीन की भी सीमा दृष्टिगत होती है।[1]

चार आयामों से युक्त दिक्काल ही सत्य है जिसके अन्दर समस्त ब्रह्मांडों की सीमाएँ अन्तर्निहित है। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन की यह सबसे बडी प्रस्थापना है। यही कारण है कि जब हम दिक् और काल (lime and space) के सापेक्षिन सत्य को ग्रहण करते हैं, उसी के साथ हमें गति की महत्ता भी माननी पड़ती है। जीवन दर्शन के सदर्भ में 'गतिशीलता' के महत्व पर विचार किया गया था, और वैज्ञानिक चिन्तन में गति तो समस्त सृष्टि का एक मूलमूत तत्व ही है। प्रत्येक परमाणु अपनी क्रिया-शीलता में ही सृष्टि करता हैं; प्रत्येक ग्रह और नक्षत्र गति सिद्धान्त का पालन करते हैं; इन अणुओं का उल्लास (Veracity) ही सृष्टि का रहस्य है—

सृष्टि के समस्त कण गति के प्रवाह में,
हैं रहस्य-चक्र बीच नृत्य में निरत से।
मौन में उल्लास किस भाँति सूक्ष्म रूप से,
करता निवास चेतना से ओतप्रोत हो।[2]

यदि अणु की रचना पर ध्यान दें, तो लगता है जैसे "एक एक विश्व मौन एक एक कण में"[3] है और इसकी अन्तर्रचना सौर-मंडल के समान ही प्राप्त होती है।

---

१. एकलव्य, पृ० १४ दर्शन सर्ग
२. वही, पृ० २७६ दक्षिणा सर्ग
३. वही, स्तव, सर्ग पृ० ५

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन विश्व रचना के प्रति एक अन्य दृष्टि को भी समक्ष रखता है जो विकासवाद (Evolution) से सम्बन्धित है। सृष्टि-रचना में जैव (चेतन) और अजैव (जड़) दोनों का समान महत्व है अथवा जिसे हम अजैव कहते हैं, वह ही जैव का रूप धारण करता है। इस प्रकार जैव और अजैव (Organic and Inorganic) में तारतम्यता है – दोनों अन्योन्याश्रित हैं। डॉ० वर्मा ने इसी तथ्य को काव्यात्मक रूप दिया है और 'एक नाद' की जो धारणा सम्मुख रखी है, वह जड़ और चेतन का एक तारतम्य मूलक आधार है, केवल उनमें प्रकार-भेद है–

टूट गए बंध जड़ और चेतन सभी
एक नाद में हो लीन, स्पन्दित से हो उठे।
यदि जड़ उस दिव्य राग का स्थायी है
तो समस्त चेतना है अन्तरा आलाप सा।।

अथवा

संचरणशील है, सदैव कण-कण में
जड़ नहीं जड़, वह चेतनावरण है।[1]

यही नहीं डॉ० वर्मा ने जड़ और चेतन को दृष्टि का भेद माना है अथवा दूसरे शब्दों में, यह दृष्टि का संकोच ही है जो हमें जड़ और चेतन को अलग अलग देखने को प्रेरित करता है।[2] यही दृष्टि "अद्वैत-दृष्टि है" जिसकी ओर विज्ञान गतिशील है।

महाकाव्यत्व:—उपर्युक्त तत्वों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष स्वयं साक्ष्य है कि 'एकलव्य', महाकाव्यों की परम्परा की दृष्टि से, कथावस्तु तथा चरित्रांकन-शिल्प की दृष्टि से, वैचारिक वैभव तथा उद्देश्य की महानता की दृष्टि से, यथार्थ में, महाकाव्य के सभी प्रमुख तत्वों से समन्वित है। इस के अतिरिक्त शैली को उदात्तता एवं बिराट भावों के अंकन की दृष्टि से, एकलव्य' महाकाव्य की भाव-भूमि की सफल अभिव्यक्ति करता है। इस पक्ष का अत्यधिक विवेचन समीक्षा ग्रंथो में किया जा चुका है जिसकी ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है, उसकी पुनरावृत्ति यहाँ व्यर्थ है। दूसरी ओर मैंने उपर्युक्त जिन संदर्भों एवं प्रकरणो का विवेचन किया है, वे भी अपरोक्ष रुप से इसी तथ्य को सम्मुख रखते हैं कि एकलव्य महाकाव्य की उदात्त-भावना का परिचय देता है।

---

१. एकलव्य साधना सर्ग, पृ० २०२
२. वही, लाघव सर्ग, पृ० २५३

इस दृष्टि से, एकलव्य का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्विति में तथा उसकी रसवत्ता में समाहित है। 'रस' की एक अबाध धारा मुक्त छन्दों में मुक्त होकर प्रवाहित हुई है। मेरे विचार से, रस-परम्परा को एक गतिशील आयाम इस महाकाव्य में दिया गया है। उसे मनोविज्ञान, विचार और भावनाओं के समान्वित धरातल पर उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि रस निष्पत्ति केवल भावना तथा कल्पना के स्तर पर न होकर, विचारों तथा संवेदनाओं के स्तर पर होती है। उपर्युक्त वैचारिक प्ररिप्रेक्ष्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कवि की रचना प्रक्रिया में 'रस' केवल एक प्राचीन परम्परा द्योतक न होकर वह आधुनिक-भावबोध की भूमि पर भी प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने इस महाकाव्य के द्वारा रस को विचारात्मक तथा संवेदनात्मक धरातलों पर एक साथ प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि रस की धारणा सभी स्थानों पर नहीं घटित की जा सकती है। आज की नई 'कविता को' हम रस-सिद्धान्त पर घटित नहीं कर सकते हैं क्योंकि 'रस' की अपनी सीमाएँ हैं और आज की कविता की अपनी सीमाएँ; उन दोनों को परस्पर मिला देने पर, हम दोनों के प्रति अन्याय ही अधिक कर सकते हैं। डॉ० वर्मा के 'एकलव्य' महाकाव्य की महत्ता इसी बात में निहित है कि उसमें कवि ने बड़े कौशल से आधुनिक भाव-बोध तथा शिल्प को रसाश्रित किया है। और फिर कवि सदैव से 'रसवादी' परम्परा का पोषक रहा हैं और वह कैसे उस परम्परा ये दूर हो सकता था!

'एकलव्य' का महाकाव्यत्व उसकी प्रभावान्वित में निहित है जो सम्पूर्ण रूप से रस-प्रक्रिया पर आधारित है। प्रभावान्वित मूलत: कथावस्तु के स्वरूप पर निर्भर करती है एकलव्य की कथास्तु का विकास मूलतः क्रमागत है एवं व्यवस्थित वह यूरोपीय महाकाव्य के 'रेचन' (Cathrsis) सिद्धान्त को भी ग्रहण कर सका है। और उसे भी 'रस' के अन्दर्गत समाहित कर सका है। रेचन सिद्धान्त में दो विरोधी भाव (भय और करुणा) कथावस्तु में तीव्रता को प्राप्त होते हैं और मन इन दोनों के मध्य 'रेचन' द्वारा संतुलन तथा शान्ति की स्थापना करता है।[1] कथावस्तु को गति देन में नि.ति-शक्ति का भी हाथ रहता है। 'ऐकलव्य' में ऐसी स्थितियाँ अनेक हैं। उदाहरणस्वरूप एकलव्य अपने अध्यवसाय द्वारा धनुर्वेद में अपूर्ण लाघव प्राप्त कर लेता है, और उसी समय द्रोण तथा राजनीति द्वारा उद्भूत विरोधी शक्तियाँ उद्भव होती है ओर अन्त में, नियति "स्वप्न" के द्वारा द्रोण को

१. एकलव्य, एक अध्ययन, पृ० २२५

एकलव्य की साधना का संकेत देता है और इस प्रकार, नियति एकलव्य के अनिष्ट की तैयारी करती है। इस स्थान पर रेचन प्रक्रिया के दो रूप दिखाई देते हैं। एक का सम्बन्ध द्रोण से है और दूसरे का एकलव्य जननी से। आचार्य द्रोण में प्रतिशोध भावना और वर्ण भेदभाव में उत्पन्न ग्लानि का रेचन होता है। वे अपने पुराने गुरु और गुरुकुल के आदर्शों को पुन: पहचानते हैं; और इस तरह अपने व्यक्तित्व को संतुलित करते हैं। इसी प्रकार एकलव्य जननी अपने पुत्र के कटे अंगुष्ठ को तथा आचार्य द्रोण के रक्त-रंजित वस्त्र को देखकर भय और करुणा से भर उठती है। इसी के साथ पुत्र की दुर्दशा देखकर वह क्रोधित एवं क्षुब्ध हो जाती है। इस प्रकार क्रोध का आलम्बन ग्रहण कर उसके भय और करुणा के भावों का रेचन होता है। इसी प्रकार, पाठक के भावों का रेचन एकलव्य जननी के साथ होता है। इन प्रसंगों के द्वारा, कवि ने सारे महाकाव्य में एक प्रभावान्विति का समावेश किया है और इस प्रभाव की तीव्रतर अनुभूति उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब कवि द्रोण तथा एकलव्य के अन्तर्द्वन्द्व को सम्पूर्ण कथावस्तु में प्राण प्रतिष्ठा करता है।

इन मूलभूत तत्वों के प्रकाश में, एकलव्य महाकाव्य की उदात्तता और उसकी जीवंत शक्ति स्वयं साक्ष्य है। परन्तु, फिर भी, 'समय' की गति ही यह बता सकेगी कि यह महाकाव्य उस उदात्तता को कहाँ तक कायम रख सकेगा? संभावित सत्य यह माना जा सकता है कि जिस मूल विषय तथा उससे सम्बन्धित जो चिन्तन का अनुभूतिपरक रूप है, वह अवश्य ही उसकी महानता को भविष्य में स्थापित करेगा! जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अनुमान तथा प्रयोग के आधार पर भावी घटनाओं की कल्पना करता है, उसी प्रकार आलोचक कृति के विषय तथा विचारों की गहनता के आधार पर उसके भावी स्थान के प्रति केवल अनुमान कर सकता

और यही कार्य मैंने भी किया है और ईमानदारी से किया है क्योंकि आलोचक की ईमानदारी ही उसका सम्बल है और उसकी दृष्टि ही उस ईमानदारी का परिचायक है। 'एकलव्य' महाकाव्य के रूप में एक ऐसी रचना है जो डॉ० वर्मा की सर्जनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष माना जा सकता है. कम से कम इस तथ्य को मैं बिना किसी पूर्वाग्रह के कह सकता हूँ। खामियाँ तो प्रत्येक कृति में होती है, पर वे खामियाँ पृष्ठभूमि में चली जाती हैं जब समग्र रूप से, उस कृति के पड़नेवाले प्रभावों का मूल्यांकन उचित रूप से किया जाता है।

[ख] + मुझमें जो शेष है

इस पुस्तक की भूमिका में लेखक ने अपने को केवल मानवतावादी कवि न मान कर और भी कुछ माना है। कम से कम इस काव्य-संग्रह में भट्ट जी की कविताएँ अनेक आयामों को छूती हैं, जिसमें सबसे प्रमुख स्वर आधुयिक जीवन की विडंबना तथा डहते हुए प्राचीन प्रतिमानों का स्वर है। इसके अतिरिक्त यह भी माना जा सकता है कि कवि का अंतर्लोक मानवतावादी दृष्टि को त्याग नहीं सका है, जो मेरे विचार से एक शुभ तत्व है। यही कारण है कि 'महात्मा गाँधी', 'अमृत पुत्र', 'संत', 'ऋत-पुरुष' आदि कविताएँ, इसी दृष्टिकोण को ले कर लिखी गयी हैं। विषय की दृष्टि से इन कविताओं में कोई विशेष नवीनता नहीं है क्योंकि इनमें प्रशस्ति तथा भावी मानव की कल्पना प्राप्त होती है।

अन्य कविताओं में कवि की दृष्टि अधिक पैनी तथा गंभीर है। उनमें आत्मनिष्ठता का स्वर प्रमुख है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना तथा विशृंखलता को अनेक बिंबों तथा प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्त करता है। उदाहरण-स्वरूप 'जिंदगी और कूड़ा-कर्कट', 'साँप और मैं तथा 'विद्रोही' (पृ ५३) कविताओं में जीवन की निरर्थकता तथा व्यक्ति की अर्थहीनता के सुन्दर दर्शन होते हैं। यथा

तुम्हारे लिए सारे तत्वज्ञान
काव्य के संदेश
महाप्राण का आवाहन

× × ×

व्यर्थ है, व्यर्थ है
(केवल मनोविनोद
माया-जाल है; भ्रम है)
इसीलिए मैं व्यर्थ हूँ
व्यर्थ हुँ।

(विद्रोही पृ० ५३-५४)

+ उदयशंकर भट्ट का कविता-संग्रह। आत्माराम एन्ड संस, दिल्ली। सन् १९६५।

ऐसी कविताओं में अनास्था का स्वर होते हुए भी कवि की दृष्टि उस अनास्था में आस्था का स्वर भी देता हुआ प्रतीत होता है। इस बिंदु पर आ कर कवि कहीं अधिक आशावादी भी हो गया है। कुल मिला कर इस संग्रह की उपर्युक्त कविताएँ तथा अन्य कविताएँ पाठकों को एक नया भावबोध देने मे अवश्य समर्थ होंगी। यहीं पर कवि व्यक्तिनिष्ठता के दायरे में न बँध कर, अपने अस्तित्व के प्रति, जिसे उसने कभी नहीं पहचाना था ('मैंने नहीं पहचाना' पृ ३१–३२), उसे पहचानने का भी प्रयत्न करता हुआ प्रतीत होता है। •

एक वर्ग अन्य कविताओं का भी है, जिनकी संख्या सीमित है। वह वर्ग है चीनी आक्रमण तथा राजनीतिक प्रभावों का। 'मृत्युभक्षो भारतीय हम' नामक कविता में उपर्युक्त राजनीतिक संवेदना का रूप प्राप्त होता है जो अहं तथा गर्व की भावना ? से कुछ अधिक बोझिल है। इसी प्रकार 'बलिदान का गीत' (पृ० ६७) तथा 'पुण्य-प्रशस्ति' में देश की गरिमा तथा त्याग के आवाहन का जो स्वर है, वह भी समयानुकूल है।

इस काव्य-संग्रह में भाषा का रूप आधुनिक जीवन के भावबोध को व्यक्त करने में सफल है परंतु दूसरी ओर अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भाषा तत्समप्रधान है और उसमें वह लचीलापन तथा छटपटाहट नहीं है, जो आधुनिक जीवन की विडंबना से संबंधित कविताओ में । ' जदगी और कूड़ा-कर्कट' कविता में ऐसी ही भाषा का रूप मिलता है, जिसमें बिंब-विधान भाषा को और भी निखार दे देता है।

काल की बुहारी से साफ़ किये जाने पर
झुक कर हवा के साथ
बेबस—
नवाये माथ
सूम के मंसूबे से
अनचाही जिंदगी की तरह।

(पृ० ३)

इस प्रकार भट्ट जी जी काव्य-भाषा में एक नया लोच प्राप्त होता है।

———

[ग] + काव्य-चिंता

आचार्य रमाशंकर तिवारी एक प्रबुद्ध आलोचक हैं और उनकी पुस्तक 'काव्य-चिंता' इसका उदाहरण है। इस आलोच्य पुस्तक में लेखक ने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए, उनका यदा-कदा मूल्यांकन प्रस्तुत किया है ! इस विवेचन में विद्वान लेखक की दृष्टि भारतीय चिंतन पर अधिक आश्रित है और इसके साथ नयी कविता, प्रगतिवादी कविता पर उनका दृष्टिकोण उदार है, जब कि वे भी डॉ० नगेन्द्र की भाँति रस-सिद्धांत के व्याख्याता एवं समर्थक हैं। उन्हें 'भारतीय समीक्षा-शास्त्र' के प्रति प्रगाढ़श्रद्धा है और साथ ही अंग्रेजी साहित्य से व्यावसायिक संबंध होने के नाते, उसकी उपलब्धियों के प्रति, उनके मत में ममता का अनुभव भी है।" (प्राक्कथन, पृष्ठ ५)

प्रस्तुत पुस्तक में इस उदारतावादी दृष्टिकोण का परिचय प्राय: उनके द्वारा लिखे सभी निबंधों में द्रष्टव्य है। फिर भी अंतिम तीन निबंध 'प्राश्चात्य सौंदर्य-चिंतन', 'यूनानी सौंदर्य-शास्त्र" तथा 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' में, लेखक ने मूल्यांकन उपस्थित न कर, केवल उनका इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है जो पाठ्य-पुस्तक के समान ज्ञात होता है। 'पाश्चात्य सौंदर्य-चिंतन नामक निबंध में प्लेटो से ले कर क्रोचे तथा स्टेन तक सौंदर्य की धाएगा का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है। यदि लेखक ऐसे निबंधों में भी भारतीय सिद्धांतों का एक तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करता चलता, तो ये निबंध अधिक उपादेयता तथा गंभीरता की सृष्टि करने में समर्थ होते। परंतु इतना निश्चित है कि इन निबंधों से पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का एक सम्यक् विवेचन एक स्थान पर मिल जाता है, जो अध्यापकों के लिए हितकर है।

+ **रमाशंकर तिवारी की पुस्तक। चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी-१। सन् १९६३। मूल्य : ६.००**

स्वयं आचार्य तिवारी जी एक अध्यापक हैं और अध्यापक होने की प्रवृत्ति कहीं न कहीं उभर कर आ ही जाती है परंतु कहीं-कहीं पर मूल्यांकन की छींटें दृष्टिगत होती हैं पर इतिहास-क्रम में वे लुप्त हो जाती हैं। उदाहरणस्वरूप लेखक १९ श० के अन्त तक, योरूपीय सौंदर्यशास्त्र के निर्माताओं का विवेचन करता हुआ, इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि 'प्लेटो के काल से बामार्गाटन के काल तक दो सहस्र वर्षों के बीच सौंदर्य-निरूपण, दर्शन के जाल से निकल कर, स्वतंत्र शास्त्र का स्वरूप ग्रहण करने की दिशा में निरंतर प्रगति करता रहा।' (पृ० २००)

अन्य निबंधों का क्षेत्र मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्र से संबंधित है। दूसरे शब्दों में सभी निबंध भारतीय काव्य सिद्धांतों से संबंधित हैं, जिसमें यदा-कदा पाश्चात्य सौंदर्य-चिंतकों का तुलनात्मक विवेचन भी है; और सबसे ऊपर स्वयं लेखक की अपनी कुछ प्रस्थापनाएँ। इस दृष्टि से, 'कवि का मूल्य-मापन: स्तरभेद', 'रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण तथा 'संस्कृति, सभ्यता और साहित्य', नामक निबंध विशेष रूप से पठनीय हैं। 'काव्य का प्रयोजन' तथा 'काव्य का मूल्य-मापन- निबंधो में! आचार्य जी ने नये प्रतिमानों का स्वरूप-विश्लेषण तथा आधुनिक साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा पर एक खुले दिमाक से चिंतन किया है। इन निबंधों में उन्होंने तीन बातों पर विशेष बल दिया है। पहली बात जो उन्होंने मानी है, वह विभाव-सिद्धांत का अनुमोदन है, जो प्रत्यक्षतः रस-सिद्धांत की मान्यता है और पंत, महादेवी और प्रसाद में इनका सुन्दर बाहुल्य है। पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में वस्तुमूलक संबंधक (आब्जेक्टिव कोरिलेक्टिव) का सिद्धांत भी विभाव पक्ष का अनुमोदन करता है।

दूसरी बात है, साधारणीकरण से संबंधित। 'रस निष्पत्ति और साधारणी-करण' निबन्ध में, साधारणीकरण का सिद्धांत सुपरिचित है, जिसका आख्यान इस निबंध में भी किया गया है। अभिनवगुप्त का साधारणीकरण सिद्धांत, लेखक के अनुसार, सांख्यदर्शन पर आश्रित नहीं है, जैसा कि डॉ० राकेश गुप्त ने माना है। इसका खंडन उन्होंने इस तर्कना पर किया है कि अभिनव शैवाद्वैत के पोषक थे, जहाँ प्रमाता और प्रमेय दोनों एक हैं। इसके विपरीत सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। (पृ० १५१) इस तर्कना में सत्य का अनुमोदन ही नहीं है पर मेरे विचार से अभिनवगुप्त का साधारणीकरण सिद्धांत, द्वैत के द्वारा अद्वैत की ही पुष्टि करता है। कवि और भावक पक्षों का इसमें 'अद्वैत' ही है।

लेखक साधारणीकरण को आधुनिक साहित्य पर पूर्णतया घटित नहीं मानता है। इस बात को उसने हार्डी के औपन्यासिक चरित्रों को ले कर साबित

किया है। दूसरी ओर, दुखात्मक भावों की अनुभूति, सुखात्मक भावों की तरह, आनंददायक नहीं होती। इसे उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, (पृ०८२) वह भी 'काव्य के प्रयोजन' नामक निबंध में। इसी संदर्भ में उन्होंने डॉ० भगवानदास डॉ० बाटवें के मत को भी प्रस्तुत किया है, जो यह मानते हैं कि दुखात्मक प्रसंगों से आनंदानुभूति प्राप्त करने के विषय में भावक से एक विशिष्ट मानसिक संगठन की अपेक्षा है। इसी संदर्भ में विरेचन सिद्धांत (कैथार्सिस) की भी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

साधारणीकरण की व्याख्या करते-करते लेखक अंत में, तीसरी बात पर आता है ,और वह 'जीवन-बोध' को ही काव्य या कला का प्रयोजन मानता है। उसकी यह प्रस्थापना इस पुस्तक की सबसे बड़ी प्रस्थापना है। उसका कहना है कि हम आज की गयी कविता प्रगतिवाद, सभी को काव्य की सीमा में ग्रहण कर सकते और एतदर्थ, रसवाद की शास्त्रीय कसौटी की कठौरता को शिथिल कर सकते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा की एक रचना की व्याख्या के बाद वे स्पष्ट स्वरों में कहते हैं: "इस रचना को, रस के नाम पर, कविता के राज्य से बहिष्कृत करना कथमपि उचित नहीं होगा। जीवन-बोध में जीवन के सनातन एवं सामयिक सत्यों की भी व्यंजना का अंतभवि है।" (पृ० १०८)

इन निबंधों की अपेक्षा एक अन्य वर्ग उन निबंधों का है, जिसमें कवि का विशेषत्व और उसकी गरिमा, व्यक्तित्व निहित का रूप, और काव्य तथा जीवन से सम्बन्धित विचार हैं। दो निबंध 'कवि का विशेषत्व' तथा 'काव्य और जीवन' अत्यंत सामान्य कोटि के निबंध हैं,जिनमें परंपरागत रूप से कवि को एक असाधारण, स्वयंभूरूप माना गया है, जिसमें एक असाधारण संवेदना तथा वाणी का अद्‌भुत वरदान होता है।

'काव्य और व्यक्तित्व' नामक निबंध भी आधुनिक साहित्यिक चिंतन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। भारतीय आचार्यों का रसवाद व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि या लोक की भावभूमि पर अधिक आश्रित है। योरूपीय काव्य-समीक्षा में टी० एस० इलियट का यह सिद्धांत कि कलाकर सर्जन के समय व्यक्तित्व का क्रमिक विलोप करता है, एक नवीन प्रस्थापना है। इसी संदर्भ में लेखक ने व्यक्तित्व और चरित्र के अंतर को अत्यन्त स्पष्टता से विवेचित किया है। व्यक्तित्व अंतः प्रसूत सुसंबद्धता परिचायक है तथा चरित्र एक वाह्य, मनमाने, कठोर आदर्श की बाध्यतापूर्ण स्वीकृति है। (पृ० ४४) अंत में लेखक निर्वैयक्तिक रूप को मान्य

ठहराता है जो आधुनिक काव्य-चिंतन का मेरुदंड है। उसकी यह निर्वैयक्तिकता भी जीवनगत मूल्यों की सापेक्षता में मान्य है, जो लेखक की अपनी प्रस्थापना है।

इस प्रकार पुस्तक में संग्रहीत ११ निबंध, साहित्य के विविध अंगों का विश्लेषण एवं विवेचन प्रस्तुत करते हुए लेखक की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं एवं प्रस्थापनाओं को समक्ष रखते हैं। संपूर्ण रूप में पुस्तक काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से पठनीय है। भाषा संस्कृतनिष्ठ है और विषय के अनुसार भाषा का प्रयोग भी हुआ है, पर इतना मानना पड़ेगा कि आचार्य जी की भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के कारण कहीं-कहीं पर दुरुह हो गयी है और, कहीं–कहीं पर वाक्य-विन्यास जटिल भी हो गये हैं। ऐसे स्थल कम ही हैं।

(घ) + हिंन्दी साहित्य–एक आधुनिक परिदृश्य,

त्रिशंकु, आत्मनेपद और प्रतीक के पाठकों के लिये अज्ञेय की यह नवीन पुस्तक एक विस्तृत 'कैनवास' को हमारे सामने रखती है। इस पुस्तक के अनेक निबंध हिंदी साहित्य से ही सम्बंधित हैं, पर उनमें से कुछ निबंध अत्यंत सामान्य है जो साहित्यिक विधाओं के विकास एवं स्वरूप से सम्बंधित हैं। इन निबंधों में अज्ञेय ने केवल एक पिष्टपेषण मात्र किया है और पाठ्यक्रम की दृष्टि से लिखे गए निबंध लगते हैं। बात यह है कि ये निबंध अज्ञेय के हैं, इसी से प्रकाशक ने उन्हें छाप दिया है अन्यथा उनका स्तर किसी विशिष्ठ आयाम को उद्‌घाटित नहीं करता है। ऐसे निबंध हैं आधुनिक उपन्यास, प्रेमचंद और परिवर्ती उपन्यास, कहानी–पृष्ठभूमि और हिन्दी एकांकी–पृष्ठभूमि जिनमें तथ्यों को दुहराया भर गया है। प्रेमचंद के उपन्यासों से आधुनिक उपन्यास किन किन दृष्टियों से भिन्न है, यह विषय इतना पिटा हुआ है कि इस निबंध को पढ़कर किसी भी नई बात का ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार कहानी और उपन्यास की पृष्ठभूमि नामक निबंधों में अंग्रेजी उपन्यासों के स्वरूप विश्लेषण तथा विकास स्थितियों को दिखाया गया है। इस विश्लेषण के दौरान एक बात यह भी कही गई कि हक्सले एक ऐसा लेखक है जो छद्म–आधुनिकता का परिचायक है (पृ० ७८) क्योंकि अज्ञेय के अनुसार हक्सले किसी प्रतिमान की खोज में न लग आध्यात्मिक अन्वेषण की ओर अग्रसर होता है। यह बात कुछ अटपटी सी लगती है क्योंकि हक्सले के "पाउटं काउन्टरपाउन्ट" में जो आध्यात्मिक अन्वेषण है, वह क्या अपने में एक मूल्य या प्रतिमान नहीं हैं? इस प्रकार के निष्कर्ष यदा कदा प्राप्त होते हैं जब कि विडंबना यह है कि अज्ञेय स्वयं रहस्यवादी होते जा रहे है !!

उपन्यासों के अन्तर्गत एक निबंध में (साहित्यिक प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि) प्रेमचंद तथा निराला के कृतित्व को लेकर कुछ बाते कहीं गई हैं जो विचारणीय है। प्रेमचंद के उपन्यासों पर एक सामान्य दृष्टि का परिचय देते हुए आज्ञेय नें प्रेमचंद के यथार्थ को खंडित माना है, उन्हीं के शब्दों में–"प्रेमचंद का यथार्थ खंडित

+ हिन्दी साहित्य–एक आधुनिक परिदृश्य, ले० अज्ञेय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली (1967)

था, उन्होंने निम्न वर्ग के पात्रों का यथार्थ चित्र दिया, पर मध्य वर्ग के प्रति वे न्याय नहीं कर सके।" (पृ० ३६) अज्ञेय का कथन कुछ सीमा तक ठीक माना जा सकता है, पर मध्यवर्ग के अनेक पात्रों का उन्होंने उसी संवेदना से चित्रण किया है जैसा कि निम्न वर्ग के पात्रों का। गोदान, रंगभूमि और ग़बन में अनेक मध्यवर्ग के पात्रों को पूरी सहृदयता प्राप्त हुई है, तथ्य तो यह है कि ग़बन में मध्यवर्गीय परिवार की मनःस्थिति एवं कुंठा का जो चित्र अंकित है वह अपने में संपूर्ण माना जा सकता है।

जहां तक 'निराला' की आलोचना का प्रश्न है, अज्ञेय की दृष्टि अधिक संतुलित है क्योंकि निराला साहित्य को समझने के लिये केवल निराला के आर्थिक परिवेश को ही मद्देनज़र में रखना, उनके मूल्यांकन के प्रति एक अधूरी दृष्टि होगी। (पृ०३६) यह भी सत्य है कि हिंदी के अनेक आलोचकों ने निराला की आर्थिक दशा को लेकर उनके साहित्य को परखा है, पर वे यह भूल गए है कि साहित्य सर्जना एक आंतरिक ललक है जो वाह्य परिस्थियों से प्रभावित तो हो सकती है, पर नितांत प्रेरित नहीं। यही बात प्रेमचंद के बारे में भी मानी जाती है कि वे निर्धन थे, पर सत्यता इसके विपरीत है उनका अपना मकान था। वे बहुतों को धन भी देते थे। (दे० कलम का सिपाही-प्रेमचंद ले० अमृतराय)

इन निबंधो के अतिरिक्त कुछ निबंध आधुनिक भावबोध एवं संवेदना से सम्बन्धित हैं जिनका सम्बंध नई कविता के संदर्भ को प्रस्तुत करता है। ऐसे तीन निबंध प्रमुख हैं।

उनके नाम हैं—(१) सौंदर्य बोध और शिवत्व बोध
(२) साहित्य बोधः आधुनिकता के तत्व
(३) नयी कविता (एक संवाद रूप)

मेरी दृष्टि में ये तीन निबंध इस पुस्तक के प्रमुख निबंध कहे जा सकते हैं क्योंकि इनमें अज्ञेय के ऐसे विचारों का प्रत्यक्षीकरण होता है जो उनके रचना-धर्म के तत्वों एवं पहेलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इनमें से प्रथम दो निबंधों में अज्ञेय की वैज्ञानिक–दृष्टि का पता भी चलता है और साथ ही उनके वैज्ञानिक ज्ञान का एक साहित्यिक–परिवेश भी मिलता है। अज्ञेय विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं अतः उन्होंने साहित्य और विज्ञान के उन स्तरो का भी समन्वय किया है जहाँ वैज्ञानिक विचार का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। सौंदर्य बोध और शिवत्व बोध में 'सौंदर्यानुभूति' को लेकर कुछ बाते कहीं गई हैं जो सौदंर्य–बोध के एक व्यापक परिप्रेक्ष्य को,

आज की संवेदना के अनुकूल रखती है। सौंदर्य बोध के प्रति पहली प्रस्थापना यह है कि "सौंदर्य-बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है जो अनुभव की गहराई को व्यक्त करता है।" (पृ० १०) वैज्ञानिक चिंतन में भी सौंदर्य को ज्ञान या बुद्धि का विषय माना गया है जो 'पूर्व स्थापितसामरस्य" (Pre. Established Harmony) के रहस्य को उद्घाटित करने में समाहित है। डॉ० आइंस्टाइन तथा फ्रेड हायल के मतों को यदि अज्ञेय ने रखा होता, तो सौंदर्य-बोध का उपर्युक्त तत्व (पूर्व स्थापित सामरस्य) भी समाविष्ट हो जाता। इसके अतिरिक्त सौंदर्य के दो तत्व 'लय' तथा 'वक्रता' को माना है जो व्यक्ति के अनुभव को दुहराने का विशिष्ट रूप है। उनकी मान्यता है कि सौंदर्य-बोध को बौद्धिक व्यापार मानने का यह तात्पर्य नही है कि उसकी व्याख्या भोगवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय देती है। उपयुक्त तत्वों के प्रकाश में इस मत का निराकरण स्वयं हो जाता है। मेरे विचार से अज्ञेय का निबंध एक विश्लेषणात्मक अन्वेषण का सुन्दर उदाहरण हैं जो सौंदर्य की एक बंधी बधाई परिभाषा से हट कर उसकी नई व्याख्या करने का प्रथम एवं महत्वपूर्ण चरण है लेखक ने शिवत्व बोध और सौंदर्य-बोध के महत्व को रचनाकार के लिये आवश्यक तत्व माना है। उनके अनुसार "वस्तव में उच्चकोटि का नैतिक-बोध और उच्चकोटि का सौंदर्य-बोध, कम से कम कृतिकार में प्रायः साथ साथ चलते हैं।" (पृ०१६) यहाँ पर लेखक ने दोनों बोधों को बुद्धि का व्यापार मानकर दोनों के सम्बंध को स्थापित किया है, परन्तु नैतिक बोध का मूल्यगत रूप, सौंदर्य-बोध के समान बदल गया है, इस तत्व को लेखक ने नितांत स्पष्ट नहीं किया है। यहीं पर श्लील और अश्लील के प्रश्न को भी उठाया जा सकता था जिसे लेखक ने "आत्मनेपद" में कुछ वर्ष पूर्व उठाया था।

साहित्य बोध : आधुनिकता के तत्व नामक निबंध में आधुनिक संवेदना के स्वरूप का विश्लेषण प्राप्त होताहै। संवेदना एक यंत्र है जिसके सहारे जीव-व्यष्टि अपने से इतर सब कुछ से सम्बंध जोड़ती है—यह सम्बंध एक साथ एकता का भी है और भिन्नता का भी (पृ० १७) संवेदना के इस तत्व का यदि विश्लेषण किया जाए तो एक बात स्पष्ट होती है कि संवेदना एक आंतरिक सहानुभूति है जो कदाचित् यंत्र के समान कार्य नहीं करती है, पर इतना अवश्य है कि संवेदना का स्वरूप आज की यांत्रिकता से प्रभावित अवश्य हुआ है और इस दृष्टि से हम उसे "यंत्र" की भी संज्ञा दे सकतें हैं। स्वयं अज्ञेय नें संवेदना को केवल जैविक नहीं माना है, पर उसका सम्बंध सांस्कृतिक-बोध से जोड़ा है जो मेरे विचार से एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रस्थापना है। संवेदना का स्वरूप नैतिकता के साथ ही साथ एक सांस्कृतिक-परिवेश को भी उजागर करता है, यह बात आने में एक महत्वपूर्ण स्थापना मानी जा सकती है।

आगे चलकर, अज्ञेय ने वैज्ञानिक चिंतन को एक प्रकार से यान्त्रिक–चिंतन की संज्ञा दी है। (पृ०१६) लेखक का यह मत उसके एकांगी दृष्टिकोण का फल है क्योंकि उसने विज्ञान के केवल दो वर्गों–जैविक और भौतिक विज्ञानों के आधार पर एक यांत्रिक रूप को प्राप्त किया है जो जीवों के विकास एवं उनकी शरीरगत संरचना की जटिलता को लेकर कहा गया है ; परंतु दूसरी ओर भौतिक–विज्ञान का नवीनतम् चिंतन यांत्रिकता से हटकर अभिज्ञानपरक चिंतन की ओर अग्रसर हो रहा है। विश्व, प्रकृति और जीव जगत के रहस्यों के उद्घाटन से विज्ञान एक अयांत्रिक चिंतन की ओर गतिशील है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक एडिंगटन का मत है कि "प्रत्येक वस्तु के यांत्रिक–विवेचन का त्याग, निष्क्रिय उपपत्तियों को समाप्त करने में समर्थ हो सका और क्रमशः अभिज्ञानपरक उपपत्तियों (Epistemological Hypothesis) को स्थान दे सका।" (दि फिलासफी आफ फिज़िकल साइंस, पृ० १८४) इसके साथ हीं आइन्स्टाइन का सापेक्षवादी चिंतन और मैक्सवेल के विद्युत्–चुम्बकीय सिद्धांत में यांत्रिक विवेचन के स्थान पर तात्विक चिंतन को ग्रहण करने की एक बलवती प्रवृति है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक ने एक सीमित क्षेत्र को लेकर वैज्ञानिक चिंतन के तात्विक रूप की जाने या अनजाने में अवहेलना की है। यदि, दूसरी ओर, उसका मत उपर्युक्त प्रस्थापना के विरोध में जाना था, तो कम से कम, अपने विरोध को प्रामाणित करने की आवश्यकता तो थी।

तीसरा निबंध जो विचारणीय है, वह है 'नई कविता' पर जो तीन व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखा गया है। इसके तीन पात्र हैं–अध्येता, प्रोफेसर और छायावादी। लेखक ने नई कविता को अध्येता की दृष्टि से विवेचित किया है और अपने विचारों को उसी के माध्यम से व्यक्त किया है। सामान्यतः प्रोफेसर 'नई कविता' के प्रति उदासीन सा लगता है जो आज के विश्वविद्यालोय वातावरण की ओर भी संकेत करता है। इसी संवाद के दौरान कुछ महत्वपूर्ण बाते कही गई हैं। पहली बात यह है कि आज के कवियों के वक्तव्य पर न जाकर उनकी कृति या कविता के आधार पर उसकी आलोचना आवश्यक है। दूसरी बात 'नई कविता' एक नई मनस्थिति (पृ० १४१) की अभिव्यक्ति जो ऐतिहासिक परिवेश की परिणति है। असल में, नई कविता एक नए राग–सम्बंध का प्रतिबिंब है—बदलते हुये मानवीय सम्बंधों से उद्भूत मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का एक बिखरता हुआ स्वरूप माना जा सकता है। इसी तत्व के आधार पर अध्येता ने समष्टि रूप से नई-कविता को इन शब्दों में परिभाषित किया है—'मैं कहूगा कि नई कविता की मूल विशेषता है मानव और मानव-जाति का नया संबंध और वह मानव जाति और सृष्टि-मात्र के

सम्बंध के परिपार्श्व में।" (पृ० १४२) तीसरी तथा अंतिम बात जो नई कविता के संदर्भ में ही सत्य नही हैं पर संपूर्ण साहित्यिक विधाओं के लिये समान रूप से सत्य है, वह है कि "नये युग का मुहावरा यंत्र-युग का होगा—धेनु सभ्यता का नही।" (पृ० १५४) अज्ञेय ने इन सभी प्रस्थापनाओं को अध्येता के द्वारा प्रतिष्ठित कराया है जिससे यह ध्वनित होता है कि आज की कविता एक विशिष्ट अध्येता वर्ग की अपेक्षा ही नहीं रखती है, पर आज की कविता नये मानवीय संबंधो तथा नई संवेदनाओं की कविता है। पुस्तक का यह निबंध पाठकों की दृष्टि से लिखा गया है और नई कविता की तथाकथित दुरुहता को एवं सरल एक प्रभावोत्पादक विधि से रखा गया है।

नई कविता के संदर्भ में साधारणीकरण के प्रश्न को भी उठाया जा सकता था। पर लेखक ने इस प्रश्न को एक अलग निबंध में उठाया हैं। परिशिष्ट के अंतर्गत प्रयोग : क्या और क्यों ? नामक छोटे से निबंध में प्रयोगवाद के प्रति जो आक्षेप हैं उनका निराकरण करना इस निबंध का विषय है जो पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रसंग में साधारणीकरण की समस्या को उठाया गया है और आज की रचना-प्रक्रिया के लिये साधारणीकरण एक बँधी बधायी परम्परा का रूप नहीं है जिसमें रस, व्यभिचारी तथा संचारी का पिष्टपेषण मात्र हो, वह एक शब्दपरक रागात्मक सम्बंध पर आश्रित एक बौद्धिक प्रक्रिया है। साधारणीकरण का सीधा सम्बंध प्रेषणीयता से है, यदि उससे तथ्य या भाव प्रेषण नहीं होता है, तब उसका महत्व रचनाकार के लिये क्या होगा ? असल में, उसके द्वारा नये सम्बन्धों, नये सत्यों का प्रेषण होना आवश्यक है। लेखक का यह मंतव्य उनके द्वारा गृहीत 'शब्द' के रागात्मन अर्थ एवं बोध में निहित है। (पृ० २०३) एक बात जो लेखक ने इस निबंध में नहीं उठाया है, वह यह हैं कि आज की तनावपूर्ण दशा में साधारणीकरण एक विशिष्टीकरण की क्रिया है, वह किसी भी प्रकार से सामान्यीकरण की क्रिया नहीं है जैसाकि नाटक के सम्बन्ध में माना जाता है। विशिष्टीकरण आज के युग की एक देन है जो वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति का आवश्यंभावी प्रभाव है।

अस्तु इन प्रमुख निबंधो के प्रकाश में अज्ञेय नें साहित्यिक गतिविधि का विश्लेषण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। साहित्यिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण उन्होंने दो अन्य लंबे निबंधों में भी किया है जो सामाजिक पृष्ठभूमि को लेकर लिखे गए है। वे निबंध हैं— "साहित्य प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि" तथा दूसरा निबंध है "खड़ी बोली की कविता: पृष्ठभूमि'- ये दोनों निबंध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को लेकर लिखे गए हैं। पहले निबन्ध में साहित्य प्रवृत्तियां जैसे स्वच्छंदवाद,

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया गया है, उसमें कोई नवीनता नहीं है और न कोई नई प्रस्थापना। इसी प्रकार, दूसरे निबंध में भी खड़ी बोली की कविता का विश्लेषण है और प्रसाद, पंत महादेवी, दिनकर आदि की रचनात्मक प्रतिभा पर कुछ सारगर्भित बाते कहीं गई हैं। मुझे ऐसा लगता है कि यह निबंध पहले निबंध की अपेक्षा कहीं अधिक पठनीय हैं क्योंकि प्रसाद, पंत, निराला आदि पर जो विचार व्यक्त किये गए हैं, वे मौलिक तो कहें जा सकते हैं पर नितांत मौलिक नहीं क्योंकि लेखक ने उन्हें परम्परागत आलोचना के प्रकाश में ही विवेचित किया है।

इस प्रकार, यह पुस्तक अज्ञेय की एक ऐसी रचना है जो उनके विचारों मान्यताओं तथा उपपत्तियों को समझने के लिये सहायक सिद्ध हो सकती है। उपन्यास, एकांकी, कहानी, कविता तथा साहित्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त एवं तर्कपूर्ण विवेचन इस पुस्तक की एक सामान्य विशेषता है। लेखक में वैज्ञानिक रूझान होने के कारण उसकी तर्कना में एक मौलिकता हैं और साथ ही, विश्लेषणात्मक प्रतिभा भी है।

———

वैज्ञानिक-तर्क और प्राकृतिक-नियम

१

वैज्ञानिक-विकास का इतिहास यह प्रकट करता है कि तर्क का एक जाल विज्ञान की प्रगति से अनुस्यूत है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वैज्ञानिक प्रगति और चिंतन केवल तर्काश्रित प्रक्रिया है; पर इतना तो सत्य है कि वैज्ञानिक अनुभवों की पृष्ठभूमि में कारण तथा तर्क-बुद्धि का एक विशिष्ट स्थान रहा है। जब भी हम वैज्ञानिक-चिंतन के स्वरूप पर विचार करते हैं, तब इस तथ्य को भुला नहीं सकते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि वैज्ञानिक प्रगति का इतिहास कार्य और कारण की शृंखला से जुड़ा हुआ है; यह दूसरी बात है कि इस नियम की सीमायें एक निश्चित परिवेश के अन्दर ही कार्य करती हैं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि इस नियम ने एक तार्किक-बुद्धि का विकास किया और इस विकास ने वैज्ञानिक चिंतन को एक दिशा अवश्य प्रदान की है। इस प्रकार, 'तार्किकता' का प्रथम उन्मेष यहीं से माना जा सकता है क्योंकि प्राकृतिक-नियमों का अन्वेषण इसी पद्धति के द्वारा सम्भव हो सका। इन नियमों का वैज्ञानिक प्रगति के इतिहास से एक अटूट सम्बन्ध है क्योंकि इनका महत्व केवल भौतिक जगत सापेक्ष ही नहीं है, पर उनके द्वारा हम विश्व के अनेक रहस्यों के प्रति जानकारी प्राप्त करते हैं और समष्टि रूप से, ये रहस्य विश्व-रचना तथा 'सत्य' के प्रति हमारी जिज्ञासा को शान्त करते हैं। मैं समझता हूँ कि प्राकृतिक-नियमों का सबसे बड़ा महत्व इसी दृष्टि से है कि वे स्वयं में साध्य नहीं हैं, वे तो केवल साधन मात्र हैं किसी "साध्य" तक पहुँचने के लिये अथवा उस साध्य के प्रति एक सांकेतिक दृष्टि प्रदान करने के लिये।

प्राकृतिक-नियमों के इस महत्व को ध्यान में रखकर इन नियमों के बारे में एक प्रश्न और उठता है और वह यह है कि वैज्ञानिक क्षेत्र में इन नियमों की अनेक कोटियां हैं जो विभिन्न वैज्ञानिक-विषयों से सम्बन्धित हैं। उदाहरणस्वरूप, नक्षत्र विद्या मनोविज्ञान, भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र आदि क्षेत्रों में प्राकृतिक नियमों का एक हुजूम प्राप्त होता है। इनका समष्टि रूप से विवेचन करना एक अत्यन्त दुर्लभ कार्य है। इस समस्या का समाधान, मेरे विचार से, उन नियमों का समष्टिगत विवे-

चन हैं जो विश्व, मानव तथा प्रकृति के किसी न किसी रहस्य के प्रति संकेत करते हैं। दूसरी बात यह है कि इन नियमों का सम्बन्ध विज्ञान के किसी भी विषय से क्यों न हो, वे सब एक ही "विज्ञान" से सम्बन्धित हैं जो संसार के "सत्य" को किसी न किसी रूप में उद्घाटित करते हैं। इस दृष्टि से प्राकृतिक नियमों का एक तार्किक स्वरूप है जो किसी विशिष्ट परिस्थिति में कार्यशील रहते हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता हैं कि ये नियम कार्य और कारण की सीमाओं में बँध नहीं पाते हैं। यहां पर आकर वैज्ञातिक चिंतन का वह स्वरूप प्राप्त होता है जो धारणात्मक है।

सबसे महत्वपूर्ण नियम जो प्राकृतिक घटनाक्रम में केवल महत्वपूर्ण ही नहीं है पर सामान्यत: उनको शासित भी करता है। यह नियम गति–नियम है। गति (Motion) एक ऐसी धारणा है जो समस्त विश्व के पदार्थों से किसी न किसी रूप से सम्बन्धित है। गैलीलियों का गति सिद्धान्त पूर्णरूपेण सत्य नहीं है और यही बात न्यूटन के बारे में भी सत्य है। परन्तु न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण शक्ति का सिद्धान्त इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि गति और आकर्षण-शक्ति दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। नक्षत्र-विद्या के सन्दर्भ में इन दोनों नियमों का महत्वपूर्ण स्थान मान्य रहा है और इस दृष्टि से, वैज्ञानिक विचार का आयाम विस्तृत ही हुआ ह। गति और आकर्षण नियमों के द्वारा समस्त सौर मण्डल में समरसता स्थापित हो सकी और विश्व के रहस्च के प्रति एक तार्किक दृष्टि प्राप्त हुई। वैदिक ऋषियों ने प्रजापति की धारणा के द्वारा केन्द्र-शक्ति के सिद्धान्त को समक्ष रखा था। (दे० वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ११७) प्रजापति समस्त प्रजाओं का पति है और वह समस्त पदार्थों का केन्द्र होने के कारण प्रत्येक पदार्थ अपने केन्द्र के प्रति आकर्षित होता है। ग्रह तथा नक्षत्र की गतियां, इसी आकर्षण पर आश्रित है। यह मान्यता न्यूटन, गैलीलियो के समय तक मान्य रही, पर बीसवीं शती में आकर, इस नियम के प्रति प्रश्नचिह्न लगने लगे। आइंस्टाइन ने गुरुत्वाकर्षण के नियम को ग्रहों तथा नक्षत्रों की गति में पूर्ण रूप से कार्यशील नहीं माना। कहने का तात्पर्य यह है कि गति तथा आकर्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्थापनाएं हैं, पर उनकी सत्यता सभी परिस्थितियों तथा दशाओं में समान रूप से प्रामाणित नहीं मानीं जा सकती। न्यूटन एक आस्तिक आस्थावाला व्यक्ति था और आइंस्टाइन भी आस्तिकवादी है। यहीं कारण है कि वैज्ञानिकों की आस्था में तर्क और भावना का समाहार रहता है। यह भी सत्य है नास्तिक में भी तर्क होता है, पर उसका प्रयोग नकारने में ही अधिक प्रयुक्त होता है। मैं इस तथ्य का पक्षपाती रहा हूँ कि बगैर आस्था और आस्तिकता के हम 'सत्य' के निकट नहीं पहुँच सकते हैं। शर्त केवल यह है कि हमारी आस्तिकता अंध-विश्वास पर आश्रित न हो। यहां पर आस्तिकता शब्द केवल धर्म

से ही सम्बन्धित नहीं है, पर वह मानवीय क्रियाओं का वह पूरक एवं महत्वपूर्ण तत्व है जो मानवीय वुद्धि तथा प्रज्ञा को "आस्था" की ओर ले जाती है। चिन्तकों, दार्शनिकों तथा तत्ववेत्ताओं में आस्था का यही रूप प्राप्त होता है।

वैज्ञानिक नियमों तथा सिद्धान्तों के आस्थापरक स्वरूप का महत्व वैज्ञानिक चिन्तन में किसी न किसी रूप में मान्य रहा है। एक अन्य महत्वपूर्ण नियम उद्‌गम नियम है जो विकासवाद के नाम से प्रख्यात है। इस सिद्धान्त के अनेक तत्व मानवीय चिन्तन को एक नवीन आयाम ही नहीं दे सकें पर इसने जीवन तथा विश्व के विकास को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयत्न किया। हर नियम की अपनी सीमायें भी होती हैं और विकासवादी नियम की भी अपनी सीमायें हैं, पर इतना निश्चित है कि इसने मनुष्य को एक दिव्यता अवश्य प्रदान की है, पर यह दिव्यता अन्य जीवों की सापेक्षता में ही विद्यमान है। मानव अब एक आकस्मिक घटना का फल नहीं है और न ईश्वर का एक अंश, पर वह अन्य जीवों से कहीं अधिक विकसित है। भौतिक तथा मानसिक दृष्टि से वह विकास-क्रम सबसे अधिक विकसित रूप है। इस सन्दर्भ में ली काम्ते ड्यं न्यूं का कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका कहना है कि जहां तक भौतिक विकास का प्रश्न है, मानव का भावी विकास इस दिशा में समाप्त हो चुका है या समाप्तप्राय है, पर दूसरी ओर मानसिक एवं बौद्धिक विकास की दृष्टि से, उसका भावी विकास सम्भव है। यहीं पर उसकी "दिव्यता" का रूप मुखर होता है। (दे० ह्यूमन डेस्टनी, पृ० ७६–७७) सत्य में, निर्वाचन और सह-अस्तित्व—ये दो तत्व मानव प्राणी के भावी विकास के दो मूलतत्व हैं। इन्हीं का आधार ग्रहण कर वह अपनी दिव्यता का प्रकाशन क्रमशः कर सकता है। यह निर्वाचन की स्वतन्त्रता मानव की अन्तश्चेतना पर आश्रित है; इसी से, विकासवादी चिन्तन में मानवीय अन्तश्चेतना के क्रमिक-विकास पर बल दिया गया है। वह कोई अनायास घटित घटना नहीं है, पर इस घटना का सीधा संबंध अजैव और जैव जगत से माना गया है। यही कारण है कि युगों से मान्य यह धार्मिक धारणा कि मानव का आविर्भाव अनायास ईश्वर के अंश रूप में हुआ है, इस मान्यता को विकासवादी सिद्धान्त ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। मानव चेतना का क्रमिक विकास हिन्दू संस्कृति में मान्य अवतार की भावना में देखा जा सकता है। इस धारणा का मूलतत्व यही है कि मानव नाम-धारी प्राणी का विकास अनायास न होकर एक विगत लम्बी परम्परा से सम्बद्ध है। इस क्रमिक विकास की एकसूत्रता का संकेत दस अवतारों में देखा जा सकता है। प्रथम अवतार मत्स्य है जो नितांँत जल में रहने वाला जीव है। इसके बाद दूसरा अवतार कूर्म है जो अंशतः जल में और अंशतः पृथ्वी पर रह सकने में समर्थ है। इस कूर्मावतार की अवस्था में विकास का एक कदम आगे बढ़ा हुआ ज्ञात होता है जिसे

वैज्ञानिक शब्दावली में 'एम्फीबियन' की संज्ञा दी गई है। बाराहावतार तक आते-आते स्तनधारी जीवों (मैमल्स) का प्रादुर्भाव होता है जो धरती पर रहता है। चौथे अवतार में नरसिंह का नाम आता है जो एक ओर 'नर' और दूसरी ओर 'सिंह' की मिश्रित अभिव्यक्ति है जो यह तथ्य प्रकट करती है कि मानव में 'पशु' का अंश अब भी शेष है जिसका उन्नयन वामन अवतार में होता है जो मनुष्यता का एक आदि-विकसित रूप है। इस पर भी, मानव में रक्त-पिपासा की पशु-प्रवृत्ति प्राप्त होती है, उसीका मानवीकरण परशुराम है। सातवां रामावतार है जो परशुराम की प्रवृत्ति का दमन करते हैं और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी रूप में 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। रामकथा में राम के द्वारा परशुरास का गर्व-दमन इसी तथ्य का प्रतीकात्मक निर्देशन है। दूसरी ओर विष्णु के कृष्णावतार में चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होता है जिसमें "बुद्धि-मानस" का सुन्दर विकास दृष्टव्य है। नवां अवतार बुद्ध का है जो प्रत्येक वस्तु को अनुभूति एवं बुद्धि की तुला पर तौलता है। इस अवतार में आकर मानव के भावी विकास का भी संकेत मिलता है जो काल्कि-अवतार में अपनी चरम परिणति में प्राप्त होता है। (दे० पुरानाज-इनद लाइट ऑफ मार्डन साइन्स, के०एन० अय्यर, पृ० २०६)

इस प्रकार विकासवादी सिद्धान्त में हमें अनेक संशोधन एवं परिवर्तन प्राप्त होते हैं। प्राकृतिक निर्वाचन का नियम, विकासवाद के अन्तर्गत, एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण तत्व है। इस तत्व ने, काल का (Time) प्रवेश जीवशास्त्र के क्षेत्र में किया और हमें यह मानने को विवश किया कि मानवीय इतिहास एक सामांन्य परिवर्तन का एक क्रमागत रूप है जो प्राकृतिक निर्वाचन से चालित है। (दे० मैन इनदि मार्डर्न वर्ल्ड, जे० हक्सले, पृ० १६६) अस्तित्व के लिये संघर्ष और उसमें बलवान या शक्तिशाली की विजय का नियम एक सीमा तक ही सही है। डारविन ने इस तत्व का समावेश प्राकृतिक निर्वाचन के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया था। परन्तु आगे चलकर हाल्डेन, हक्सले आदि विकासवादी चिन्तकों ने इसे मानवीय क्षेत्र में अमान्य माना क्योंकि उनका कथन था कि निम्न जीवों में यह नियम कार्यशील हो सकता है, पर मानव जैसे विकसित प्राणी में केवल बलवान ही विजय का अधिकारी हो, यह तर्क सम्मत मत नहीं है। इसी स्थान पर सह-अस्तितव के नियम को मानव के सन्दर्भ में अधिक न्याय संगत स्वीकार किया। इसका यह पात्पर्य नहीं है कि संघर्ष का महत्व ही मानवीय संदर्भ में नहीं है। संघर्ष और जीवन—इन दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है। मानव जीवन में संघर्ष का महत्व प्रतिद्वन्दता में न होकर प्रतियोगिता या प्रतिबद्धता में है। इस दृष्टि से, विकासवादी सिद्धान्त में मानववादी दृष्टि का भी समावेश हो जाता है।

जीवन की समस्या | २

वैज्ञानिक चिंतना का एक विशिष्ट आयाम् विकासवादी अन्तर्दृष्टि का क्षेत्र रहा है जिसने मानवीय मूल्यों मथा जीवन की समस्या को समझने का प्रयत्न अपनी विशिष्ट पद्धति के द्वारा किया है। यहां पर जीवन की समस्या तथा उसके कुछ नियमों का विवेचन अपेक्षित है क्योंकि उनके द्वारा हम जीवन के रहस्व तथा उसके आयाम को एक तार्किक श्रृंखला के रूप में अनुस्यूत कर सकते हैं।

जब भी जीवन के उद्भव तथा उसके संगठन का प्रश्न आता तब वैज्ञानिक चिंतन में जीवन की अवयवधारणा "का एक महत्वपूर्ण स्थान हैं जो जीवशास्त्रीय दृष्टि से एक तार्किक नियम का रूप माना गया है। विकासवाद के अन्तर्गत प्राण शक्ति एक विकासित रूप हमें एक कोषीय प्राणी से अनेक कोषीय प्राणियों तक प्राप्त होता है। एक कोषीय प्राणी 'अमीबा' मे जीवन का संगठन अपने आदितम् रूप में प्राप्त होता है और यह संगठन उतना ही जटिल होता जाता है जैसे-जैसे अनेककोषीय प्राणियों का विकास होता जाता है। यह विकास की अनेककोषीय परिणति केवल जीवधारियों की ही विशेषता नहीं है पर जल में तथा धरती पर प्राप्त बनस्पतियों में यह परिणति दर्शनीय है। अवयव सिद्धांत (Theory of Organism) इसी तथ्य पर आधारित है कि भौतिक मनुष्य का त्रिकास 'अवयव' का क्रमागत विकास है जो अपने आदितम् स्रोत में आदितम जीवन-प्रकार से सम्बन्धित है (ह्यूमन डेस्टनी, ली कमंते न्यूं-ड्यूं पृ० ५५) भ्रूण (Embryo) का शुरू से अन्त तक का विकास, उन सभी जीवन प्रकारों से होकर गुजरता है जो उनके विकास के इतिहास में पूर्व घटित हो चुके होते हैं। यही कारण है कि शिशु जन्म की नौ महीने की अवधि उन सभी पूर्व स्थितियों की 'स्मृति' हैं जिससे मानव का विकास-क्रम घटित हो चुका है। अमीबा से लेकर मानव तक की विकास-यात्रा, अवयवधारणा के अनुसार एक क्रमिक अवयवी-विकास यात्रा है जिसमें इतिहास स्मृतियों की पुनरावृत्ति होती है। अतः जीवन की क्रिया एक सीमित क्रिया है और यह सीमित क्रिया "संगठन" पर आधारित है। यहां पर जीवन का ऐतिहासिक पक्ष

समक्ष आता है और इसी तथ्य पर जीवशास्त्रीय विचारकों ने अवयवों (Orgamism) को "ऐतिहासिक व्यक्ति" (Historical Being) के रूप में स्वीकार किया है। (प्राबलम आध लाइफ, लुडविक वान् वरटालेंनफी पृ० १०६) ।

जीवन से स्वरूपको समझने के लिये वैज्ञानिक शब्दावली में "संगठन" शब्द के अर्थ को समझना आवश्यक है। इस शब्द के स्वरूप विवेचन पर 'जीवन' के स्वरूप का चित्र स्पष्ट होता है। जीवधारियों में 'संगठन' का अर्थ अनेक तत्वों की जटलिता का पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रियात्मक रूप है। ये सभी तत्व सापेक्षिक होकर, एक 'अवयव' की धारणा एवं रचना में सहायक होते हैं। जिस प्रकार परमाणुओं के संगठन से 'अणु' की संगठना होती है, उसी प्रकार अनेक तत्वों के पारस्परिक सम्वन्ध से 'अवयव' की संगठना होती है। अतः इन तत्वों तथा प्रक्रियओं (Process) के परिवर्तन से सम्पूर्ण में परिवर्तित होता है और जब इन तत्वों और प्रक्रियों का नाश हो जाता है, तब वह संगठन भी नष्ट हो जाता है। जीवशास्त्र का यह दायित्वपूर्ण कार्य है कि वह उननियमों तथा सिद्धांतों को स्थापित करें जो जीवन के संगठन तथा व्यवस्था को बनाये रखते हैं।

इन नियमों का जीवन की व्यवस्था तथा संगठन से घनिष्ट सम्बन्ध हैं। ये नियम तो अनेक हैं पर उनमें से कुछ नियम अत्यन्त महत्वपूर्ण जो जीवन के रूप को रेखांकित करते है। चतुर्आयिमिक कोषों का विभाजन एक कोष और उससे उत्पन्न कोशों का एक संगठित रूप है जिसका विवेचन शुरू में हो चुका है। दूसरा महत्वपूर्ण नियम पैतृक संस्कारों के वाहक तत्व 'जीव' (Genes) का अनुक्रमिक रूप है जिसके द्वारा संगठन का आंतरिक पक्ष पुष्ट होता है। आँतरिक पक्ष से मेरा तात्पर्य उन गुणों तथा विशेषताओ से है जो सँस्कार के रूप में किसी जीवधारी के शिशु को प्राप्त होती हैं।मैंडिल का यह 'जीन-सिद्धान्त' संगठन के एक महत्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है जो जीवधारियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का मूल तत्व है। मेंडिल ने किसी स्थान पर लिखा था कि विद्वान केवल तथ्यों का आकलन एवं संगठन नहीं है; तथ्य उसी समय ज्ञान का रूप धारण करते हैं, जब वे धारणात्मक-पद्धति के अंतर्गत आते है। मैंडिल ने जीन-सिद्धांत के अन्तर्गत तथ्यों का यही धारषात्मक रूप दिया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विज्ञान केवल तथ्य-परक नहीं हैं पर वह धारणात्मक चिंतन का भी क्षेत्र है। जीननियम के अतिरिक्त तीसरा तत्व शारीरिक आकृति और शरीर के अंदर होने वाली भौतिक प्रक्रियाओं का अनुक्रमिक रूप है। एक जैविक अवयव (organism) केवल शारीरिक आकृति सम्बन्धी अनुक्रम को भी प्रदर्शित नहीं करता है, पर इसके अतिरिक्त, वह आन्तरिक

प्रक्रियाओं के अनुक्रम को भी प्रदर्शित करता है इसी धरातल पर 'जैविक 'अवयव' का एक पूर्ण रूप प्राप्त होता हैं।

इन तीन महत्वपूर्ण तत्वों के प्रकाश में संगठन और जैविक अवयव का एक सापेक्षिक सम्बधं प्राप्त होता है। इसे ही जीवशास्त्रीय शब्दावली में जीवन की व्यवस्थित धारणा (Systemic conception of Life) कहा गया है। उस धारणा के अन्तर्गत जैविक आकृतियों (Organic structures) का स्वरूप स्थिर नहीं होता है, पर मूलतः गत्यात्मक होता है। यह ''गत्यात्मकता जीवन के एक महत्वपूर्ण रहस्य ''वृद्धि की ओर संकेत करती है। वृद्धि (Growth) जीवन का एक आवश्यक तत्व है क्योंकि बिना इस तत्व के जीवन की विकसित दशा को हृदयंगम नहीं किया जा सकता हैं।

जीवन की यह गत्यात्मकता एक अन्य तत्व की ओर संकेत करती है। वह यह कि जीवन का प्रभुत्व सब स्थानों पर है चाहे वह पृथ्वी हो या अन्य ग्रह एवं नक्षत्र। यह दूसरी बात है कि जीवन का रूप आवश्यकतानुसार परिवर्तित हो गया हो, उसमें विभिन्नता के दर्शन होते हो, पर मूलतः जीवन की विश्वजनीय शक्ति का वह एक अनेक पक्षीय रूप है। इसे ही श्री अरविन्द ने ''ब्रह्मांडीय जीवन-शक्ति (सांइस एंड कल्चर महर्षि अरविंद पृ० ३६) की संज्ञा दी है जो जैविक और अजैविक विश्व में समान रूप से व्याप्त हैं। जीवन की घटनााका मूलभूत तत्व यही गत्यात्मक शक्ति है जो समस्त ब्रह्मांड में व्जप्त है। इस धारणा को केवल कल्पना और आदर्शीकरण का रूप नहीं माना जा सकतां है क्योंकि आधुनिक विज्ञान के अनेक रहस्य आदर्श की किसी न किसी धारणा की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह तथ्य भी समक्ष आता है कि जीवन में जहाँ पर विभिन्नता है, वहीं दूसरी ओर उस विभिन्नता में एकता भी विद्यमान है। है। जीवधारियों में जीवन की एकता का स्वरूप अनेक दृष्टियों से देखा जा सकता है, यदि हम उसे मानवीय मानदण्ड से देखें और परखें ! इस दृष्टि से समस्त जीवधारियों में शुभ और अशुभ (पाप व पुण्य) की कोई न कोई भावना समान रूप से प्राप्त होती है। अच्छे और बुरे का यह विस्तार समस्त प्राणी-जगत की एक विशेषता है जो उसकी एकता का रूप माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जीव-विज्ञान विभिन्न जातियों में सहयोग की भावना, परिस्थिति-जन्य आचरण तथा प्रजनन प्रक्रिया—ये कुछ अन्य क्षेत्र हैं जहाँ जीवन की एकता दर्शनीय है (दि यूनटी एन्ड डाइवर्सिटी आफ लाइफ, हाल्डेन, पृ० ४०–३१) आवृति, शारीरिक रचना, मनस्चेतना आदि के च्तेत्र में हमें विभिन्नता के दर्शन होते हैं। विभिन्नता का महत्व

उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है जहाँ तक प्रत्येक वृक्ष तथा जीवधारी अपने 'स्वधर्म' का पालन कर सकने में समर्थ हो। जे० बी० एस० हाल्डेन ने इस 'स्वधर्मपालन' को जीवन की एकता तथा विभिन्नता के इस आयाम को दृष्टि में रखकर, जीवन के एक अभिन्न अङ्ग "व्यक्ति" (इन्डीव्यूजअल) के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। जीवशास्त्र में "व्यक्ति" की परिभाषा एक सामान्य परिभाषा मानी जा सकती है जबकि मनोविज्ञान में व्यक्ति की परिभाषा एक विशिष्ट परिभाषा कही जा सकती है। जीवशास्त्रीय एवं विकासवादी दृष्टि के अनुसार 'व्यक्ति' एक ऐसा जीवधारी है जो दिक् काल और क्रिया के परिप्रेक्ष्य में जीवित रहता है और इसके साथ ही एक निश्चित जीवन चक्र का पालन करता है। विकास के निम्नतर स्तर में अमीवा और हाइड्रा को यदि दो भागों में विभाजित किया जाता है, तो प्रत्येक भाग एक व्यक्ति की तरह आचरण करता है। कुछ इसी प्रकार की स्थिति मानव-नामधारी प्राणी में यदा कदा देखी जाती है, जब डिंव (Ovum) के सिंचन के पश्चात, वह दो में विभक्त हो जाता है और दो शिशु। एक साथ उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर भी 'व्यक्ति' की धारणा एक भौतिक रूप है जबकि 'व्यक्तित्व' की धारणा व्यक्ति के समस्त आंतरिक एवं वाह्य गुणों या अवगुणों का एक समष्टिरूप है। इस दृष्टि में व्यक्ति की धारणा एक प्रगतिशील एकीकरण की धारणा है जिसमें शारीरिक, पैतृक संस्कार, नाड़ी संस्थान और जीवन चक्र का एक आनुपातिक एकीकरण प्राप्त होता है। प्रसिद्ध जीवशास्त्रीय बरटालैनघी चिंतक ने 'व्यक्ति' को एक सीमा माना है जिसका साक्षात्कार तो नही हो सकता है, पर जिस तक पहुंचा जा सकता है (प्राबल्म्स आफ लाइफ, पृ० ५०) यह दथ्य एक अन्य दिशा की ओर भी संकेत करता है कि व्यक्ति की भावना कोई पूर्ण भावना नही है। यही कारण है कि पूर्ण व्यक्ति' की भावना एक नितान्त परिकल्पना है अथवा दूसरे शब्दों में एक आदर्श-मूलक धारणा हैं। जीवशास्त्र की दृष्टि से पूर्ण-व्यक्ति से तात्पर्य केन्द्रीकरण में है जिसका सम्बंध नाड़ी-संस्थान (सुषुम्ना नाड़ी-स्पाइनल कार्ड) से है और इस केन्द्रीकरण के विरोध में विकेन्द्रीकरण या बिखराब की प्रवृत्ति भी प्राप्त होती है। इसी से जीवधारियों में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति प्रजनन क्रिया में व्यवधान भी दे सकती है। इसी के फलस्वरूप, विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति जीवधारियों के लिये कहीं अधिक महत्वपूर्ण है; पर इसका यह अर्थ नहीं है कि केन्द्रीकरण का महत्व है ही नहीं। पर मेरे विचार से ये दोनों प्रवृत्तियां जीवन के स्थायित्व एवं विकास के लिये समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।

अस्तु, जीवन के विकास में केन्द्रीकरण एवं बिखराव की प्रवृत्तियाँ निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं क्योंकि जीवन के विकास में इन दोनों तत्वों का कार्य-कारण

सम्बंध है। विकास-क्रम में किसी भी अङ्ग का (जीवधारी) विकास संयोग नहीं है, पर यह विकास सीमित है। यह विकास सीमित इसलिये हैं कि प्रकृति के नियम के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु या घटना का एक परिवेश होता है और यह 'परिवेश' उस वस्तु या घटना को एक अर्थ देता है। इसके अतिरिक्त विकास का यह सीमित पक्ष तीन तत्वों के प्रकाश में कार्यान्वित एवं शासित रहता है ! प्रथम तत्व जीन में आवश्यंभावी परिवर्तन की प्रक्रिया है। जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। दूसरा तत्व उन प्रत्ययों से है जो विकास क्रम के दौरान किसी जाति या जीवधारी के विकास में अनेकानेक परिवर्तन लाते हैं। यह प्रक्रिया सामूहिक भी है और व्यक्तिगत भी है। तीसरा तत्व, जिसका संकेत प्रथम ही हो चुका है, वह संगठन के नियमों से सम्बंन्वित है। इस प्रकार विकास की अपनी सीमायें लक्षित होती हैं, और घटित हुये विकास के आधार पर हम भावीं विकास की सम्भावनाओं से भी अवगत हो सकते हैं।

मानव का भावी विकास

३

विकास-परम्परा पर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि पशु अब भी मानव में छिपा है, वर्तमान है, किन्तु पशु जिस कायिक अवस्था पर हैं, मनुष्य उसके विकास की चरम अवस्था पर पहुँच चुका है। शारीरिक रचना के विकास की पराकाष्ठा मनुष्य के 'मस्तिष्क' में परिलक्षित होता है। सच बात तो यह है कि मस्तिष्क के पूर्ण विकास के इस चरमांत पर आ पहुंचने के बाद अब कायिक विकास का अध्याय समाप्त होता है। साथ-साथ एक नये धरातल पर मानव के विकास के संकेत भी मिलने लगे हैं। मनुष्य में बोलने की शक्ति या अर्थवती वाणी अर्थात् भाषा के विकास तथा 'स्वतन्त्रता' के आविर्भाव के साथ उसमें एक नये धरातल पर परम्परा और नैतिकता के नये मूल्यों का विकास हो गया है। ये ही भावी संभाव्य विकास के संकेत-चिन्ह हैं।

विकास के क्रम को देखने पर हम यह निश्चित रूप से देख सकते हैं कि मानव शारीरिक सीमा का अतिक्रमण करके मानसिक धरातल पर ही नहीं आ गया। मानसिक धरातल पर तो बानर ही आ गया था। मनुष्य ने मानसिक पूर्णता पाकर, उसकी सीमा का भी अतिक्रम कर नैतिक धरातल पर चरण रख दिये हैं। और उसे सामने के उदयाचलीय क्षितिज पर अध्यात्म का प्रदेश भी साफ नजर आ रहा है। विकास का क्रम स्पष्ट ही शरीर-मन-नैतिकता-अध्यात्म की दिशा में हो रहा है। और मनुष्य के भावी विकास का दिशा-निर्देशक प्रकाश-स्तम्भ है नैतिक पूर्णता और अध्यात्म की प्राप्ति। यह एक कल्पनामूलक अटकल या अनुमान नहीं, वैज्ञानिक दार्शनिकों के श्रम-साध्य अध्ययन का निचोड़ है।

मानव इस समन विकास की एक संधि-अवस्था से, एक संक्रमण की अवस्था से गुजर रहा है। उसके पीछे है अतीत के घनीभूत होते हुए कुहासे में विलीन होती-सी शारीरिक और मानसिक विकास की परम्परा, और सामने है नैतिक तथा आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष के अनजीते लुभावने क्षितिज ! वह एक चोटी पर खड़ा होकर दूसरी

ऊँची चोटियों को जीतने के संकल्प से भरा उनकी ओर देख रहा है, बल्कि विजय के महाभियान में चल पड़ा है। एक ओर वह पशु-स्तरीय मूलप्रवृत्तियों के मलिन बन्धन से मुक्ति पाने को अकुला रहा है, दूसरी ओर नैतिक उत्कर्ष तथा आध्यात्मिक परिपूर्णता की सात्विक लालसा से वह आगे बढ़ने को ललक रहा है। किन्तु विकास की यह परम्परा बहुत लम्बी है, जिसका एक छोटा-सा खण्ड हमें वैसे ही नजर आ रहा है, जैसे एक करोड़ों मील लम्बी राह पर कहीं बीच में एक माटी का दीया जुगजुगा रहा हो। और थोड़-से भाग को आलोकित करके दिखलायी पड़ने दे रहा हो। वर्तमान का विस्तार विकास के अनन्त क्रम में माटी के दीये के आलोक की परिधि से क्या अधिक है? पर वह छोटी-सी आलोक-परिधि एक बहुत बड़ी शृंखला के दो खण्डों को क्या जोड़ नही रही है अगाध अतीत और अकल्पनीय भविष्य की शृंखलाओं को?

और, मानव का विकास नैतिक धरातल पर हो रहा है, इसका आशय क्या है?

मानव में स्वतन्त्रता का आविर्भाव हो चुका है। इसका आशय है कुछ करने या न करने की, चयन की शक्ति; अर्थात् यह स्वातन्त्र्य उसकी चयन-बुद्धि पर निर्भर है और यही उसकी नैतिक मान्यताओं और नैतिक मूल्यों का मेरुदण्ड है। विकासवाद के अनुसार यह चयन-क्षमता प्राकृतिक चयन-विधि की ही दिशा में कार्य करेगी। इसका आशय यह है कि मनुष्य का विकास ऊपर निर्देश की गयी दिशा में होगा ही; वह केवल उसे त्वरित कर सकता है, तेज करता है, अवरुद्ध नहीं। आगे चयन की प्रक्रिया और स्वतन्त्रता की अभिवृद्धि ही होती जाएगी, तथा नैतिक मूल्य इसी तथ्य पर आश्रित रहेंगे कि वे विकास की उपरिनिर्दिष्ट प्राकृतिक परम्परा को पोषित करते हैं, उनके साधन बनते है, व्याघात नहीं।

वास्तव में नैतिक मूल्यों का आधार, शिव-अशिव, सद्-असत्, अच्छे बुरे, सही-गलत आदि की धारणाएं बुनियाद में विकासमूलक ही हैं। इनका मूल है प्राकृतिक चयन में। प्राकृतिक चयन के क्रम में वह चुना है जो विकास की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में सक्षम होता है। तथा मस्तिष्क के विकास और भाषा के आविर्भाव के साथ वही मानसिक धरातल पर ग्रहण किया जाने पर नैतिकता का मूलाधार बना—शिव, सत्, अच्छा, सही, मंगल, आनन्द, और जटिल विधि से वही धर्म का भी आधार बना। सच बात तो यह है कि नैतिकता ही नहीं, धर्म भी विकास के ही क्रम का परिणाम है, और 'ईश्वर' चरम लक्ष्य का, चरम शक्ति, सम्भावना और ऐश्वर्य का साकार मानवीकृत स्वरूप, जो सच है और प्राप्य है। देवता शिव के, सत्

के मानवीकृत प्रतीक हैं, तथा असुर या दानव अशिव के, असत् के, अमंगल के। देवता स्वाभाविक विकास की सहयोगी शक्तियों और मूल्यों के प्रतीक हैं, असुर विरोधी शक्तियों और मूल्यों के। पुण्य और पाप का भी यही मूल है।

श्रीअरविन्द ने अवचेतना के ऊपर चेतना और आगे अतिचेतना की मान्यता स्थिर की है। यह अतिचेतना पशुत्व के अतिक्रांत मानव के आध्यात्मिक स्तर का ही द्योतन करती है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि मानव का भावी विकास नैतिक और आध्यात्मिक धरातल पर, उसकी स्वतन्त्र चयन शक्ति द्वारा, सम्पन्न होगा। और उसकी दिशा होगी पुण्यमूलक, शिवपरक, जहां आत्मा का अमलिन प्रकाश फूट पड़ेगा।

विकास—एक शब्द-चिंत्र

४

गहन अंधकार·······चारों ओर। और इसी नीरव अंधकार में कहीं-कहीं पर स्पन्दन का आभास। इस आभास ने सम्पूर्ण "पृष्ठभूमि-पदार्थ" (Background material) को जैसे आंदोलित कर दिया हो। इसी आँदोलन से, इसी स्पन्दन से, समस्त 'प्रकृति' एकबारगीं क्रियाशील हो उठी। यह आंदोलन ही तो विश्व का "अनादितत्व" है जिसके द्वारा विकास एवं सृष्टि की सभी भावभंगिमायें निहित हैं इसी अंधकार में अनेक आकृतियाँ प्रादुर्भूत एवं विलीन होती हैं। लय और विलय का यह चक्र अविराम गति से चलता जा रहा है।

इस निरन्तर चक्र में प्रथम आकार खिलखिलाकर हँसता है। यह आकृति ही अजैव जगत (Inorganic) है। इस समय उसका ही एकमात्र राज्य है। विकास इस जगत (या आकृति) से कहता है—"तुम अपने को क्या समझते हो, क्या मैं यहीं पर रूक जाऊँगा—कभी नहीं ?" इस गर्वोक्ति को सुनकर अजैव जगत् कहता है, "मेरी तो यही ध्येय है कि मैं कुछ आगे बढ़ूँ, कुछ तुम्हारी प्रगती में हाथ बटाऊँ।

"वह कैसे ?' और विकास ने उस पर दृष्टि जमा दी।

यह सुनकर अजैव जगत् ने अनेक शाखाओं प्रशाखाओं में अपने को विभाजित करना शुरू किया। विभाजन का यह क्रम कुछ समय तक चलता रहा। यह देखकर विकास आश्चर्यचकित हो गया, और काफी देर बाद, उसे अपने में एक परिवर्तन, एक प्रगति का आभास प्राप्त हुआ। उसके सामने अन्य प्रगतिशील जगत् उभरने लगा। अपने अंदर एक अद्भुत शक्ति को जैसे उसने क्रियाशील पाया हो। अंत में, उसने उस नवागन्तुक से पूछा, "तुम कौन हो ?" उत्तर मिला, "मुझे नही पहचानते मैं हूँ तुम्हारी प्रगति का स्तंभ।"

"मेरी प्रगति का स्तंभ, कैसे ?" वह विभ्रमित हो गया।

"मैं हूँ जैव जगत (Orgnaic world) का प्रगतिशील स्तंभ, क्या तुम मुझे नहीं जानते ?"

यह कहकर, जैव जगत् ने अपने आयामों को विस्तार देना प्रारम्भ किया, क्योंकि उसके अयमों में विकास की प्रगतिशीलता समाई हुई थी। विकास ने विस्मित होकर जैव जगत् को देखा और पूछा, "यह तुम क्या कर रहे हो ? अपनी सीमाओं को तोड़ रहे हो।"

"सीमाओं को तोड़े बगैर चेतना का विकास कैसे आगे हो सकता है। ये विभिन्न प्रकार के जीव एवं प्राणी, जों तुम्हें अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हुए दिखाई दे रहे हैं, क्या वे अपनी सीमाओं को नहीं तोड रहे हैं ? यदि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो वे कैसे मेरा भाग्य बदल सकेंगे ?" यह सुनकर समस्त जीव जगत् विकास की ओर देखकर मुस्करा उठा। उस समय विकास के तन में स्फूर्ति तथा जीवनी-रस का संचार होने लगा। उसे लगा कि उसकी प्रगति की दिशायें निश्चित हो रही हैं और जैव जगत् उसे पूर्ण करने के लिए क्रियाशील है। अब उसे लगा कि उसका भाग्य जैव और अजैव दोनों से समान रूप से बँधा हुआ है जैसे जीवन के साथ मृत्यु। यह सोचते सोचते-उसने अपने नेत्रों को बंद कर लिया और उसके अन्तर्तम में जो निराशा का अंधकार व्याप्त था, वह धीरे-धीरे किसी तेज प्रकाश-पुंज से लुप्त होने लगा। उस प्रकाश-पुंज का आकार गोल था जो क्रमशः अपना विस्तार कर रहा था। उसने अनायास अपनी आँखें खोल दीं और जैव जगत से पूछा "यह गोलाकार प्रकाश क्या है जो मुझे आंतरिक प्रेरणा दे रहा है ?

"यह प्रकाश, जो तुम्हारे अन्दर है, वह मेरे अन्दर भी है—यही नहीं, वह तो समस्त बह्मांड में है—कहीं व्यक्त है तो कहीं अव्यक्त।"

इस पर विकास ने प्रश्नसूचक दृष्टि से पूछा "उसका नाम ?" जैव जगत् ने शाँत तथा गंभीर स्वर में कहा—"यह है हमारा तुम्हारा भाग्य-विधाता-चेतना का आलोक जिसका अस्तित्व हमारा अस्तित्व है।

इच्छा और जिज्ञासा की समन्वित भूमि पर, विकास को अनुभव हुआ कि वह उस आकार के दर्शन करे, उसका साक्षात्कार करे। इस ध्येय को पूरा करने के लिए उसने तथा जैव जगत् ने चेतना की आराधना आरम्भ की। सच्ची आराधना तथा सच्चे विश्वास में एक बल होता है जो आराध्य को पास खींच लाता है। उनके विश्वास ने चेतना को प्रसन्न कर लिया और वह एक भव्य तथा प्रकाशवान् आकार

के रूप में अवतरित हुई। उसनें सुमधुर स्वर में चेतावनी दी—'मैं अनादि काल से अजैव और जैव जगतो में अनेक रूपों में संघर्ष करती रही हूँ और आज इस स्थिति पर पहुंची हूँ कि तुम्हारी प्रेरणा को और भी गतिशील कर सकूं। मैं विकासशील हूँ—प्रगति पथ की अन्वेषिका हूँ। मैं नित नूतन क्षितिजों को स्पर्श करना चाहती हूँ। मैं एक ऐसे प्राणी का उदय चाहती हूँ, जो मेरी शक्ति का उच्चतम बिन्दु हो—यही नहीं वह समस्त जीव-जगत् का सबसे विकसित प्राणी हो।

यह वचन कहते-कहते चेतना ने एक अद्भुत अभियान का रूप ग्रहण किया और उसने "विकास को अपनी उच्चतम भेंट प्रदान की—मानव नामधारी प्राणी के रूप में।

————

आधुनिक काव्य का भाव-बोध और वैज्ञानिक चिंतन | ५

आज के वैज्ञानिक युग में किसी भी मानवीय ज्ञान का निरपेक्ष महत्व संभव नहीं है। उनका सापेक्षिक महत्व ही मान्य है। यह तथ्य केवल ज्ञान के लिए ही नहीं पर समस्त प्राकृतिक घटनाओं (फिनामिनन) तथा सृष्टि और उसके संतुलन के लिए क 'सत्य' है। इस दृष्टि से भी विज्ञान और साहित्य का सापेक्ष महत्व है।

वैज्ञानिक चिंता-धारा से प्रयोजन है वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं को काव्य में इस प्रकार का रूप देना जो अपनी जटिलता को काव्य की 'सरलता' और 'मधुरता में रूपांतरित कर सके तथा उन सिद्धांतों तथा प्रस्थापनाओं के आधार पर वह मानव-जीवन, जगत तथा ब्रह्मांड के प्रति नव चिंतन को गतिशील कर सके। इस चिंतन में में भौतिक प्रगति तथा तकनीक का प्रसंगवश सहारा लिया जा सकता है जो मानवीय विचार तथा तत्व-चिंतन में सहायक हों। इस कार्य में कवि की अनुभूति तथा विज्ञान की तर्क-शक्ति एक नवीन मर्यादा अथवा प्रतिमान को जन्म दे सकती है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि वैज्ञानिक-चिंताधारा को काव्य में लाया ही नहीं जा सकता है क्योंकि दोनों की प्रकृति तथा विधाओं में अन्तर है। यहां 'अंतर' का जो प्रश्न है उसे ही समन्वय का आधार बनाना है क्योंकि 'अंतर कों ही समतल भूमि पर लाना है जो विचारों का आवश्यक धर्म है। यही दर्शन का क्षेत्र है। जिस प्रकार एक कवि किसी धार्मिक-दार्शनिक सिद्धांत तथा प्रस्थापना को काव्य की भावभूमि में प्रस्तुत करता रहा है, क्या उसी प्रकार, वह वैज्ञानिक चिंता-धारा को काव्यात्मक परिणति नहीं दे सकता है? इसके लिए आवश्यक है कि वह विज्ञान की गहराई को उसकी अंतःप्रेरणा को हृदयंगम कर, उसे काव्यात्मक रूप प्रदान करे। तभी वह आधुनिक भावबोधगत मूल्य (या प्रतिमान) के समीप पहुंच

सकता है । यह 'मूल्यवान जगत', अज्ञेय के अनुसार सकुचा रहता है, जो बिना 'डूबे' शायद अनुभूति के क्षेत्र में न आ सके :

सभी जगत—
जो मूल्यवान है सकुचा रहता है
अदृश्य, सीपी के मोती सा
जो मिलता नहीं बिना सागर में डूबे

(अरी ओ करुणा प्रभामयी)

वैज्ञानिक चिंतन का बहुत कुछ प्रभाव आधुनिक भावबोध के विकास पर पड़ा है । यहाँ पर आधुनिकता' से तात्पर्य प्राचीन परम्पराओं से सर्वथा विच्छेद नहीं है, पर उसका अर्थ स्वस्थ आधुनिक चिंतन का प्रतिरूप है जिसमें नव-प्रतिमानों तथा मूल्यों का समुचित योग हो । वैज्ञानिक युग की 'आधुनिकता' का मापदण्ड यही तथ्य है ।

आधुनिक भावबोध की बात अनेक रूपों में विचारकों के द्वारा उठायी गयी है । स्टीफेन स्पेंडर ने 'आधुनिकता' पर जो कुछ भी कहा है, उनमें से तीन तत्व विशेष महत्व रखते हैं । वे तत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं । उनका कहना है कि पूर्ण आधुनिक होने के लिए प्राचीन मूल्यों का पूरा ह्रास होना, समसामयिक घटनाओं में पूर्ण अवगाहन और फिर इनमें से कला और साहित्य का सर्जन ? (हाइलाइट्स ऑफ माडर्न लिटरेचर) ये तीनों तत्व आधुनिक भावबोध के लिए न्यूनाधिक आवश्यक है । समसामयिकता के प्रति पूर्ण जागरूक रहना, प्रत्येक समस्या को बौद्धिक परिवेश में देखना और घटनाओं को निरपेक्ष रूप में न देख कर इन्हें सापेक्ष रूप में महत्व देना—ये सभी तत्व आधुनिक भावबोध के रूप-निर्माण में सहायक तत्व हैं । मूलतः वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के लिए सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा 'विश्लेषण' की भावना है । वैज्ञानिक चिन्तन में विश्लेषण वह पूर्ण तत्व (होल) है । जो अंशों में (पार्ट्स) विभाजित हो सके अथवा 'अंशों' का सह-अस्तित्व 'पूर्ण' का द्योतक हो सके । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए एडिंगटन ने एक स्थान पर कहा है—संसार के सभी रूप-प्रकार जो दृष्टिगत हैं, उनका अस्तित्व विभिन्न अंशों के आपसी संबंधों पर आधारित हैं ।' (द फिलासफी ऑफ फिज़िकल साइन्स, पृ० १२२) दूसरे शब्दों में, आधुनिक भावबोध में 'अंश' का, क्षण का और प्रत्येक घटना का महत्व इसी दृष्टि में हैं कि वह कहां तक 'पूर्ण' की व्यंजना कर सका है । इस आणविकयुग में एक सेकेंड का सौवाँ हिस्सा मूलतः 'अनंतता' का प्रतीक है । आधुनिक हिंदी कविता ही नहीं, पर विश्व के सभी प्रगतिशील साहित्यों में क्षण का, घटना

का और अंश का महत्व इसी दृष्टि से बढ़ता जा रहा है। वैज्ञानिक चिंतन से उद्भासित यह आधुनिक भावबोध की प्रक्रिया, एक प्रकार से, आज की रचना-प्रक्रिया का एक विशिष्ट अंग है। क्षण का महत्व ही आज के संपूर्ण जीवन का महत्व हो गया है। यह विचार, माखनलाल चतुर्वेदी की निम्न दो पंक्तियों में साकार हो सका है, जो मेरे सम्पूर्ण विवेचन का निष्कर्ष है :

क्षणिक के आवर्त में
उलझे महान विशाल

(वेणु ले गूँजे धरा)

आधुनिकता के साथ सौंदर्य-बोध का प्रश्न महत्व रखता है। काव्य में सौंदर्य-बोध का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। दूसरी ओर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं में सौंदर्य की अन्विति नहीं प्राप्त होती है। और जब इन प्रस्थापनाओं को काव्य का विषय बनाया जायगा, तब उनके द्वारा भी सौंदर्यानुभूति नहीं हो सकेगी। जब हम इस प्रकार की कष्ट-कल्पना करेंगे, तब हम समस्या का सही मूल्याँकन नहीं कर सकेंगे। जहाँ तक सौंदर्य-बोध का प्रश्न है, वह विज्ञान में भी प्राप्त है, वह केवल कला की बपौती नहीं है। वैज्ञानिक सौंदर्य-बोध के लिए बौद्धिक अंतर्वृष्टि की आवश्यकता है। वैज्ञानिक का सौंदर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता और समरसता में निहित है। वह, आइंस्टीन के शब्दों में, 'विश्व के अंतराल में एक 'पूर्व-स्थापित सामरस्य' के सौंदर्य को कार्यान्वित देखता है। वह अपने सिद्धात के द्वारा इसी सामरस्य को प्रकट करता है। काव्य भी इस सौंदर्य को ग्रहण कर सकता है, जो कवि के लिए एक नवीन मूल्य है। आज के कवि को एक ऐसे ही सौंदर्य-बोध की आवश्यकता है, जिसमें उसकी भावात्मक एवं संवेदनात्मक सत्ताएं बौद्धिक अन्तर्दृष्टि से समन्वित हों, काव्य के लयात्मक 'अर्थ-बोध' को एक नवीन दिशा दे सके। मैं समझता हूँ कि आज की 'नयी कविता' इस दिशा की ओर प्रयत्नशील है। इसी मानसिक एवं बौद्धिक स्थिति को डॉ० जगदीश गुप्त ने **नये स्तर पर रसास्वादन की प्रतिष्ठा** कहा है (नयी कविता-३,पृष्ठ ५) जो उपर्युक्त विश्लेषण की पुष्टि करता है। इस नवीन प्रतिष्ठा में कवि को विज्ञान के विशाल क्षेत्र से सौंदर्य-बोध के अनेक आयाम मिल सकते हैं। मैक्सवेल के विद्युतचुंबकीय सिद्धांत में ('एलेक्ट्रो-मैग्नेटिक थियरी'), डार्विन के विकासवाद में, आइंस्टीन के सापेक्षवादी सिद्धांत में और नक्षत्र-विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व-रहस्य में कवि को सौंदर्य तथा अनुभव के अनेक गतिशील आयाम प्राप्त हो सकते हैं। ये अनुभव तात्विक-चिंतन को भी गति दे सकते हैं; और इस प्रकार, इस सत्य को हमारे सामने प्रकट करते

हैं कि विज्ञान का चिंतन-पक्ष भी संभव है जो दार्शनिक क्षेत्र से संबंधित है। अतः, यहाँ पर बौद्धिक अनुभूति का अपना विशिष्ट स्थान है और इस सत्य के प्रति संकेत भी है कि आज के परिवेश में, सौंदर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है। अज्ञेय ने भी ज्ञान और सौंदर्य-बोध का संबन्ध इस प्रकार व्यंजित किया है :

अनुभूति कहती है कि जो नंगा है
वह सुंदर नहीं है;
यद्यपि सौंदर्य-बोध ज्ञान का क्षेत्र है।
(इत्यलम्)

इस प्रकार, कवि के लिए विश्व और प्रकृति एक नियमबद्धता (ऑर्डर) से युक्त प्रतीत हो सकती है। कवि की यह अंतर्दृष्टि एक अन्य तत्व की अपेक्षा रखती है और वह है किसी 'वस्तु' को उसके परिवेश या संबन्ध में देखना। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे स्थलों पर विज्ञान विश्वजनीन आरोहण की ओर अग्रसर होता है जो कला और साहित्य का भी ध्येय है। परन्तु सूलीवैन में **विश्वजनीन आरोहण का जितना विकास एवं विस्तार विज्ञान में देखा है, उतना कला और साहित्य में नहीं।** (लिमिटेशंस ऑफ़ साइन्स. पृ० १७२) यह माना जा सकता है कि कला और साहित्य में विश्वजनीनता का रूप विज्ञान से साम्य रखते हुए भी, पद्धति की दृष्टि से कुछ अलग पड़ जाता है। परन्तु फिर भी, कहीं पर वह संधि अवश्य वर्तमान है जहाँ पर खड़े हो कर कवि दोनों में सामरस्य ला सकता है। यह सामरस्य, चिंतन पर आश्रित एक बौद्धिक अंतर्दृष्टि है। विज्ञान की दृष्टि से, आधुनिक भाव-बोध की सबसे बड़ी माँग यही अंतर्दृष्टि है।

वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में 'कल्पना' का भी एक विशिष्ट स्थान होता है। यहाँ पर 'कल्पना' का सीमित क्षेत्र अथवा अर्थ लेना उचित नही होगा कल्पना को केवल काव्य और कला तक ही सीमित रखना, उसके व्यापक रूप के प्रति उदासीनता ही मानी जायेगी। विज्ञान के क्षेत्र में कल्पना का एक विशिष्ट स्थान है, पर इतना अवश्य है कि कला और विज्ञान में कल्पना की निहित में अवश्य अन्तर है। अन्तर केवल इतना है कि वैज्ञानिकअपनी कल्पना को अबाध रूप नहीं दे सकता है, क्योंकि वह उसे प्रयोग एवं तर्क के द्वारा अनुशासित करता है और उसी के आधार पर किसी निष्कर्ष तक पहुँचता है। परन्तु कलाकार की कल्पना, इतनी सीमित नहीं होती है, पर कभी-कभी वह कल्पना के द्वारा अतिरंजित रूप की सृष्टि भी कर देता है। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कवि को विज्ञान की चिंताधारा को व्यंजित करते समय संयम से अवश्य काम लेना पड़ेगा। यदि इसे और भी स्पष्ट

रूप से कहूँ, तो कवि को **बौद्धिक संयम** से भी काम लेना पड़ेगा। इसे आज के परिवेश में हम नवीन भाव-बोध की संज्ञा भी दे सकते हैं। कल्पना का यह रूप हमें अंग्रेजी के अनेक कवियों में प्राप्त होता है जिन्होंने अपनी कल्पना को नक्षत्र-विद्या द्वारा उद्घाटित विश्व-रहस्य के प्रांगण में क्रियात्मक रूप प्रदान किया है। बटलर पोप और मिल्टन आदि कवियों में विश्व-रचना के प्रति जिस कल्पना ने कार्य किया है, वह विज्ञान के अनुसंधानों से शासित है।(साइन्स एंड इमेजिनेशन, मार्जोरी निकाल्सन, पृ० ८-१५) कदाचित इसी कारण पास्कल ने किसी स्थान पर कहा है : **यह दृश्यमान जगत, प्रकृति के विराट क्रोड़ में केवल एक विंदु है जिसे हमारी कल्पना हृदयंगम कर पाती है।** इस विषय का पूर्ण विवेचन इन निबध के दूसरे खंड में किया जायगा।

इस प्रकार' केवल विज्ञान में ही नहीं, पर समस्त मानवीय क्रियाओं में कल्पना का एक विशिष्ट स्थान है। जहाँ तक विज्ञान और कला का प्रश्न है, उनमें कल्पना और अनुभव का एक समन्वित रूप ही प्राप्त होता है। कवि की रचना-प्रक्रिया में, इन दोनों तत्वों का सापेक्षिक महत्व आधुनिक भाव-बोध की सबसे बड़ी माँग है। जब कोई भी कलाकार अनुभव तथा यथार्थ की भूमि को छोड़कर, केवल कल्पना के पंखों का ही आश्रय लेगा, तब वह आज के भाव-बोध को, आज की समस्याओं को तथा आज के तत्व-चिंतन को पूर्णतया हृदयंगम करने में असमर्थ रहेगा। इसी से, प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक डिंजिल ने एक स्थान पर कहा है : **अनुभव से परे अपने को सिद्धहस्त मानना, अपनी बरबादी को आमंत्रित करना है।** (द साइन्टिफिक एड-वेंचर, पृ० २६१) इस दृष्टि से केवल विज्ञान में ही नहीं बल्कि साहित्य तथा कला में भी नव-अनुभवों का सापेक्षिक महत्व है। इन्हीं अनुभवों के आधार पर 'ज्ञान' का प्रासद निर्मित होता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक भाव-बोध में ज्ञान का भी एक विशिष्ट स्थान मानना उचित होगा। परम्परा से यह मान्यता रही है कि काव्य में 'ज्ञान' के विविध रूपो का समावेश, काव्य की काव्यात्मकता (?) को विनष्ट कर देगा, कम से कम, संपूर्ण उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में, मैं इसा अधूरी दृष्टि को मानने में असमर्थ हूँ या अपने को असमर्थ पाता हूँ।

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन ने 'ज्ञान' के सापेक्षिक रूप को हमारे सामने रखा है। उसने, 'ज्ञान' की गरिमा को अनेक आयामों में गतिशील किया है। हम संभवतः यह मानते आये हैं कि वैज्ञानिक ज्ञान भौतिक है, ऐन्द्रिय है जो वैज्ञानिक 'ज्ञान' का केवल एक पक्ष ही माना जा सकता है। जहाँ तक वैज्ञानिक चिंतन का प्रश्न है, वह केवल उसी का आधार नहीं ग्रहण करता है, पर वह ज्ञान के तात्विक अथवा अभौतिक रूप के प्रति भी सजग रहता है। आइंस्टीन, एडिंगटन, ह्वाइटहेड तथा

नार्लिकर आदि ने विज्ञान के इसी व्यापक ज्ञान को ग्रहण किया है। इन वैज्ञानिक चिंतकों के विचारों में जो चिंतन का स्पष्ट आग्रह प्राप्त होता है, वह विज्ञान को 'दर्शन' का प्रेरक मानता है क्योंकि समस्त ज्ञान का अंतिम पर्यवसान 'दर्शन' के महाज्ञान में होता है।

जहाँ तक आधुनिक विचारधारा का प्रश्न है, वह भी अनेक रूपों में वैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावित होता है। यह एक सत्य है कि गतिशील विचारधाराएँ सदैव विकासोन्मुख होती हैं और वे किसी सीमित परिप्रेक्ष में आबद्ध नहीं रहती हैं। परंतु इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि किसी भी विचारधारा या दर्शन का निजी व्यक्तित्व नहीं होता। इस दृष्टि से वैज्ञानिक विचारधाराओं का एक अपना व्यक्तित्व है जिसने केवल दर्शन को ही नहीं, पर अन्य मानवीय ज्ञान-क्षेत्रों को भी प्रभावित किया है। यह संपूर्ण विषय एक अन्य पुस्तक का विषय है, पर उपर्युक्त सारे विवेचन के प्रकाश में मैंने जिन मान्यताओं को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है उनमें भी वही दृष्टि अपनायी गयी है। आज का काव्य-जगत भी उस प्रभाव से अपने को अछूता नहीं रख सकता है और यह संभव भी नहीं है। यहाँ केवल एक विशिष्ट भाव-बोध का प्रश्न है, जो मध्ययुगीन भाव-बोध से भिन्न पड़ता है।

इस प्रकार आज के चिंतन-क्षेत्र में जो संघर्ष तथा समन्वय की प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं, वे शुभ तो हैं, पर इसके साथ ही साथ, इनकी परीक्षा तथा मूल्यांकन का महत्व भी है। विचारों का संघर्ष सदैव ज्ञान का उन्नायक होता है और मानवीय ज्ञान संघर्ष की कसौटी पर ही खरा उतरता है। अतः आधुनिक दार्शनिक चिंतन, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, उसका औचित्य प्रो॰ इंडिग्टन के शब्दों में **इस बात में समाहित है कि वह कहाँ तक आध्यात्मिक अनुभव को, एक 'जीवन-तत्व' के रूप में स्थान दे सका है।** (साइंस एन्ड द अन्सीन वर्ल्ड, पृ॰ २९) यदि मानव-मूल्यों का जीवन में महत्व मान्य है तो इस मूल्य को भी हमें आज के चिंतन में स्थान देना होगा। यही कारण है कि जब हम ज्ञान और मूल्य के सापेक्षिक संबंध पर विचार करते हैं तो कहीं न कहीं इन दोनों तत्वों का समाहार मानव-जीवन में होता हुआ दिखायी देता है। काव्य के भावबोध में भी यह संघर्ष लक्षित होता है या हो सकता है कविता भावबोध से 'मूल्य' की सृष्टि करती है। यहाँ पर मेरा यह अर्थ कदापि नहीं है कि काव्य-चेतना केवल मूल्यों का रंगस्थल है, पर इतना तो अवश्य है कि उस चेतना में, उस भाव-बोध में, 'मूल्य' की अन्तर्धारा व्याप्त रहने से वह और भी अधिक संप्रेषणीय एवं सटीक हो जाती है। यह मूल्य व्यंजित होना चाहिए न कि वह ऊपर से थोपा हुआ प्रतीत हो तभी काव्यात्मक भाव-बोध में उसका महत्व ग्रहण किया जा सकता है।

वैज्ञानिक प्रस्थापनाएं और आधुनिक हिंदी काव्य

६

काव्य में चिंतन के आयाम

पिछले निबंध में साहित्य अथवा काव्य और विज्ञान के अन्योन्य सम्बन्ध की रेखाओं को स्पष्ट किया गया है। इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में, आधुनिक हिन्दी काव्य का अनुशीलन अपेक्षित है। वैसे तो आधुनिक काव्य में हमें वैज्ञानिक चिंतन के प्रभाव का अनेक आयामों में दर्शन प्राप्त होता है, जिसका सम्पूर्ण विवेचन एक पुस्तक के द्वारा ही क्रमबद्ध रूप में रखा जा सकता है। फिर भी, विषय की विशालता को ध्यान में रखकर, मैं अपने अध्ययन को निम्न शीर्षकों में प्रस्तुत कर रहा हूँ, जो अध्ययन की बहुत ही प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१—परमाणु रहस्य
२—विकासवादी सिद्धान्त और चिन्तन (जीव तथा वनस्पति जगत)
३—सृष्टि रहस्य (ग्रह, नीहारिकायें, नक्षत्रादि)
४—मूल्यगत चिंतन

परमाणु—रहस्य

विज्ञान ने भौतिक पदार्थ की सूक्ष्मतम् इकाई को 'परमाणु' की संज्ञा प्रदान की है। परमाणु के भी अन्दर उसकी विद्युत शक्ति की व्याख्या करने के लिए एलक्ट्रान, प्रोटान, पाजिट्रान आदि की की कल्पना की गई। एलक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत्-शक्ति का और प्रोटान धनात्मक विद्युत-शक्ति का केन्द्र या प्रतीक माना गया है। दोनों ही शक्तियाँ निष्क्रियावस्था में रहती हैं। इसी भाव की सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति कविवर प्रसाद ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

आकर्षणहीन विद्युतकण बनें भारवाही थे भृत्य ।[1]

पूरे महाकाव्य में प्रसाद जी परमाणु की रचना तथा प्रकृति के प्रति पूर्ण रूप से सचेत हैं । बीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का उद्घाटन, डाल्टन, बोहर आदि वैज्ञानिकों ने किया था । परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है । प्रत्येक परमाणु दूसरे के प्रति आकर्षित ही नहीं होता है, वरन् उस आकर्षण में सृष्टि- क्रम की न जाने कितनी सम्भावनाएँ समाई रहती है । इसीलिए परमाणु जो स्ययं एक-एक ब्रह्मांड है, स्वयं अनादि 'ब्रह्मरूप' है और सौर-मण्डल की रचना का प्रतिरूप है, ऐसे परमाणु के प्रति कवि क्यों न संवेदनशील हो उठे । गिरिजाकुमार माथुर ने परमाणु को इसी रूप में देखा है—

हो गया है फिशन अणु का,
परमब्रह्म अनादि मनुका
ब्रह्म ने भी खूब बदला नाम
लोक हित में पर न आया काम ।[2]

अणु के ब्रह्मांड रूप के प्रति डा० रामकुमार ने अपने "एकलव्य" महाकाव्य में कहा है—

भरता है व्यौम का विशाल मुख निःक्षत
एक एक विश्व मौन एक-एक कण में ।[3]

सत्य में, परमाणु की यह गुप्त शक्ति ही जब प्रकट होती है, तभी संहार तथा निर्माण दोनों की समान सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं । परमाणु का निष्क्रिय रहना या विश्राम करना मानो प्रकृति की गतिशील विकासशीलता में व्यवधान उपस्थित करना है । अतः प्रो० आइंस्टीन के अनुसार परमाणुओं में वेग (Velocity) कंपन (Viberation) और उल्लास (Veracity) तीनों की अन्विति प्राप्त होती है । तीनों के सम्यक् समन्वय या समरसता में ही सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है प्रसाद ने इसी तथ्य को सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है जिसमें वैज्ञानिक चिन्तन का रसात्मक बोध प्रकट होता है—

---

१. कामायनी द्वारा प्रसाद, चिन्ता सर्ग पृष्ठ २०
२. धूप के धान द्वारा श्री गिरजाकुमार माथुर, पृष्ठ ७९
३. एकलव्य द्वारा डा० राजकुमार वर्मा, पृष्ठ ५

अणुओं को है विश्राम कहाँ,
यह कृतिमय वेग भरा कितना।
अविराम नाचता कंपन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना।[१]

इसी भाव को पंत ने इस प्रकार रखा है—

महिमा के विशद् जलधि में
हैं छोटे-छोटे से कण।
अणु से विकसित जग जीवन
लघु.लघु का गुरुतम साधन।[२]

अणु हैं तो लघु, पर इन्हीं लघु तत्वों के संयोग से गुरुतम सृष्टि-कार्य भी सम्पन्न होता है। इसी कारण से प्रसाद ने परमाणुओं को चेतनयुक्त भी कहा है जिनके अन्योन्य संलंधों में, उनके बिखरने तथा विलीन होने में सृष्टि का विकास एवं निलय निहित रहता है—

चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षण भर।[3]

परमाणु का यह विकास तथा निलय, उसके चिरन्तन रूप का द्योतक है। यही कारण है कि वैज्ञानिक परमाणु को विकास का केन्द्र मानते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि में देखा जाय तो एक वैज्ञानिक के किए परमाणु की सत्ता "असीम" के रूप में मानी जा सकती है और यहाँ पर आ कर वह एक रहस्यवाद की ओर प्रेरित होता है जो वैलानिक-रहस्यवाद के अन्तर्गत आता है। इसी भाव की काव्यात्मक पुनरावृत्ति 'अज्ञेय' ने निम्न रूप मै प्रस्तुत की है—

एक असीम अणु,
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है;
अपने भीतर समा लेना चाहता है।
उसकी रहस्यमयता का परदा खोलकर
उसमें मिल जाना चाहता है
यही मेरा रहस्यवाद है।[४]

---

१. कामायनी काम सर्ग, पृष्ठ ६५
२. गुंजन द्वारा सुमित्रानन्दन पंत, पृष्ठ २८
३. कामायनी द्वारा प्रसाद' पृष्ठ ८२
४. इत्यलम् द्वारा अज्ञेय कविता 'रसस्यवाद' पृ० ६३

बर्टरंड रसल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मिस्टिसिज्म एन्ड लाजिक" (Mysticism and Logic) में वैज्ञानिक रहस्यवाद का विश्लेषण उपस्थित करते हुए इस सत्य की ओर संकेत किया है कि जब व्यक्ति समय तथा दिक् की सीमाओं को लाँघकर या उन्हें आत्मसात् कर एक अन्तर्दृष्टि की अनुभूति प्राप्त करता है, तब वहाँ वैज्ञानिक रहस्यवाद की सृष्टि होती है।[1] अज्ञेय का उपर्युक्त कथन इसी अन्तर्दृष्टि को समक्ष रखता है।

विकासवादी सिद्धात और चिंतन

परमाणु की गतिशीलता के विवेचन के पश्चात् आधुनिक काव्य में डारविन के विकासवादी चिन्तन का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। इस सिद्धान्द को पुष्टि तथा परिमार्जित करने में लामार्क, मैंडिल, हक्सले तथा लूकाँमटे डूँनू आदि वैज्ञानिकों, दार्शनिकों का काफी योग है। आज के काव्य में इन चिन्तकों के विचारों का यदा-कदा संकेत प्राप्त हो जाता है जिसकी ओर प्रसङ्गवश इंगित किया जायगा।

डारविन का विकासवादी सिद्धान्त सारी दार्शनिक समस्याओं को सुलझा नहीं पाता है। फिर भी वह एक ऐसी क्रांतिकारी धारणा है जिसने आदिम मान्यताओं की नींव हिला दी है। डारविन के विकासवाद की तीन प्रमुख मान्ताएँ हैं। प्रथम अस्तित्व के लिए संघर्ष, द्वितीय उस संघर्ष में समर्थ का विजयी होना और तृतीय विकास-क्रम का रूप प्राकृतिक निर्वाचन के द्वारा सम्पन्न होना। यह अस्तित्व का संघर्ष जड़ तथा चेतन दोनों में समान रूप से दृष्टिगत होता है। इसी कारण डारविन ने इस मान्यता को सामने रखा कि जीवन का विकास जड़ तथा चेतन पदार्थों का एक क्रमागत रूप है या दूसरे शब्दों में जैव [organic चेतन) तथा अजैव (inorganic जड़) जगत में एक सम्बन्ध है, उनके विकास में दोनों का अन्योन्य सम्बन्ध है। कविवर पंत के शब्दों में:—

जड़ चेतन हैं एक नियम के वश परिचालित।
मात्रा का है भेद, उभय है अन्योन्याश्रित।[2]

जैसा कि ऊपर कहा गया कि विकासवादी सिद्धांत में संघर्ष एक शाश्वत नियम है जो विकास की गति को आगे बढ़ाता है। संघर्ष के प्रति प्रसाद जी पूर्ण रूप से सजग हैं जब वे कहते हैं—

---

१. मिस्टिसिज्म एण्ड लाजिक द्वारा बटरंड रसल—देखिए इसी नाम पर उनका लेख।
२. युगवाणी द्वारा सुमित्रानन्दन पंत, 'भूत-जगत' पृ० ५४

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव,
शाश्वत रहता यह एक मन्त्र । [१]

यद्यपि प्रसाद दार्शनिक क्षेत्र में इस संघर्षमूलक विकास को मान्यता देते हैं, परन्तु फिर भी उनकी यह मान्यता 'विकासवाद' के एक तत्व को प्रमुखता किसी न किसी रूप में अवश्य देती है । यह स्पर्द्धा वैज्ञानिक-दर्शन को एक नई दृष्टि देती है और वह दृष्टि है लोक काल्याण की भावना । डारविन ने जीवन के लिए अन्धसंघर्ष का प्रतिपादन किया था जो आगे चलकर- अन्य विकासवादियों (हक्सले, लामार्क) को मान्य नहीं हुआ । प्रसाद की भी दृष्टि केवल जड़-संघर्ष तक ही सीमित नहीं रही पर उन्होंने समर्थ के विजयी होने का (Survival ot the Fittest) एक मूल्य भी माना है और वह मूल्य है कि ऐसे समर्थवान् व्यक्ति संसृति का कल्याण करें—

स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें ।
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बनावें ।[२]

इस कथन में प्रसाद का चिंतन मुखर होता है । पर एक अंग्रेजी कवि ग्रेन्ट एलन अपनी कविता "बैंले आफ इवोल्यूशन" में इस तथ्य को नितांत उसी रूप में रख दिया है जो विकासवादी सिद्धान्त में है—

For the Fitiest will always survive
While the weakest go to theWall[3]

अस्तु, विकासवादी सिद्धान्त में "समय" का समावेश एक तथ्य है जिसे डारविन ने अपने विकासवाद का केन्द्र माना है । उसके अनुसार यह समस्त मानवीय इतिहास "परिवर्तन" और "प्राकृतिक निर्वाचन" के द्वारा विकासशील रहा है । 'परिवर्तन' जहां एक ओर प्रकृति का शाश्वत नियम हैं, वही वह विकास का आधार भी माना गया है । अत: परिवर्तन और प्रकृति में सापेक्षिक सम्बन्ध है और इसी से विकासवाद भी वैज्ञानिक चिंतन के लिए सापेक्षिक दृष्टि की मान्यता प्रदान करता है ।[४] परिवर्तन और प्रकृति के इसी सापेक्षिक महत्व को प्रसाद ने अपने महाकाव्य कामायनी में यदा कदा संकेत किया है—

---

१. कामायनी द्वारा प्रसाद, इड़ा सर्ग पृ० १६३
२. कामायनी द्वारा प्रसाद, पृ० १६५ संघर्ष सर्ग
३. ए बुक आफ साइन्स वर्स से उद्धृत, पृ० १५८
४. मैन इन द माडर्न वर्ल्ड द्वारा जूलियन हक्सले, पृ० २०३

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द,
किये हैं परिवर्तन में टेक ।।[१]

यह तो हुआ विकास-क्रम का मानवीय धरातल तक विकास। यहाँ पर आकर अनेक विकासवादी-चिंतन रुकते नहीं हैं, पर वे आशावादी दृष्टि से विकास की गति को आगे की ओर भी देखने में प्रयत्नशील हैं। हक्सले और लीकामटे डूँनू का विचार है कि 'मानव' ही एक ऐसा प्राणी है जो अपना विकास आगे कर सकता है।[२] जहाँ तक भौतिक या शरीरी विकास का प्रश्न है, मानव नामधारी प्राणी में वह विकास उच्चतम् दशा में प्राप्त होता है। इसी विकास की चरम परिणति की ओर श्री गिरिजाकुमार माथुर ने एक पंक्ति में सम्पूर्ण स्थिति को मानो केन्द्रित कर दिया है—

"तन रचना में मानव तन सबसे सुन्दर।"[३]

परन्तु प्रश्न है कि अब मानव किस ओर विकास की गति को मोड़ सकता है या मोड़ रहा है। मस्तिष्क-संगठन (Brain Orgaization) में वह अन्य जीव-धारियों से कहीं श्रेष्ठ है; अतः इस दिशा में वह कदाचित् अपना भावी विकास न कर सकेगा। वह अपना भावी विकास मानसिक तथा आध्यात्मिक चेतना की ओर ही कर सकेगा। यही मानसिक चेतना उसके भावी विकास का विहान कहा जा सकता है।[४] इसी दशा का संकेत हमें पंत की अनेक काव्य-पुस्तकों में प्राप्त होता है जिस पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत होता है जो एक अखण्ड चेतना का विकास द्रव्य से लेकर अतिचेतना क्षेत्र (Super conscient) तक मानते हैं। पंत की निम्न दो पंक्तियां उपर्युक्त दशा को सुन्दर रूप में प्रस्तुत करती हैं—

बदल रहा अब स्थूल धरातल
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल।[५]

---

१. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५५
२. द ह्यूमन डेस्टनी द्वारा लीकामटे डूँनू, पृ० ७६
३. धूप के धान, द्वारा गिरिजाकुमार माथुर, पृ० १०७
४. द ह्यूमन डेस्टनी, पृ० ८८
५. उत्तरा द्वारा पंत, कविता "युग पथ पर मानवता का रथ" पृ० १

अथवा

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित ।

एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित ।।[1]

यह "एक विश्व" क्या है ? यह है मानव मस्तिष्क की प्राक्रिया पर उसकी गतिशील मानसिक चेतना । मन तथा आत्मा की अतल गहराइयों में ही मानव नाम सदा के लिये चिरन्तन रहेगा । प्रसाद ने, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो करोड़ों वर्षों के जैव विकास (Organic Evolution) से उद्भूत चेतना के शिखरस्थ मानव के सारे मूल्यों को एक जगह पर समेट लिया है । इसी भावी-विकास की रूपरेखा की ओर हमें अंग्रेजी कवि एलक्जेन्डर पोप का यह कथन याद आ जाता है कि "जैसे-जैसे सृष्टि का दूरगामी क्षेत्र बढ़ता जाता है, उसी अनुपात से ऐन्द्रिय मानसिक शक्तियाँ भी ऊर्ध्वगामी होती हैं" :—

For as Creation's ample range extends

The scale of sensual mental pow'rs ascend"[2]

सृष्टि–रहस्य

अभी तक जीवशास्त्रीय विकास की वैज्ञानिक रूप रेखा का काव्यात्मक रूप प्रस्तुत किया गया है । यदि व्यापक रूप में देखा जाय, तो सम्पूर्ण सृष्टि रहस्य में जीवशास्त्रीय-विकास केवल एक चरणमात्र है या केवल उसका एक अंश है । परन्तु यहाँ पर जिस सृष्टि-रहस्य की चर्चा की जायगी, वह ग्रहों, नीहारिकाओं, नक्षत्रों तथा इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड की रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित होगी ।

ग्रहों (Planets) की उत्पत्ति के बारे में सबसे प्रसिद्ध मत अधिकतर उन ज्योतिष-वेत्ताओं (Astronners) का है जो यह मानते हैं कि ग्रहों की उत्पत्ति एक ऐसे वाष्पपिंड से हुई है । जो निरन्तर तेजी से गतिशील पारिक्रमः में निरत था । यह वाष्प पिंड हाइड्रोजन था जिसके क्रमशः शीतल होने पर, उस पिंड के अनेक भाग क्रमशः शीतल होने पर, उस पिंड के अनेक भाग क्रमशः विच्छिन्न होने का कारण सघनन-क्रिया को माना जाता है जिसे अंगेजी में (Condensation) कहते हैं । इस प्रकार केन्द्र का भाग सूर्य और गतिशील आवर्त्तन

---

१. कामायनी. संघर्ष सर्ग पृ० १६२

२. ए बुक आफ़ साइन्स वर्स, "द क्रियेटिव चेन आव बीइन्ग" पृ० ७४

(Rotational Momentum) के कारण एक के बाद एक ग्रह सूर्य से दूर ही नहीं होते गए, पर स्वयं ग्रहों के मध्य में दूरी बढ़ती ही गई।[१] इस सिद्धान्त के प्रति आज का कवि अवश्य सचेत है और जाने अनजाने वह इस सिद्धांत को, अप्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने रख भी देता है। उदाहरण स्वरूप प्रसाद ने वाष्प के उजड़ने, तथा सौर-मण्डल में आवर्तन पड़ने का जो संकेत कामायनी में प्रस्तुत किया है, वह उपर्युक्त प्रस्थापना को प्रत्यक्ष काव्यात्मक रूप इस प्रकार देता है--

वाष्प बना, उजड़ा जाता था,
था वह भीषण जल संघात।
सौर चक्र में आवर्त्तन था
प्रलय निशा का होता प्रात॥[२]

यह जल संघात, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो हाइड्रोजन तथा अन्य ज्वलनशील गैसों का मिश्रण है, जिसे अनेक वैज्ञानिकों ने "आधार भूत पदार्थ (Background material) कहा है। जिससे ग्रहों तथा नक्षत्रों का उद्भव तथा विकास सम्पन्न हुआ है। यही नहीं, इसी "आधारभूत पदार्थ" से नीहारिकाएँ (Galaxies) भी उद्भूत हुई है। अतः यह रहस्यमय ब्रह्मांड का विस्तार दिक् और समय (Space and Time) की प्राचीरों के अन्दर ही हुआ है। अपरोक्ष रूप से, इसी विस्तार का एक सफल संकेत हमें निराला की निम्न पंक्तियों में मिलता है—

घूमायमान वह धूर्ण्य प्रसर
धूसर समुद्र शशि ताराहर,
सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर-रेखा॥[3]

समय और दिक् की सीमाओं में ही समस्त सृष्टि का विकाश हुआ है। इसका बहुत ही स्पष्ट संकेत हमें नरेन्द्र शर्मा की इन पक्तियों में प्राप्त होता है—

तिनके से बनती सृष्टि,
सृष्टि सीमाओं में पलती रहती।
वह जिस विराट का अंश,
उसी के झोंकों को फिर-फिर सहती॥[४]

---

१. द नेचर आफ द यूनीवर्स द्वारा फ्रेड़ हायल (Hoyle) पृ० ५५-५६
२. कामायनी, चिन्ता सर्ग, पृ० २०
३. तुलसीदास द्वारा निराला, पृष्ठ ५५
४. हंसमाला द्वारा नरेन्द्र शर्मा, पृष्ठ २४

इन उदाहरणों से एक अन्य प्रसिद्धतम-वैज्ञानिक सिद्धान्त की ओर भी स्वतः ध्यान जाता है, और वह है अनिश्चितता या आकस्मिकता का सिद्धान्त (Principle of Impro-bablity or Unceraini‌ty) आज के वैज्ञानिक चिंतन में और मुख्यतः सृष्टि रचना के संदर्भ में इस सिद्धान्त के प्रति काफी आस्था है वैसे तो यह सिद्धान्त गणित तथा भौतिक-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है, पर उसकी विशालता का जयघोष आज के समस्त दार्शनिक-चिंतन पर प्रभाव डाल रहा है। सृष्टि के संदर्भ में इसी आकस्मिकता का एक सुन्दर सकेत हमें श्री रामधारी सिंह "दिनकर" की इस रचना में प्राप्त होता है—

देख रहे हम जिसे,
सृष्टि वह आकस्मिक घटना है।
यों ही बिखर पड़े ?
हम सब आस्मिकता के कारण हैं।[१]

यहाँ पर जाने डोन का कथन याद आ जाता है जो उसने १७ शतब्दी के प्रथम चरण में कहा था कि 'नया दर्शन प्रत्येक वस्तु को शंका की दृष्टि से देखता है'[२] और मेरा यह विचार है कि इस चिंतन में कवि ने एक ऐसे तथ्य की ओर संकेत किया है जो आगे चलकर वैज्ञानिक चिंतन का आधारबिन्दु ही बन गयी।

अब मैं सृष्टि के ऐसे रहस्यमय लोक में जाना चाहता हूँ जो आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों का एक आश्चर्यमय लोक है। सृष्टि रचना सम्भावनाओं तथा प्रक्रियाओं का रंगस्थल है। वैज्ञानिकों ने इन प्रक्रियाओं को "फैलता हुआ विश्व" (Expanding Universe) के रहस्यमय सिद्धान्त के रूप में सामने रखा है। यहाँ पर सृष्टि रहस्य का जो विशाल सागर लहराता हुआ दृष्टिगत होता है, वह आज के कवियों के लिये एक नवीन सृजन-शक्ति का सिंहावलोकन करता है यह विश्व निरन्तर विकास को प्राप्त हो रहा हैं जो नीहरिकाओं के सृजन तथा विनास की क्रमिक क्रिया है। न जाने कितने सौर मंडल और है जो हमारी दृष्टि से परे हैं कितने बनते जाते हैं और कितने 'आधारभूत पदार्थ' में तिरोहित होते जाते है। यह चक्र निरन्तर चला करता है।[3] गिरिजाकुमार माथुर ने इसी सत्य को इस प्रकार रखा—

---

१. नीलकुसुम द्वारा दिनकर, पृष्ठ ४६
२. साइंस एण्ड इमेजिनेशन द्वारा मारजोरी निकाल्सन से उद्धृत, पृष्ठ ५३
३. दे० नेचर आफ यूनीवर्स द्वारा हायल और द लिमीटेशन्स आफ साइंस द्वारा जे० सूलीवेंन, पृष्ठ १६-२५

अंतरिक्ष सा अंतर, जिसमें अगणित
ज्योति ब्रह्मांड समाये
सूरज के बड़े बड़े साथी
बनते मिटते हैं आये ॥[१]

आकाशगंगा (Milky way) तो केवल एक ही नीहारिका है और ऐसी कितनी अन्य नीहारिकायें और है, जो दृष्टि से परे हीं शक्तिशाली टेलीस्कोप भी उनको भेदने में असमर्थ हैं। परन्तु फिर भी वैज्ञानिकों ने इन अदृष्ट ब्रह्मांडों को जानने का भरसक प्रयत्न किया है और उनका यह प्रयत्न उनके प्राप्त निष्कर्षों से सम्बन्ध रखता है शून्य या दिक् (space) के अथाह समुद्र में न जाने कितनी नीहारिकायें, कितने सौर मंडल, और कितने नक्षत्र गतिशील है और प्रवाहमान है। इस स्थिति को डा० धर्मवीर भारती ने बहुत ही सुन्दर रूप में हमारे सामने रखा—

अक्सर आकाशगंगा के,
सूनसान किनारों पर खड़े होकर
जब मैंने अथाह शून्य में
अनन्त प्रदीप्त सूर्यों को
कोहरों की गुफाओं में पंख टूटे,
जुगनुओं की तरह रेंगते देखा है।[२]

इस कल्पना में वैज्ञानि तथ्य है जो कवि की सृजन शक्ति को एक नवीन संदर्भ में अवतीर्ण करती है। महाकवि मिल्टन भी सृष्टि के इस अबाध रहस्य सागर को देखकर ही, शायद कह उठा था—

Thus far extend, thus far thy bounds
Thus be thy just Circumference. O world[3]

अर्थात "हे विश्व इतनी दूर तक विस्तृत और इतनी दूर तक तेरी सीमायें सत्य में, ये तेरी यथार्थ परिधि हैं।"

इन सभी उदाहरणों में सृष्टि की अनुपम एवं रहस्यमय रचना का संकेत प्राप्त होता है। यह समस्त रचना दिक् तथा काल की सीमाओं में बँधी हुई है। न्यूटन ने समय तथा दिक् को असीम माना था, पर डा० आइंस्टीन तथा इडिंगटन आदि ने समय तथा

१. धूप के धान, द्वारा गिरिजाकुमार माथुर, पृष्ठ ११४
२. कनुप्रिया द्वारा डा० भारती, पृष्ठ ५०
३. पैराडाइज लास्ट द्वारा मिल्टन पृष्ठ २३० से उद्धत

दिक् को असीम न मानकर ससीम माना है, पर साथ ही उन्हें अपरमित भी। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की यह धारा 'दर्शन' की ओर उन्मुख है प्रो० आइंस्टीन का उपर्युक्त कथन एक तात्विक-सत्य (Metanhy-sical Truth) भी माना जा सकता है जो विज्ञान को भी तात्विक चिंतन का माध्यम बनाता है। दिक् तथा समय की यह धारणा इस सत्य को हमारे सामने रखती है कि दृश्य तथा अदृश्य सृष्टि "दिक्" के अन्तर्गत विकास प्राप्त करती रही है और करती रहेगी। यही कारण हैं कि आज के वैज्ञानिक चिन्तन में चतुर्आयामिक दिक् काल की धारण (For Dimensional space Time) एक विशेष महत्व रखती है। आधुनिक काव्य में इस विराट दिक् को शून्य की संज्ञा दी गई है। इसी शून्य कीं विराटता के अन्दर कोटि-कोटि नक्षत्र तथा ग्रह और न जाने कितनी नीहारिकाएँ आविभूत तथा तिरोभूत होती रहती है। इन्हीं कोटि-काटि नक्षत्रों का "लास रास" ही उनकी विराटता का द्योतक है—

कोटि-कोंटि नक्षत्र शून्य के महाविवर में,
लास रास कर रहे लटकते हुये अधर में।[1]

तथा इसी भाव को दिनकर ने पुरुरवा के द्वारा इस प्रकार व्यंजित किया है

महाशून्य के अन्तरगृह में, उस अद्वैत-भवन में
जहाँ पहुँच दिक्काल एक है, कोई भेद नहीं है।
इस निरभ्र नीलान्तरिक्ष की निर्जर मंजूषा में
सर्ग-लय के पुरावृत्त जिसमें समग्र संचित है।।[2]

इसी महाशून्य रूपी मंजूषा में प्रलय-सृजन की क्रमागत लीला निरन्तर चला करती है इस प्रकार के अनेक वर्णन हमें आज की कविता में प्राप्त होते हैं जिनका यहाँ पर व्यर्थ ही बिस्तार करना उचित नहीं है।

मूल्यगत चिन्तन

अंत में, मैं मूल्यों (Values) की बात उठाना चाहता हूँ उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन के संदर्भ में मैने यदा कदा मूल्यों के प्रति संकेत दिया है। अनेक विचारकों का यह मत है कि मूल्यगत चिन्तन, जो दार्शनिक चिन्तन का विषय है, विज्ञान के बाहर की वस्तु है। परन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मैं इस भ्रमपूर्ण धारणा

---

१. कामानी, संघर्ष सर्ग, पृष्ठ १६०
२. उर्वसी द्वारा दिनकर, पृष्ठ ७०

का पक्षपाती नहीं हूँ। मैंने अपने सीमित अध्ययन के द्वारा जिस प्रस्थापन को समक्ष रखने का प्रत्यन किया है, उसमें 'मूल्यों' का एक विशिष्ट स्थान है। यहाँ पर मैं कुछ मूल्यों की विवेचना आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर करने का प्रत्यन करूंगा।

सबसे प्रथम जो "मूल्य" विज्ञान ने हमारे सामने रखा है, वह है "अस्तित्व" के प्रति। आज का कवि दो दिशाओं की ओर अपनी सृजन-शक्ति को गतिशील कर सकता है, एक विकासवाद की ओर जो इस ग्रह से सम्बन्धित है और दूसरी ब्रह्मांड की ओर, जो हमारी कल्पना को दिक् और समय के सापेक्षिक रहस्यलोक में ले जा सकती है। आधुनिक विज्ञान हमारे ही नहीं, पर समस्त ब्रह्माँड के अस्तित्व के प्रति सचेत है। जब वह इस विराट रचना को देखता है जिसमें असंख्य ग्रह, नक्षत्र, नीहारिकाएं और सौर-मण्डल है, तब वह अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हो जाता है। "उसका" तथा इस विराट रचना का क्या अनुपात है, वह यह जानने को उत्सुक हो जाता है और आज का कवि भी इस अनुपात की स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सजग है, तभी तो वह इस स्थिति को अत्यन्त सुलझे हुये रूप में रखने में समर्थ है—

अनगिन नक्षत्रों में
पृथ्वी एक छोटी
करोड़ों में एक ही
सबको समेटे है।
परिधि नभगंगा की
लाखों ब्रह्मांडों में
अपना एक ब्रह्मांड
हर ब्रह्मांड में—
कितनी ही पृथ्वियाँ
कितनी ही भूमियाँ
कितनी ही सृष्टियाँ

* * *

यह है अनुपात
आदमी का विराट से[1]

यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस दशा के द्वारा विज्ञान में पलायन (Escapism) तथा निराशा की प्रवृत्ति नहीं है। जब वह नीहारिकाओं

१. शिला पंख चमकीले द्वारा गिरिजा कुमार माथुर, पृ० ६५

तथा अपने ही सौर-मण्डल के प्रति अनिश्चित है, तो वह उसके एक अंश–हमारे ग्रह के प्रति केवल सम्भावना ही दे सकता है जो विगत घटनाओं तथा परिस्थितियों पर आश्रित है। इसी तथ्य की प्रतिध्वनि गिरिजाकुमार माथुर की निम्न पंक्तियों में व्यज्जित होती है :—

शर्त—सम्भावना की जमीन
बीज का विकास
परिस्थिति की खाद
और आस पास........।[१]

उसके अनुसार हमारी पृथ्वी, मंगल और बुद्ध करोड़ों, अरबों वर्ष बाद सूर्य में समाहित हो जायेंगे और इसके स्थान पर कोई दूसरा सौर-मण्डल स्थान ले लेगा। यही बात नीहारिकाओं के प्रति भी सत्य है।[२] यह क्रम समय तथा दिक् की सीमाओं में आबद्ध है। इसी से "अनन्त-सृष्टि" विज्ञान का सत्य है। अतः, यहाँ पर "मृत्यु" या 'निलय' ही सत्य है जो रूपाँतर क्रिया का फल है। इस दृष्टि से हमारा अस्तित्व भी महत्वहीन है ।जब हम अपने अस्तित्व का कहीं पर्यवसान चाहते हैं। तब हम उस दशा को एक "अन्तिम-धारणा" का रूप दे देते हैं। यह अन्तिम-धारणा ही सत्य या ईश्वर है जिस पर मैं आगे विचार करूंगा। यहाँ पर हमें सुरक्षा का एक माध्यम मिल जाता है।[३] परन्तु मैं यह कहूँगा कि यह 'सुरक्षा' भी एक छायामात्र है, पर आवश्यक भी है। आज का काव्य, जीवन के इस सत्य पर एक नए रूप से विचार करने की ओर उन्मुख है। अस्तु, हमारा अस्तित्व एक आभासमात्र है, जिस प्रकार बिन्दु केन्द्र का आभास है—स्थिति कुछ इस प्रकार है–

बिन्दु हूँ मैं—
मात्र केन्द्राभास; वह जो
हर असीम ससीम
हर रूप, हर आकार का विस्तार।[४]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस कथन में अस्तित्व के अर्थ की सुन्दर लय है और यहाँ पर 'नई कविता" में जो अर्थ लय की बात कही गई है,[५] उसका एक सुन्दर संकेत भी प्राप्त होता है।

---

१. शिलापंख चमकीले, पृ० ४८
२. द नेचर आफ द यूनीवर्स दारा फ्रेड हाँडल पृ० ५२-५३
३. वही, पृ० १०३
४. तीसरा सप्तक, "मैं बिन्दु" कविता द्वारा प्रयागनारायण त्रिपाठी, पृ० ५६
१. नई कविता [५-६] डा० जगदीश गुप्त का लेख 'कविता और अकविता' पृ०२१

दूसरा प्रमुख मूल्यगत चिन्तन है सत्य अथवा ईश्वर के प्रति। सबसे प्रथम बात जो हमें 'ईश्वर' की धारणा में ध्यान रखनी चाहिये, वह यह है कि 'ईश्वर' केवल धर्म का या दर्शन का विषय नहीं है, वह अन्य ज्ञान क्षेत्रों का भी विषय है। आज का वैज्ञानिक-दर्शन हमें इस तथ्य की ओर उन्मुख करता है। सर आर्थर वाइटहेड, लीकांमटे डू नू, फ्रेड होयल, न्यूटन, सर जेम्स जीन्स, प्रो० आइंस्टीन आदि वैज्ञानिक-चिन्तकों ने विज्ञान के विशाल क्षेत्र में भी 'ईश्वर' को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है मगर उनकी ईश्वर की धारणा तर्कमय तथा सापेक्षिक सत्य को लिए हुए हैं। वह उस दृष्टि से निरपेक्ष नहीं है, जिस दृष्टि से वह धर्म तथा दर्शन में मान्य है। यही कारण है कि डू नू ने ईश्वर को एक ऐसी सत्ता के रूप में ग्रहण किया है जो विकास की गति के साथ है और उनसे अलग नहीं है।[1] इसी प्रकार का चिन्तन हम आज के काव्य में भी प्राप्त होता है। दिनकर की निम्न पंक्तियाँ मेरे कथन की पुष्टि करती हैं—

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है, इस गोचर धरती से
इसी अपावन में अदृश्य, वह पावन सना हुआ है।[2]

इस दृष्टि से प्रो० वाइटहेड का यह निष्कर्ष कि ईश्वर की धारणा से असीम तथा ससीम, सापेक्ष तथा निरपेक्ष आदि भावनाओं का सन्निवेश रहता है, तभी वह विज्ञान के क्षेत्र में चिन्तन का माध्यम बन जाता है।[3] अस्तित्व मूल्य के प्रकाश में मैं प्रथम ही संकेत कर चुका हूँ कि अस्तित्व की दृष्टि से भी विराट या ईश्वर की धारणा हमारे लिए एक सुरक्षा का माध्यम है। यह आभास ही सत्य है। इन विविध दृष्टिकोणों के अन्तराल में एक सत्य यह है कि जिसे प्रो० आइंस्टीन तथा सर-जेम्स जीन्स ने भी स्वीकार किया है कि एक ऐसी शक्ति या "मैथामैटिकल माइन्ड" (Mathematical Mind) अवश्य है जो इस वृहद् रचना का केन्द्र है। यह वृहद् रचना का केन्द्र नियम तथा आकस्मिकता है जो कोई साकार रूप नहीं है, पर है उसकी सत्ता अवश्य ! यदि पन्त की शब्दावली में कहें तो यह महाशून्य जिसमें यह दिक् निरन्तर विस्तार को प्राप्त कर रहा है, और यही महाशून्य जो नित्य है, कैसे और कहाँ से इसका उद्भव हुआ, यह ज्ञात नहीं, यह ही महाशून्य, वह सत्य है जिसे हम 'ईश्वर' कहते हैं—

---

१. ह्यूमन डैस्टनी. पृ० १२५ यही मत वाइटहेड का भी है जो विकासवादी दृष्टिकोण है,
२. उर्वशी द्वारा दिनकर, पृ० ७७
३. प्रोसेस एण्ड रियाल्टी द्वारा वाइटहेंट, पृ० १५५

कौन सत्य वह। महाशून्य तुम
जिससे गर्भित होकर
महाविश्व में बदल गये
धारण कर निखिल चराचर।[1]

इसी स्थिति को अज्ञेय ने भी एक नितांत दूसरे रूप में ग्रहण किया है जो वैज्ञानिक चिन्तन के नितांत अनुकूल है। विज्ञान में 'सत्य' एक है, पर वह अनेक रूपों में अनेक सूत्रों में खो सा गया हैं, मगर है वह अवश्य गुप्त तथा अव्यक्त रूप में। तभी तो कवि के लिए सत्य एक ग्रन्थि है और वैज्ञानिक इसी ग्रन्थि को उसके सूत्रों को खोजने में तत्पर है एक तर्क तथा अनुभव सम्मत रूप में—

सत्य एक है—
क्योंकि वह एक ग्रन्थि है
जिसके सब सूत्र खो गये हैं।[2]

इसमें भी स्पष्ट वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित 'ईश्वर' की धारणा का जो रूप निम्न पंक्तियों में प्राप्त होता है वह भी आज के वैज्ञानिक दर्शन का प्रतिरूप माना जा सकता है—

एक शून्य है
मेरे और अज्ञात के बीच
जो ईश्वर से भर जाता है।[3]

इन उदाहरणों से एक अन्य तथ्य भी ज्ञात होता है कि जहाँ पर हमारी विचार शृंखला एक ऐसे बिन्दु पर आकर आगे सोचने में असमर्थ हो जाय, तो इस अन्तिम-धारणा को हम ईश्वर या किसी अन्य नाम से पुकारते हैं। मैं अपने इस विवेचन को प्रो० वाइटहेड के इस कथन से समाप्त करता हूँ जो वैज्ञानिक चिंतन का मधु है—"हम सीमाओं (Limitations) के लिये कोई न कोई आधार अवश्य अपनाएँ जो आधारभूत प्रक्रिया के अवयवों के मध्य प्रतिष्ठित हो सके। यह लक्ष्य एक ऐसी सीमा की ओर संकेत करता है जिसके अस्तित्व के लिए कोई कारण नहीं दिया जा सकता है। ईश्वर अंतिम सीमा है और उसका अस्तित्व अंतिम तर्कहीनता है। ईश्वर व्यक्त नहीं है, पर "वह" व्यक्त सम्भावनाओं की आधारशिला है।[4]

---

१. युगपथ द्वारा पंत, पृ० १३७
२. इत्यलम् द्रा अज्ञेय, पृ० १९७
३. चक्रव्यूह द्वारा कुंवर नारायण, पृ० ७९ "शून्य और अशून्य" कविता से
४. साइंस एन्ड द माडर्न वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड, पृ० १७९

तीसरा मूल्य, जिस पर मैं प्रथम ही विचार कर चुका हूँ, वह है सौंदर्यबोध। इस मूल्यगत चिन्तन के अन्तर्गत जिस तथ्य की प्रस्थापना की गई है, वह विषय तथा विषयीगत-दोनों स्तरों पर घटित हो सकती है। यही कारण है वैज्ञानिक के लिये ज्ञान बोध, सौंदर्य बोध का पर्याय हो जाता है। वह समरसता तथा ज्ञान को जीवन में सापेक्षिक महत्व देते हुये भी, ज्ञान को ही सर्वोपरि मानता है। यहाँ पर कुछ उसी प्रकार की स्थिति दृष्टिगत होती है जो दार्शनिक ज्ञान के बारे में भी कही जा सकती है। यही कारण है कि प्रत्येक मानवीय ज्ञान का पर्यवसान दर्शन के विशाल ज्ञान में माना जाता है। मेरे मतानुसार वैज्ञानिक का सौंदर्यबोध इसी ज्ञान की अर्थवत्ता (Significance) में समाहित है क्योंकि—

अनुभूति कहती है कि जो
नंगा है वह सुन्दर नहीं है
यद्यपि सौन्दर्य - बोध
ज्ञान का क्षेत्र है।[1]

चौथा मूल्य नैतिकता से सम्बन्धित है। विज्ञान के क्षेत्र में नैतिकता भी सापेक्षिक मानी जाती है। उसके अन्तर्गत प्रयोगकर्त्ता की ईमानदारी, अपने कार्य के प्रति निष्काम भावना जो विज्ञान के विकास की प्रथम आवश्यकताएं हैं—जिनका पालन करना वैज्ञानिक की नैतिक जागरूकता ही कही जायगी। साहित्य-सृजन में भी लेखक या कृतिकार इसी नैतिक-मूल्य को चरितार्थ कर सकता है और वह उसी समय कर सकता है, जब वह व्यक्तिगत विरोध के वात्याचक्र से ऊपर उठकर, एक निष्पक्ष तथा निष्काम 'साधना' को अपना सकेगा। सत्य तो यह है कि आधुनिक काव्य तथा साहित्य में दलबन्दी तथा व्यक्तिवादी विरोधी वृत्तियाँ ही अधिक नजर आती हैं। वैज्ञानिक ज्ञान-साधना हमें विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त होती है, उसी प्रकार की ज्ञान-साधसा आज के काव्य तथा साहित्य के लिए भी अपेक्षित है। वैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित काव्य—ज्ञान-काव्य का प्रतिरूप होता है और उसमें अर्थ की लय ही प्राप्त होगी। इस काव्य में कल्पना तथा भावना, ज्ञान को मनोरम बनाने के लिये माध्यम ही हो सकती है, साध्य नहीं। इस प्रकार दर्शन और विज्ञान एक साथ मिलकर, 'ज्ञान' या 'सत्य' का नव्य निरूपण कर सकते हैं। कवि पन्त के शब्दों में—

दर्शन युग का अन्त, अन्त विज्ञानों का संघर्षण
अब दर्शन-विज्ञान, सत्य का करता नव्य-निरूपण।[2]

+

---

१. इत्यलम्, पृष्ठ ६४
२. युगवाणी द्वारा पन्त पृष्ठ ३६

वैज्ञानिक क्षेत्र में "रूप" की धारणा | ७

रूप या फार्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान और दर्शन के द्वारा दिया गया है। यहां पर 'रूप के स्वरूप तथा क्षेत्र को समझने के लिए विचारों के इतिहास को समझना होगा क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। हर एक वस्तु या पदार्थ रूप को धारण करती है अथवा पदार्थ का अस्तित्व ही 'रूप' के द्वारा ग्रहण एवं अनुभव किया जा सकता है। लैटिन भाषा में 'फार्मा' (Forma) शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ यह है कि वे गुण जिसके द्वारा कोई वस्तु, वस्तु की संज्ञा प्राप्त करती है।' यदि हम 'रूप' की इस व्याख्या को स्वीकार करें, तो यह स्पष्ट होता है कि समस्त विज्ञान और दर्शन इसी 'रूप' का अध्ययन करते हैं और उस अन्तर्निहित रूपाकार सिद्धांत् की खोज करके हैं जो समस्त पदार्थों को अस्तित्व में लाते हैं और उन्हें वे अर्थ प्रदान करते हैं जो कि वे हैं।

आदिमानवीय स्थिति में चन्द्र-देवता तथा अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों के प्रकाश में एक ऐसे सिद्धांत को जन्म दिया जो प्रकृजि में व्याप्त वृद्धि तथा नाश के जैविक सिद्धाँत को समक्ष रख सका। वैज्ञानिकों का मत है कि आदिमानव का यह रूपात्मक सिद्धांत (Formative Principle) मानवीय मस्तिष्क की सबसे प्रथम तथा महत्वपूर्ण खोज है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनतम सभ्यताओं ने बहुवादी सिद्धांतों को प्रश्रय दिया और आगे चलकर ग्रीक, यूनानी तथा वैदिक सभ्यताओं ने इन बहुवादी सिद्धांतो के आधार पर एकात्मवादी सिद्धांतों को स्वीकारा। दूसरे शब्दों में इन सभ्यताओं ने एक अन्तर्निहित रूपात्मक–सिद्धांत को प्रश्रय दिया। संक्षेप में, प्राचीनकाल का यह मानसिक अभियान मानवीय चेतना को नए क्षितिजों की ओर क्रमशः अग्रसर कर सका यह मानव की वह तार्किक 'अन्वेषण बुद्धि थी जो अनेक जटिलताओं के मध्य में एक समरसता तथा एक नियम की खोज में लगी हुई थी।

विज्ञान के क्षेत्र में इसी नियम या आर्डर (Order) की खोज किसी न किसी रूप में होती रही। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति में एक अन्वेषक की तल्लीनता एवं तटस्थता अवश्य वर्तमान रहती है। यह बात प्रसिद्ध वैज्ञानिक केल्पर और पाइथागोरस के सिद्धांतों में दर्शनीय है।

केप्लर की भक्ति, धार्मिक भक्ति के समान थी और उसकी यह आस्था अंकीय–शोध (Nunerical Research) में मूर्तिमान हो जाती है। दूसरी ओर, पाईथगोरस अंकों में ईश्वर की महिमा देखता था और उसकी यह अंकीय सौदर्यानुभूति उसके पश्चात् के चिंतन में एक आवश्यक तत्व के रूप में चलती रही। पाइथागोरस स्कूल का विचारों के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे अपने विचारों के संगीत से स्वयं अहलादित एवं आश्चर्यचकित रहते थे। इस अवस्था में समय का भय तथा जीवन के दुःख सब विस्मृत हो जाते हैं। यहां कुछ भी न सृजन होता है और न नाश, हरेक वस्तु अपने अंकीय नियमों से अवस्थित रहती है और पिंडों के अनत संगीत का (Music of Spheres) सृजन करती है। पाइथागोरस स्कूल के लिए अंकों या रूपों का यह सत्य वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का उद्घाटन करता है। इसका कारण यह है कि अंक एक ऐसी सीमा है जो असीम-पदार्थ (Unlimited Stuff) को रूप या फार्म प्रदान करती है। हरेक वस्तु का अंकीय रूप उसका विशेष गुण होता है और संगीतात्मक लय प्रकृति की सुन्दर ध्वनि है। अंक हरेक वस्तु के रहस्य को छिपाए रहते हैं चाहे उनका क्षेत्र भौतिक, नैतिक या सौन्दर्यपरक क्यों न हो ? सच तो यह है कि गणितपरक 'रूप' मानव स्वभाव में गहरे पैठा हुआ है और अंकीय संगीत की लय से उसका अचेतन मन सदा समाया रहता है।

परन्तु पाईथागोरस के अंकीय सिद्धांत के आयाम को सभी व्यक्ति स्पर्श नही कर पाते हैं। अनेकों के लिए यह भावात्मक आयाम लुप्त हो जाता है जबकि उसके सामने यथार्थ जगत की स्वाभाविक प्रक्रियायें, भौतिक इतिहास और पुरुष तथा नारी के क्षेत्र समक्ष आते हैं दूसरी और, यदि ईश्वर ने विश्व की रचना अपने बिब के रूप में की है। तो वह ईश्वर नहीं है। उद्भव, नाश तथा प्रेम का स्थान पाईथागोरस स्कूल के अनुयायियों के लिए नहीं हैं, वे तो एक आध्यात्मिक एवं तात्विक अहलाद का अनुभव करते हैं। इसके बिल्कुल विपरीत ल्यूनार्डो विन्की ने पृथ्वी को एक अंग (Organisrn) के रूप में स्वीकार किया है जो क्रमशः उद्भव स्थिति तथा नाश की परिवर्तनशील दशाओं से गुजरती है। ल्यूनार्डो के साथ ही हम काल के जगत में आ जाते हैं। अब एक स्थिर पूर्णता के स्थान पर जैव जगत

(Organic World) में दृश्यमान परिवर्तनों के लय को महत्व प्रदान किया गया। इस मत के साथ आधुनिक विज्ञान की आधारशिला का आरम्भ होता है जो मध्य-काल में आकर 'एक विश्वजनीन' 'रुप' की खोज के लिए अग्रसर होता है।

मध्यकाल (सन् १६०० से) में फार्म या रुप को भविता (Being) का एक अन्तरंग तत्व माना गया और केप्लर तथा गैलीलियों ने फार्म की धारणा में एक अभूतपूर्व रुपान्तर किया। उनके अनुसार विश्लेषण और नाप ऐसे तत्व है जिनके द्वारा प्रकृति को समझा जा सकता है। सन् १६५० के बाद फार्म को एक दिकीय आकार के रूप में द्वितीय स्थान दिया गया क्योंकि उस समय का वैज्ञानिक मस्तिष्क यह मानने लगा था कि समस्त विश्व अति सूक्ष्म कणों या अणुओं से बना हुआ है और फार्म, इन्हीं अणुओं या अंशों का एक समष्टिगत रुप है।

सत्रहवीं और अठारवीं शताब्दी में विज्ञान की विश्लेषणात्मक पद्धति ने जीवशास्त्रीय विज्ञानों में जीवों के वाह्य रूपों और आंतरिक रचनाओं का अध्ययन किया और डारविन ने सबसे प्रथम जैविक रूपों के विकासवादी उद्भव का एक सुगठित सिद्धात सामने रखा। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण खोजे न्यूटन, गैलीलियो, फैराडे तथा मैक्सवेल आदि वैज्ञानिकों की हैं। पाईथागोरस को जिस वस्तु की शायद आशा भी नहीं थी, वह स्वयंमेव ही न्यायसंगत प्रतीत होती जा रही थी। एक बार फिर ईश्वर एक गणितज्ञ के रूप में सामने आया और इस धारणा ने गणितपरक भौतिकशास्त्रिओं को नये विकास के आयामों की ओर उन्मुख किया।

१६ शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के शुरु में, वैज्ञानिक चिंतन ने फिर एक अभूतपूर्व अभियान आरम्भ किया और १६१० में एक ऐसे विचार का प्रादुर्भाव हुआ जो विश्व के रहस्यों के प्रति एक तार्किक अनुशीलन को प्रश्रय दे सका और वह विचार या भाव था "आकार" (Structure)

"आकार" की धारणा का आविष्कार बीसवीं शताब्दी की देन है। इस शताब्दी के अनेक आविष्कार भुलाये जा सकते हैं, पर "आकार" की धारणा को शायद कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

आकार (Structure) की भावना को समझने के लिये कुछ बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आकार एक प्रकार की संबंधित या सापेक्षिक पद्धति है। यह पद्धति किसी भी दशा में प्राप्त हो सकती है। यह कथन एक अमूर्तन सा लगता है, पर ऐसा नहीं है। उदाहरण स्वरूप माता, पिता पुत्र के त्रिकोण को ही ले। तीनों में

एक प्रभावशाली सम्बंधगत पद्धति प्राप्त होती है जो अप्रतिसम (asymmetrical) है, प्रत्येक परिवर्तनशील है। प्रत्येक परिवेश में बढ़ता है, उसके अपने आंतरिक एवं वाह्य गुण होते हैं इसी प्रकार, पदार्थ असंख्य सूक्ष्म कणों या परमाणुओं से निर्मित होता है, हरेक परमाणु की अपनी दशायें और अपने गुण होते हैं, पर समष्टि रूप से वे पदार्थ के अभिन्न अंग होते हैं। ये परमाणु "अंतिम आकार" के रूप में माने गए हैं। आधुनिक भौतिकी के प्रत्येक निरीक्षण तथा निष्कर्ष के अंतराल में परमाणुओं के इसी रूप का आधार ग्रहण किया जाता है। यह भौतिक आकार के प्रति पहला कदम है जो प्रत्येक पदार्थ अंतिम कणो से युक्त होता है, इस मान्यता को लेकर चलता है।

ये कण एक प्रतिसम तथा क्रम (Order) का पालन करते हैं और यह दशा अवयव (Organism), द्रव्य तथा पदार्थो (क्रिस्ट्लाइन) में समान रूप से प्राप्त होती हैं। अतः ये परमाणु, दिक् (Space) में एक उच्च कोटि के क्रम या व्यवस्था का पालन करते हैं।

आकार के इस स्वरूप को समझने के लिये एक तत्व और भी आवश्यक है और वह यह है कि भौतिक संरचना की अवस्थाओं में एक निश्चित दिकीय-पद्धति (Spatial Patterns) प्रदर्शित होती है यह दिकीय पद्धति परमाणुओं के संरचना में तथा उनके क्रमागत व्यवस्था में, अवयव के जीव में, जीवाणुओं में तथा विकसित जीवों या अवयवों में यह आकारगत पद्धति किसी न किसी रूप में प्राप्त होती है। अतः परमाणुओं या कणों का कार्य एक पद्धति (Pattern) का निर्माण करना है। अतः रूप या फार्म इसी अंतर्निहित आकारगत पद्धति का एक प्रतिरूप है। इसी आकारगत पद्धति के द्वारा किसी भी वस्तु के गुणों का अनुशीलन किया जा सकता है। (फिलासफी आफ दि फिजिकल साइंस, इडिंगटन, पृ० १०१–१०३) हरेक दशा में यही अंतिम आकारगत पद्धति आवश्यक है न कि व्यक्तिगत पदार्थीव अंशों का महत्व है। कहने का तात्पर्य है कि किसी वस्तु को समझने के लिये इस अंतिम आकारगत पद्धति के अंतराल में जाना आवश्यक है। यही पद्धति अंशों के गुणों को प्रकट करती है नकि अंश इस आकारगत पद्धति के गुण को यहीं आकारीय-सिद्धांत का मूल भाव है।

———

वैज्ञानिक प्रतीकवादी-दर्शन | ८

वैज्ञानिक-विकास का इतिहास तथ्य की ओर संकेत करता है कि मानव-मन के विकास-क्रम में वैज्ञानिकप्रतीकवाद एकसबल क्रियात्मक ज्ञान-क्षेत्र है । उसमें प्राप्त प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति का अपना एक विशिष्ट दर्शन है । अतः वैहींगर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'वैज्ञानिक प्रतीकवाद मानव के प्रतीकीकरण-शक्ति का एक नवीन अध्याय है ।'[1] वैज्ञानिक प्रतीकों की पृष्ठभूमि में अनुभव और प्रयोग की अपनी एक निजी परिणति है जो अधिकांशतः अन्य ज्ञान के प्रतीकों में अप्राप्य है । इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य ज्ञान-क्षेत्रों की प्रतीक-सृजन क्रिया अनुभवहीन या प्रयोगहीन होती है; परन्तु यह असन्दिग्ध है कि वैज्ञानिक प्रतीकों में इनका कहीं अधिक समाहार हैं । अस्तु, अध्ययन की सुविधा के लिये विज्ञान के विशाल क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं । प्रथम, भौतिक-विज्ञान (जैसे रसायन, भौतिकशास्त्र, गणित, जीवशास्त्र, मनोविज्ञानादि) और द्वितीय, गणित सम्बन्धी विज्ञान (जैसे भौतिकशास्त्र, गणित, ज्यामिति, तर्कशास्त्र) प्रतीकात्मक अध्ययन के लिए इन विभागों के प्रतीकों पर विचार अपेक्षित है ।

तर्कशास्त्र और प्रतीक

जिस प्रकार प्रत्येक कला का पर्यवसान संगीत के मधुरिम आँचल में होता है, उसी प्रकार समस्त विज्ञान की उन्मुखता तर्क के सत्य की ओर होती है । तर्कशास्त्र (Logic) की एक परिभाषा अर्थ-विज्ञान में प्राप्त होती है । उस परिभाषा के अनुसार तर्कशास्त्र में प्राप्त अर्थ-तारतम्य उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की तर्कमयता पर निर्भर करती है । इसके अतिरिक्त तर्कशास्त्र की दूसरी परिभाषा अधिक वैज्ञानिक-सत्य के निकट है । इसके अनुसार तर्कशास्त्र एक प्रतीक-विज्ञान के समान है जिसका

---

१. द फिलासफी आफ 'एज-इफ' : वैहींगर, पृ० ११ ।

प्रयोग किसी न किसी नियम के अन्तर्गत भौतिक शास्त्रों अथवा गणित में प्राप्त होता है।[1] यह एक मान्य सत्य है कि प्रतीक का और उस वस्तु का, जिसका कि प्रतीकीकरण हुआ है, उनका सम्बन्ध मूलतः अर्थ-सम्बन्ध है। लैंगर के अनुसार प्रतीक और उसके अर्थ की समस्या एक ही है जिसके द्वारा तर्कशास्त्र की ऊर्ध्वगामी स्थिनि का स्वरूप मुखर होता है।[2]

गणित और प्रतीक अर्थ के दो पक्ष होते हैं—एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा तार्किका मनोविज्ञान की दृष्टि कोई भी वस्तु जिसे अर्थ ग्रहण करना है, उसे चिह्न या प्रतीक का रूप लेना पड़ेगा। दूसरी ओर, तार्किक दृष्टि से, इन प्रतीकों को एक विशिष्ट विधिक्रम से सन्दर्भ (context) की अवतारणा करनी पड़ती है अतः लैंगर के शब्दों में कहा जा सकता है कि अर्थ का नवीन दर्शन सर्वप्रथम प्रतीको का तार्किक सम्बन्ध है जिसके द्वारा एक विशिष्टि अर्थ की व्यजना होती है।[3] गणित के सामान्यतः सभी चिह्न एवं प्रतीक तार्किक अर्थ व्यंजना ही करते हैं और अपनी योजना के फलस्वरूप सत्य के किसी अङ्ग का हरस्योद्घाटन करते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार गणित के चिह्न और प्रतीक शब्द के वर्ण ही है जो अव्यक्त बिम्बों की श्रेणी में माने जाते हैं।[4] बीजगणित के प्रतीक ऐसे ही वर्ण हैं जो किसी विशिष्ट मूल्य की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार की प्रवृत्ति "अङ्कों" में भी प्राप्त होती है। अङ्कों का प्रतीकार्थ तर्क-सम्मत होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा के वर्ण जिनका आयोजन शब्द-संगठन में होता है, वे कभी कभी स्वतन्त्र रूप से, किसी अर्थ की व्यंजना करते हैं। धार्मिक प्रतीकों के अन्तर्गत सत्य और ओउम् (अ × उ × म) के स्वतन्त्र वर्ण-प्रतीकार्थ पर अन्यत्र विचार कर चुका हूँ।[5] गणित सम्बन्धी विज्ञानों मे इन अङ्कों का अर्थ भी कुछ इसी प्रकार का माना जा सकता है।

अतः, गणित में प्रयुक्त प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। कला अथवा साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों से इन प्रतीकों का रूप सर्वथा भिन्न है। गणित के प्रतीक

---

१. द फिलासाफी आफ मैथमेटिक्स : बटरण्ड रसल, पृ० ३५।

२. द फिलासफी इन ए न्यू की : लैंगर, पृ० २७६

३. द फिलासफी इन ए न्यू की : लैंगर, पृ० ५२।

४. द वण्डर आफ वर्ड्स : गोल्डबर्ग, पृ ८६।

५. पूर्ण विवेचन के लिये देखिए मेरा शोध लेख "उपनिषद् साहित्य में प्रतीक-दर्शन", हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) भाग २३, अङ्क १, जनवरी-मार्च १९६२।

प्रतीक कहीं अधिक अव्यक्त हैं। उनका रूप उतना स्पष्ट नहीं होता है जितना कला अथवा साहित्य में होता है। गणित के प्रतीकों यथा अङ्क, रेखायें, ज्यामितिक चित्र (Geometriael figures) और वर्ण के द्वारा एक ऐसी भाषा का सृजन होता है जिसे हम कारनप द्वारा विभाजित स्थायी-भाषा (Definite Language) के अन्दर रख सकते हैं। इस गणित सम्बन्धी भाशा में प्रयुक्त प्रत्येक प्रतीक की योजना एक व्यक्तपूर्णता की द्योतक होती है।[1] इस भाषा के अन्तर्गत कलन (Calculus) का भी समावेश किया गया है।

इसकें अतिरिक्त गणित तथा भौतिक-विज्ञान में एक अन्य प्रकार की भाषा का प्रयोग होता है। इसमें प्रतीकों की योजना केवलमात्र तार्किक ही नहीं होती है। इनका स्वरूप विवरणात्मक होता। रसल और कारनप ने इस प्रकार की भाषा को अस्थायी भाषा (Indefinite–Language) की संज्ञा दी है जो स्थायी भाषा से कहीं अधिक व्यंजना-शक्ति से युक्त होती है।[2] इस भाषा के अन्तर्गत प्राचीन गणित और साथ ही भौतिक विज्ञान के वाक्य और उनमें प्रयक्त प्रतीकों का भी समावेश रहता है।

इस प्रकार गणित के क्षेत्र में दो प्रकार कें प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। एक तो वे जो स्थायी रहते हैं अथवा जिनका क्रम एक-सा होता है—जैसे संख्यायें, १, २, ३, ४ आदि। दूसरे वे प्रतीक हैं जिनका मूल्य अस्थायी रहता है और उनका अर्थ सदा परिवर्तित होता रहता है—जैसे क ख, म आदि। इनका अर्थ अनिश्चयात्मक होता है, क्योंकि सन्दर्भ कें प्रकाश में उनके अर्थ या मूल्य में परिवर्तन होता रहता है—ऐसे अनिश्चयात्मक अर्थ-वाहक प्रतीकों को 'रूपान्तर-अङ्क' (Variables) की संज्ञा प्रदान की गई है।[3]

भौतिक-विज्ञान और प्रतीक

ये प्रतीक अधिकतर विवरणात्मक एवं किसी विशिष्ट धारणा के प्रतिरूप होते है। ऐसे प्रतीक प्राणिशास्त्र, भौतिकशास्त्र, रसायन, भूगर्भशास्त्र आदि में प्राप्त होते हैं।

इन विज्ञान के प्रतीकों में अनुभव तथा प्रयोग पर आश्रित किसी विशिष्ट धारणा तथा विचार का प्रतिरूप मिलता है। इस प्रकार से ये प्रतीक 'यथार्थ' का

---

१. द लाजिकल सिन्टेक्स आफ लेंगवेज : कारनप, पृ० ११–१८।
२. द फिलासफी आफ मैथामैटिक्स : रसल, पृ० ८२।
३. द लाजिकल सिन्टेक्स आफ लेंगवेज, कारनप, पृ० १८६।

विश्लेषणात्मक रूप ही रखते हैं। इन प्रतीकों का काव्यात्मक रूप भी हो सकता है जिस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। आधुनिक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि ने मानव-चेतना के स्तरों में एक उथल-पुथल मचा दी है। अनेक नवीन आविष्कारों ने प्रतीक-सृजन की क्रिया को एक गत्यात्मक रूप प्रदान कर दिया है। इसका प्रमुख कारण ज्ञान के उन स्तरों का उद्घाटन करना है जो अभी तक मानवीय चेतना की परिधि में नहीं आ सके हैं। जब मानवीय ज्ञान नित नूतन अभियानों की ओर अग्रसर होता है, तब वह उस ज्ञान को स्थायी करने के लिए नूतन प्रतीकों का सहारा लेता है। वैज्ञानिक-प्रतीकवाद के विकास ने इस नियम का पूर्णतः पालन किया है। यही कारण है कि नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से प्राचीन और रूढ़ि मूल्यों पर आश्रित प्रतीकवाद का संघर्ष रहा है। इसके फलस्वरूप अभौतिक यथार्थ के स्थान पर भौतिक-प्रयोगात्मक दृष्टि का विकास भी सम्भव हो सका है।[1]

वैज्ञानिक प्रतीकवाद, जैसा कि हक्सले का मत है, एक ऐश्वर्ययुक्त सामान्य भाषा का अङ्ग है। वैज्ञानिक प्रतीकों के सृजन में, जहां एक ओर सामान्यीकरण की प्रवृत्ति नजर आती है, वहीं उस सामन्यीकरण से प्राप्त फल का विशिष्टीकरण भी प्राप्त होता है। अन्त में, यह विशिष्टीकरण प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है। अतःप्रतीक के स्वरूप-विकास में सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। वैज्ञानिक अपने अनेक प्रयोगों अथवा अनुभवों के आधार पर किसी तथ्य का सामान्य रूप एकत्र करता है। फिर, वह उन एकत्र किये हुये सामान्य निष्कर्षों को एक या अनेक प्रतीकों में विशिष्टीकरण कर स्थिर कर देता है,। परमाणु. गुरुत्वाकर्षण (Gravity), ऊर्जा (Energy), समय, आकाश (दिक्) आदि जितने भी प्रतीक हैं, उनमे सामान्यतः उपर्युक्त प्रक्रिया ही प्राप्त होती है।

वैज्ञानिग धारणाएं और प्रतीक

वैज्ञानिक धारणाों का स्वरूप उपर्युक्त विशिष्टीकरण-प्रक्रिया का फल है। ये धारणायें या तो स्वतंत्र पदार्थों या इकाइयों से सम्बन्धित रहती हैं अथवा उनका रूप सम्बन्धों पर (Relations) ही आश्रित है। इन दोनों प्रकार की धारणाओं को प्रतीकों के द्वारा निर्देशित किया जाता है। अरबन के अनुसार ये धारणायें प्रथम तो केवलमात्र 'यथार्थ' का प्रतिबिम्बमात्र थीं, परन्तु गत्यात्मक-विद्युत् (Electrodynamics) के आगमन के साथ इन धारणाओं का ध्येय यथार्थ का प्रतीकात्मक

---

१. फिलासफी ए न्यू की : एस० के लेंगर, पृ० २२७ ।

निर्देशन करना हो गया ।[1] यहीं से 'प्रतीकवाद' विज्ञान का एक अटूट अंग हो गया । गत्यात्मक-विद्युतीय सिद्धान्त भौतिक पदार्थों का जटिल रूप नहीं है, पर उनके सापेक्ष सम्बन्धों का एक सरल निर्देशन मात्र है । अतः वैज्ञानिक प्रतीकवाद का सम्बन्धगत-सिद्धांत इस बात पर आश्रित है कि सत्य और यथार्थ की अभिव्यक्ति इकाईयों अथवा आकारों पर आश्रित है जो प्रतीकों के द्वारा 'पूर्ण' आकार की योजना करती है । अतः यह सिद्धांत सिद्ध करता है कि भौतिक-विश्व का रहस्य, "सम्बन्धों" पर आश्रित, प्रतीक की धारणा में समाहित रहता है ।

यह सिद्धान्त एक अन्य सत्य की ओर संकेत करता है । यदि विज्ञान इन प्रतीकों की अभिव्यक्ति में नाटकीय भाषा का प्रयोग करता है, तब वह 'कुछ' कहता है और यदि ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग नहीं करता है, तब वह केवल क्रियाशील ही रहता हैं । उसे और 'सत्य' का माध्यम नहीं बना सकता हैं । ये प्रतीक तात्विक-अभिव्यंजना भी करते हैं और यही कारण हैं कि विज्ञान की विश्य-सम्बन्धित प्रस्थापनाएं तात्विक एवं भौतिक रूपों में प्रतीकात्मक ही होती है । इस प्रकार वैज्ञानिक-तत्व-चितन (Metaphysics of Science) का स्वरूप हमारे सामने मुखर होता है । यही बात आइन्स्टीन के सापेक्षवादी-सिद्धांत के प्रति भी सत्य हैं । आइन्स्टीन का शब्द "पूर्व स्थापित सामरस्य" (Pre-established Harmony) की धारणा में इसी सत्य का संकेत है । संपूर्ण विश्व का संचालन एक पूर्व स्थापित समरसता के द्वारा ही होता है जो कार्य-कारण की शृंखला से घटनाओं को एक सूत्र में अनस्यूत करता है । इस विचारधारा में क्या किसी दार्शनिक चितन से कम सत्य है? इसी प्रकार परमाणु का रहस्योद्‌घाटन सूर्यमण्डल के रहस्य से समानता रखता है । जिस प्रकार,परमाणु के आकर में केन्द्र के चारों ओर एलक्ट्रान परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार सौर-मण्डल का केन्द्र सूर्य है और उसके चारों ओर निश्चित वृत्त में ग्रह परिक्रमा करते हैं । इस तथ्य में विश्व के प्रति एक तात्विक दृष्टि प्राप्त होती है । वैज्ञानिक प्रतीकवाद का यह तात्विक क्षेत्र 'ईश्वर', 'समय' 'दिक्' आदि की धारणाओं में भी सत्य है ।[2] यह सत्य भौतिकवादियों एवं पदार्थवादियों के विरोध में पड़ता है जो विज्ञान को तत्वचिंतन का विषय नहीं मानते हैं । परन्तु उपर्युक्त विवेचन से

---

१. लैंगवेज एन्ड रियाल्टी : अरबन पृ० ५२६ ।

२. इस दिशा की ओर अनेक वैज्ञानिक दार्शनिकों ने प्रयत्न किए हैं, जैसे डू नू, वाइट हेट, आइन्स्टीन । इसके लिए देखिये ह्यूमन डेस्टनी द्वारा डू नू, साइन्स एण्ड द माडर्न वर्ल्ड द्वारा वाइटहेड और प्रोसेस एण्ड रियाल्टी द्वारा वाइट हेडआदि ।

स्पष्ट होता है कि यह प्रवृति वैज्ञानिक प्रतीकवाद की संकुचित भावभूमि है, वह भी मानवीय ज्ञान के तत्वपरक रूप का समान अधिकारी है। इस प्रकार काव्यात्मक-प्रतीकवाद की तरह वैज्ञानिक-प्रतीकवाद को प्रत्यावर्त्तित तत्व-चिंतन (Covert-Metaphysics)की संज्ञा दी जा सकती है।

वैज्ञानिक प्रतीक और काव्य

अनेक विचारकों का मत है कि वैज्ञानिक प्रतीकों का क्षेत्र काव्य अथवा कला के समान नाटकीय नहीं है और उनके द्वारा रसानुभूति या सौंदर्यानुभूति संभव नहीं है। इस मत के विश्लेषण अत्यन्त आवश्यक हैं क्योंकि इसकी समुचित विवेचना पर ही साहित्य और विज्ञान की समन्वयभूमि प्रस्तुत हो सकती है।

जहां तक सौंदर्यानुभूति का प्रश्न है, वैज्ञानिक प्रतीकों में इसका समुचित समावेश प्राप्त होता है। उसके लिये केवल एक विशेष मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा है। यदि हम डारविन के विकासवादी सिद्धान्त या आइन्स्टीन के सापेक्ष-वादी सिद्धांत अथवा मैक्सवेल के विद्युतचुम्बकीय सिद्धांत का अनुशीलन करें तो इन समस्त नवीन विचार-पद्धतियों की भाषा और उनमें प्राप्त प्रतीकों की योजना क्या कम नाटकीय रूप से हमारे सामने आती है। अणु और परमाणु की महत् शक्ति को देखकर, नक्षत्र-मण्डल के रहस्योद्घाटन को देखकर, दिक् काल और गुरुत्वाकर्षण की धारणाओं को देखकर क्या हमारे अन्दर जिज्ञासा, कौतूहलमय सौंदर्य-भावना का संचार नहीं होता है ? अन्तर केवल इतना है कि जहाँ कला की सौंदर्यभावना, संवेदना तथा अनुभूति पर आश्रित होती है, वहां विज्ञान का सौंदर्य-बुद्धि एवं तर्क पर अधिक आश्रित रहता है। अतः, मेरे विचार से, वैज्ञानिक प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में सम्भव है केवल इस शर्त के साथ कि उन प्रतीकों का प्रयोग काव्य की रसात्मकता में होना चाहिए। सत्य में यह कवि की प्रतिभा पर आधारित है कि वह वैज्ञानिक-प्रतीकों को किस प्रकार बुद्धि, भावना तथा संवेदना से समन्वित कर काव्यानुभूति में एकरस कर सकता है ?

मैं अपने उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वैज्ञानिक प्रतीकों और धारणाओं का स्वरूप हिन्दी काव्य में और पाश्चात्य-काव्य में समान रूप से मिल जाता है। शैली का "प्रोमिथियस अन बाउण्ड", प्रसाद की 'कामायनी' गिरिजाकुमार माथुर का 'शिला पंख चमकीले और पंत की अनेक स्फुट कविताओं में यदा-कदा वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित प्रतीकों और विचारों की काव्यात्मक परिणति प्राप्त हो जाती है। मैं यहां पर केवल प्रसाद, पन्त और

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में 'परमाणु' की वैज्ञानिक धारणा का उल्लेख करूंगा।

विज्ञान में पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई को 'परमाणु' की संज्ञा दी है। परमाणु के भी अन्दर उसकी विद्युत-शक्ति की व्याख्या करने के लिये 'एलक्ट्रान' और 'प्रोटान' आदि की कल्पना की गई। एलक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत-शक्ति का और 'प्रोटान' धनात्मक शक्ति का केन्द्र होता है। दोनों की शक्तियां निष्क्रियावस्था में रहती है। इसी तथ्य की सुन्दर-काव्यात्मक अभिव्यक्ति 'प्रसाद' ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

आकर्षणहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य[1]

पूरे महाकाव्य में प्रसाद परमाणु की रचना तथा प्रकृति के प्रति पूर्णरूप से सचेत है। बीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक परमाणु के रहस्य का साक्षात्कार डाल्टन, बेहर आदि वैज्ञानिकों ने किया था। परमाणु की प्रकृति अत्यन्त चलायमान होती है। प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु के प्रति आकर्षित ही नहीं होता है, वरन् उस आकर्षण में नवीन सृष्टि-क्रम की संभावनाएं भी निहित हैं। उनके विस्फोट में संहार और निर्माण की समान सम्भावनाएं रहती है। इसी परमाणु-विस्फोट को 'अनादि ब्रह्म' का रूप देते हुए, गिरिजाकुमार माथुर ने परमाणु-विस्फोट के प्रभाव को इस प्रकार प्रदर्शित किया है—

हो गया है फिशन अणु का,
परम ब्रह्म अनादि मनु का
ब्रह्म ने भी खूब बदला नाम,
लोक हित में पर न आया काम।[2]

सत्य में यह परमाणु की रचना सौर-मण्डल की रचना का प्रतिरूप कहा जाता है। परमाणु स्वयं में एक एक ब्रह्माण्ड हैं उन्हें विश्राम कहां? उनका विश्राम मानों प्रकृति की गतिशील विकासशीलता का व्यवधान ही है। अतः आइन्स्टीन के अनुसार परमाणुओं में वेग (Velocity), कंपन (Vibration) और उल्लास (Veracity) तीन की अन्विति प्राप्त होती है। तीनों के सम्यक् समन्वय या समरसता में ही सृष्टि का रहस्य दिया हुआ है। प्रसाद ने इसी तथ्य को काम-सर्ग में इस प्रकार व्यक्त किया है जो काव्य की दृष्टि से पूर्ण रसात्मक है और साथ ही वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं की सुन्दर काव्यात्मक परिणति भी—

---

१. कामायनी: प्रसाद, पृ० २०, चिन्ता सर्ग।
२. धूप के धान: गिरिजाकुमार माथुर, पृ० ८९।

अणुओं को है विश्राम कहां,
यह कृतिमय वेग भरा कितना ।
अविराम नाचता कम्पन है,
उल्लास सजीव हुआ कितना ।।[1]

वेग, कंपन और उल्लास—अणु के तीन तत्वों की ओर बहुत ही सुन्दर एवं सूक्ष्म संकेत कवि ने प्रस्तुत किया है । इसी भाव को पन्त ने कुछ दूसरे प्रकार से व्यंजित किया है—

महिमा के विशद् जलधि में हैं छोटे छोटे से कण ।
अणु से विकसित जग-जीवन, लघु-लघु का गुरुतम साधन ।।[2]

अणु की लघुता ही उसकी महानता है क्योंकि वे महिमा के रहस्य-सागर प्राण हैं । वे लघु होते हुए भी सृष्टि के गुरुतम कार्य को सम्पन्न करते हैं । इसी कारण प्रसाद ने परमाणुओं को चेतनायुक्त भी कहा हैं जिनके अन्योन्य सम्बन्ध में, उनके बिखरने तथा विलीन होने में सृष्टि का विकास एवं विलय निहित है ।

चेतन परमाणु अनन्त बिखर
बनते विलीन होते क्षण भर ।[3]

इस प्रकार, वैज्ञानिक प्रतीकों का काव्यात्मक प्रयोग, एक तरह से संवेदना तथा भावना के संयोग से काव्य की धरोहर बन सकता है । मेरे विचार से आज के बुद्धिवादी कवियों के लिये विज्ञान ने अनेक ऐसे नूतन आयाम खोल दिये हैं जिनकी ओर कवि की सृजन-शक्ति गतिशील हो सकती है । आधुनिक हिंदी काव्य में वैज्ञानिक धारणाओं और प्रतीकों का यदा-कदा सुन्दर संकेत प्राप्त होता है, जिन पर एक अलग रूप से ही विचार किया जा सकता है । मेरा यह प्रयास केवल उस प्रयत्न की एक कड़ी है ।

---

१. कामायनी : काम सर्ग, पृ० २८ ।
२. गुंजन : पन्त, पृ० २८ ।
३. कामायनी : पृ० ८२ ।

प्रो० इडिंगटन तथा सर जेम्स जीन्स का आदर्शवाद | ६

आधुनिक वैज्ञानिक विकास तथा उसके चिंतन को हृदयंगम करने के लिए अनेक वैज्ञानिकों को लिया जा सकता है। प्रो० इडिंगटन तथा सर जेम्स जीन्स इन दो वैज्ञानिकों को इस दृष्टि से लिया गया है कि इन दोनों वैज्ञानिकों के विचारों में उन मूलभूत प्रत्ययों का समाहार प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक आदर्शवाद के रूप को मुखर करता है। इस आदर्शवाद को हृदयंगम करने के लिए हम इन विचारकों के विचारों को अलग अलग लेते हैं और उनके औचित्य पर तार्किक विश्लेषण का सहारा लेते हैं।

(१)

प्रो० इडिंगटन एक भौतिक शास्त्री है और उनके विचारों में भौतिकी सिद्धांतों तथा प्रस्थापनाओं का एक ऐसा आधार प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक चिंतन के निकट माना जा सकता है। उनका समस्त चिंतन इस प्रत्यय को लेकर चलता है कि आधुनिक भौतिकी विश्व के आदर्शात्मक विवेचन को प्रश्रय देती है।

यह समस्त विश्व या भौतिक जगत इस रूप में पारिभाषित किया जा सकता है कि यह ज्ञान का एक माध्यम है। यह ज्ञान तीन महत्वपूर्ण दशाओं अथवा स्थितियों से गुजरता है—(१) प्रथम वे मानसिक बिंब या प्रतीक जो हमारे मस्तिष्क में वर्तमान रहते हैं (२) वाह्य या भौतिक संसार में इसका प्रतिरूप जो वस्तुगत होता है और (३) प्रकृति के नियम जो सापेक्षगत अध्ययन से प्राप्त होते हैं। ये ही निष्कर्ष के रुप होते हैं। इस प्रकार विज्ञान का जगत मानसिक अमूर्तन या प्रतीकीकरण का क्षेत्र है जिस प्रकार मानवीय ज्ञान के अन्य क्षेत्र माने गए हैं। इडिंगटन का यह उपर्युक्त मत इस प्रस्थापना को समक्ष रखता है कि गणित से सम्बन्धित प्रतीकवाद हमारे ज्ञान को विवेचित एवं रुपायित करता है। (दे० दि फ़िलासफी आफ फिजिकल साइन्स, पृ० ५०–५१ द्वारा इडिंगटन) ज्ञान का यह

बिंबात्मक रूप वस्तुओं के सम्पेक्षिक सम्बन्व का द्योतक है। इसी से विज्ञान का सम्बन्ध अनुभव के तार्किक सम्बन्ध से माना गया है।

इडिंगटन के इस मत में मानसिक बिंबात्मक सृजन को स्वीकारा गया है, पर वस्तु तथा पदार्थ के महत्व को आपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया है। इसका कारण उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण है। उनका यह कथन है कि चेतन पदार्थ ही तार्किक सम्बन्ध से युक्त हो सकता है अचेतन पदार्थ नहीं। यहीं कारण है कि इडिंगटन महोदय ने पदार्थ को दो भागों में बांट कर, चेतन पदार्थ को सक्रिय एवं गतिवान माना है। सच तो यह है वैज्ञानिक 'पदार्थ' स्वयं ही प्रतीक है—और ये प्रतीक धारणा या प्रत्यय को जन्म देते है। अणु, समय, दिक् आदि प्रतीक किसी न किसी धारणा या Concept को ही हमारे सामने रखते है। इस आधार पर इडिंगटन का आदर्शवादी दृष्टिकोण पदार्थ के प्रति वह आस्था नहीं रखता है जो मानसिक सृजन शक्ति में। इसी से उनका दृष्टिकोण अध्यांतरिक है, (Subjective) जो आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत आता है।

इस आदर्शवाद का रुप उनके सत्य या यथार्थ के विवेचन में मिलता है। आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन का एक आवश्यक तथा क्रान्तिकारी प्रत्यय यह है कि यथार्थ अध्यांतरिक या विषयीगत है। आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद में भी दिक् और काल को दृष्टा के अनुकूल माना है अर्थात् दिक् और काल की भावना दृष्टा सापेक्ष है, वह न्यूटन की मान्यता की भाँति निरपेक्ष नहीं है। इडिंगटन महोदय ने इस सापेक्ष दृष्टि को समक्ष रख कर यथार्थ को सापेक्ष माना है और साथ ही उसे आत्मिक या अध्यांतरिक भी माना है। उपनिषद् साहित्य में 'अहं ब्रह्मास्मि' का मूलभूत अर्थ इसी वैज्ञानिक तथ्य को समझने से और भी व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है। इसी से यथार्थ की धारणा 'पूर्ण' और 'अंश' के सह अस्तित्व की भावना मानी जा सकती है। विश्लेषण की धारणा का विवेचन करते हुए इडिंगटन महोदय ने स्पष्ट रुप से कहा है कि 'पूर्णता की भावना (Whole) जो 'अंशों (Parts) में विभाजित हो जैसे अंशों के सह–अस्तित्व से 'पूर्णता' के अस्तित्व का बोध होता है।

इसी यथार्थ की भावना के अन्तर्गत गणित में प्रयुक्त समूह–सिद्धांत (Theory of groups) का सहारा लेते हुए, इडिंगटन महोदय ने रुपाकार के अन्तर-मिश्रित स्वरुप (Interlacing pattern of structures) का विवेचन करते हुए यह तथ्य सामने रखा है कि भौतिक ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए एक गणितमात्मक स्वरुप की आवश्यकता है क्योंकि केवल इसी के द्वारा हम रुपाकार—ज्ञान (Structural knowledge) को ग्रहण कर सकते हैं। रुपाकार के अन्तराल में कौनसा यथार्थ छिपा हुआ है, इसका व्यवधान एक गणितपरक प्रतीक ही करता है। और यह प्रतीक

अमेद्य होता है। रुपाकार ज्ञान को इस प्रकार भौतिक ज्ञान का पूरक मान लेने पर मन या शक्ति और पदार्थ का द्वंत भाव अपने आप मिट जाता हैं। यही विज्ञान का अद्वैत–दर्शन है जो आइस्टाइन, फ्रेड हायल, इडिगटन, सर जेम्स जीन्स, ह्वाइटहेड आदि के द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से मान्य है।

(२)

ईडिगटन कें आदर्शवाद के उपर्युक्त विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि विश्व केवल मात्र एक यांत्रिक रचना नहीं हैं। ज्ञान का क्षेत्र, जो अभी तक विज्ञान के द्वारा उद्‌घाटित हुआ है, वह मध्यकालीन समय से कुछ भिन्न होता जा रहा हैं। विश्व के आधुनिक प्रगतिशील ज्ञान से यांत्रिक विश्व के स्थान पर अयांत्रिक विश्व की प्रस्थापना को रखा है। सर जेम्स जीन्स ने विश्व की इस अयांत्रिक (Non-Mechanical) व्याख्या को सर्वप्रमुख स्थान दिया हैं। आगे चलकर आइंस्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धाँत ने बिश्व को एक अयांत्रिक यथार्थ के रूप में देखा है।

सर जेम्स जीन्स ने यथार्थ के इस अयांत्रिक रूप को मान्यता देतें हुये यह मत समक्ष रखा कि विश्व एक विचार (Thought) है वह एक बड़ा एवं विशालकाय यंत्र नहीं है।

इसी अयांत्रिक विश्व की रचना के आधार पर वह "ईश्वर" की धारणा को स्वीकार करता है। जो चतुर्आयामिक सत्य (Four Dimensional Reality) का प्रतिरूप है। यह चार आयामों की धारणा आइस्ठाइन के चार आयामों से भी मूलत: समानता रखती है। आईस्टाइन ने दिक् और काल के सापेक्ष सम्बन्ध चरितार्थ किया और दिक् तथा काल की निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष माना। सर जेम्स जीन्स के दिक् और काल के आस्तित्व को मान्यता तो प्रदान की है पर उनका कथन है कि इन दोनों प्रत्ययों का आस्तित्व मूलत: "विचार" का परिणाम है (दे० फिलासिफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडेंन साइंस द्वारा सी० ई० एम० जोड) अत: ईश्वर स्वयं दिक् और काल में क्रियात्मक रूप धारण नही करता है, पर "वह" दिक् और काल के साथ कार्यरत होता है। यहाँ पर ईश्वर और विश्व के सापेक्ष महत्व को स्वीकारा गया है क्योंकि ईश्वर की धारणा यहाँ पर दिक् और काल के साथ मानी गई है वह न इनसे परे है और न निरपेक्ष। अनेक विकासवादी वैज्ञानिकों ने भी ईश्वर को विकास परम्परा के साथ माना है, वह प्राणी विकास की चेतना के साथ विकसित होता है लींमू काम्ते ब्यू न्यूं, ह्वाइटहेड तथा ज्यूलियन हक्सले आदि विकासवादी चिंतकों ने ईश्वर को इसी रूप में मान्यता प्रदान की है। दार्शनिक शब्दावली में कहें तो वैज्ञानिक आदर्शवाद द्वैत भावना के

द्वारा "अद्वैत" की ओर उन्मुख होता है, और यही अद्वैत दर्शन विश्व, प्रकृति मानव तथा ईश्वर को एक संगुफित रूप में रखता है। पदार्थवादी वैज्ञानिक चाहे ईश्वर के इस रूप के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखे, पर इतना तो वे भी मानेंगे कि चतुर्आयामिक यथार्त एक ऐसी मान्यता है जो पदार्थ के स्वरूप पर एक अभौतिक (Non-Physical) मान्यता को प्रश्रय देती है। यहाँ पर बटरन्ड रसल का वह मत याद आता है जो उन्होंने आधुनिक पदार्थ के बारे में कहा था। उसका कथन है कि पदार्थ एक गणितपरक अमूर्त्तन है जो शून्य दिक् में घटित होता है। आधुनिक 'पदार्थ' की धारणा भौतिक या पदार्थवादी (Material) नहीं रही है पदार्थ वह तथ्य है। जिसकी ओर 'मन' सदैव गतिशील रहता है, पर वह उस (पदार्थ) तक कभी भी पहुँच नहीं पाता है। यही उसकी नियति है। यह नियति ही अभौतिक पदार्थ है या ईश्वर, यह तो केवल नाम देने का प्रश्न है।

यहाँ पर जेम्स जीन्स के एक मत को भी देखना आवश्यक है और उसके औचित्य पर कुछ विश्लेषण अपेक्षित है। उसका यह कथन है कि प्रकृति की जो भी संरचना है, वह गणितपरक चित्रों की संरचना है। दूसरे शब्दों में गणितपरक अमूर्तन ही समस्त प्रकृति की व्याख्या करने में समर्थ है। यहाँ ईडिंगटन के रूपाकार Strectures तत्व की मान्यता याद आती है जो मेरे विचार से जीन्स महोदय के समकक्ष मानी जा सकती है। इस संदर्भ में यह देखना है कि क्या विज्ञान की अन्य शाखायें भी गणितपरक चित्रों के द्वारा समझी जा सकती है। अथवा इन चित्रों के द्वारा उनकी व्याख्या संभव है। समस्त विज्ञान गणितपरक नहीं है जैसे जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भविज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि। यहा तक उद्‌भव सिद्धांत, जीवन की धारणा आदि से सम्बन्धित नियम भी नितांत गणितपरक प्रत्ययों से शासित नहीं होते हैं। फिर, सौंदर्य, सत्य, शिव आदि धारणाओं के प्रति क्या कहना चाहिये। यह तो निश्चित है कि ये अमूर्त धारणाये गणितपरक धारणाये नहीं मानी जा सकती हैं। परन्तु दूसरी ये समस्त धारणायें मानसिक हैं। इस तथ्य के आधार पर यह कहना अतार्किक एवं असगत नहीं होगा कि सर जीन्स महोदय के "गणितपरक चित्र" की मान्यता पूर्णरूतेण सत्य नहीं है, पर हां वह एक ऐसी मान्यता है जो भौतिकी, नक्षत्रविद्या आदि क्षेत्रों के लिये एक सत्य है।

***

वैज्ञानिक चिंतन का स्वरूप | १०

"आज का युग वैज्ञानिक-युग है" यह कथन आज के व्यक्ति के लिए एक अत्यंत सामान्य कथन बन गया है, क्योंकि इस एक वाक्य में हमारी समस्त तकनीकी एवं वैचारिक प्रगति केंद्रीभूत हो जाती है। मैंने यहाँ 'तकनीकी प्रगति के साथ वैचारिक' शब्द का भी प्रयोग किया है! इसका कारण यह है कि सामान्यतः वैज्ञानिक' शब्द के साथ तकनीकी एवं भौतिक प्रगति का सम्बंध कुछ परम्परागत सा हो गया है और उसके साथ, जब भी चिंतन या वैचारिक शब्द को जोड़ा जाता है। तब हम कुछ सजग से हो जाते हैं, क्योंकि शायद 'विज्ञान' के साथ यह शब्द हम में मानसिक भ्रम उत्पन्न कर देता है। मेरा मंतव्य यह रहा है कि शब्द तथा उसके अर्थ का सम्बंध संदर्भ-सापेक्ष होने के कारण, उसका अर्थ कभी-कभी परम्परा से हट कर, एक नवीन संदर्भ को अवतरित करता है! इस दृष्टि से 'चिंतन' शब्द एक नवीन संदर्भ को उत्पन्न करता है क्योंकि विज्ञान की प्रगति ने केवल भौतिकवादी चिंतन को ही विकसित नहीं किया है, पर इसके साथ ही साथ तात्विक-चिंतन को भी गतिशील किया है। जब तक हम चिंतन के इस पक्ष का सही मूल्यांकन नहीं करते, तब तक हम वैज्ञानिक चिंतन के सही अर्थ एवं उसके स्वरूप को हृदयंगम नहीं कर सकते!

यदि चिंतन शब्द को व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिया जाय, तो इसका अर्थ 'दर्शन' से भी ग्रहण किया जा सकता है। दर्शन का क्षेत्र चिंतन का क्षेत्र है और इस दृष्टि से वैज्ञानिक-दर्शन (चिंतन) वह दृष्टि है जो हमें तार्किक अनुभव के बल पर मानव, विश्व तथा मूल्यों के (Values) प्रति एक दृष्टि प्रदान करती है अतः वैज्ञानिक-दर्शन चिंतन प्रसूत अवधारणात्मक (Conceptual) प्रक्रिया है। इसी कारण वैज्ञानिक दर्शन में बौद्धिक जागरूकता प्राप्त होती है और यह बौद्धिकता

तर्कजनित एवं अनुभवजनित होती है। जब हम विज्ञान की प्रगति को ऐतिहासिक परिवेश में रखकर देखते हैं, तब यह स्पष्ट होता कि मध्यकालीन विज्ञान ने वस्तुगत यथार्थ के आधार पर बौद्धिकता का विकास किया और बीसवीं शताब्दी में आकर यह बौद्धिकता तर्क तथा अध्यांतरिक (Subjective) दृष्टिकोणों से कहीं अधिक विकसित हो सकी। आइंस्टीन के सापेक्षवादी सिद्धांत ने अध्यांतरिक दृष्टिकोण को वैज्ञानिक-चिंतन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है[1] और अप्रत्यक्ष रूप से बौद्धिकता का सम्बंध इसी आध्यांतरिक दृष्टिकोण पर आश्रित है अथवा उसी का एक विकसित रूप है। वैज्ञानिक प्रगति में बौद्धिकता को एक तर्कमूलक अनुभव का स्वरूप माना है, क्योंकि विज्ञान मूलतः अनुभव के तर्कमूलक सम्बंध पर आश्रित एक मानवीय क्रिया है[2] जो इसी सम्बंध अथवा सापेक्षता के प्रकाश में 'सत्य' को जानने का प्रयत्न करती है। सम्पूर्णरूप से, वैज्ञानिक दर्शन का विकास इसी सम्बंध-गत अनुभव की आधार शिला पर विकसित हुआ है!

अध्यॉतरिक दृष्टिकोंण के स्वरूप विश्लेषण का प्रश्न वैज्ञानिक-दर्शन का महत्व पूर्ण प्रश्न है। इसी स्वरूप विश्लेषण के वैज्ञानिक चिंतन की आधुनिक प्रक्रिया पर निष्पक्ष विवेचन अपेक्षित है! दार्शनिक क्षेत्र में विश्व के प्रति सामान्य रूप से दो दृष्टियों का संघर्ष रहा है, एक विषयगत दृष्टिकोण जो वस्तु जगत् को को ही एकमात्र सत्य मानता है। यांत्रिक विश्व की कल्पना इसी दृष्टि का फल है जिसे वैज्ञानिक प्रगति ने भी स्वीकार किया है दूसरी ओर विषयीगत या अध्यांतरिक दृष्टिकोण है जो विश्व को केवल भौतिक न मान कर, उसे तात्विक रूप में अथवा दर्शन की शब्दावली में आध्यात्मिक रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न करता है! बीसवीं शताब्दी में आकर अनेक वैज्ञानिक चिंतकों ने केवल मात्र वस्तुगत दृष्टिकोण को ही 'सत्य' नहीं माना, उन्होंने विश्व तथा प्रकृति को अधिक गहराई से देखने का प्रयत्न किया है यांत्रिक-दृष्टिकोण के प्रति प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक एडिंटन का मत है—"प्रत्येक वस्तु के यांत्रिक-विवेचन का त्याग, निष्क्रिय उपपत्तियों को समाप्त करने में समर्थ हो सका और क्रमशः अभिज्ञानपरक उपपत्तियों (Epistemological hypotheses) को स्थान दे सका।[3]

वैज्ञानिक दर्शन में यांत्रिक दृष्टिकोण के प्रति यह अविश्वास मूलतः आध्यांतरिक या विषयीगत दृष्टि का फल है। हिंदू-दर्शन का मुख्य स्वर भी

---

१. साइंस एंड द मार्डर्न वर्ल्ड, सर ए० एन० व्हाइटहेड पृ० १४१।

२. द फिलासफी आफ फिजिकल साइंस, सर आर्थर एडिंगटन, पृ० १८४।

३. वही ,, ,, ,, ,, पृ० ४१–४५।

अध्यांतरिक है। पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट ने भी चेतना के "प्रकारों" को अपनी ही सापेक्षता में सत्य माना है। दिक्, काल, पदार्थ और ऊर्जा आदि की धारणायें मूलतः सापेक्षिक एवं आध्यांतरिक है। आधुनिक 'पदार्थ' की धारणा भी भौतिक न होकर अपने मूल रूप में तात्विक है। बर्टन्ड रसल ने इस मत की प्रस्थापना की है कि पदार्थ, शून्य दिक् में घटनाओं का एक गणितपरस अमूर्त्तन है (Abstraction) जिसकी ओर 'मन' गतिशील होता है, पर उस तक पहुंचने में असमर्थ रहा है।[1] दर्शन और विज्ञान के इस संधिस्थल पर पहुंच कर, यह मान्यता सदा सत्य प्रतीत होती है कि दर्शन और विज्ञान का अंतर एक निर्मूल अंतर है।[2] प्रत्येक मानवीय ज्ञान अपनी उच्चतम परिणति में चिंतन की ओर उन्मुख हो जाता है और यह उन्मुखता 'दर्शन' का ही क्षेत्र है ! वैज्ञानिक 'ज्ञान' भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है क्योंकि, इस ज्ञान में विश्व, प्रकृति, ईश्वर और अस्तित्व जैसे प्रश्नों पर विचार किया गया है और इस प्रकार नवीन प्रतिमानों की ओर संकेत किया गया है ! अति भौतिकवादी विचारक कदाचित् इस तथ्य को मान्यता न दें, पर मैं अमूर्तन की प्रक्रिया के कारण, जो विज्ञान में भी चरितार्थ होती जा रही है, इस मत को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता हूँ कि विज्ञान केवल भौतिक एवं दृश्य जगत् सापेक्ष ज्ञान नहीं है, वह भी अमूर्तन एवं प्रतीकीकरण के द्वारा दार्शनिक प्रस्थापनाओं एवं मान्यताओं के प्रति सजग एवं गतिशील है !

इस अमूर्त्तन की प्रक्रिया ने ज्ञान के क्षेत्र को विकसित किया है और इसके साथ ही साथ, प्रतीकीकरण की क्रिया ने विचारों तथा धारणाओं को गतिशील किया है। विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है और वैज्ञानिक चिंतन, एक मानवीय ज्ञान होने के कारण अमूर्तन तथा प्रतिकीकरण, दोनों प्रक्रियाओं को चरितार्थ करता है। अतः ज्ञान का सापेक्ष रूप ही इन प्रक्रियाओं के द्वारा व्यक्त होता है ! आधुनिक ज्ञान ही नहीं, पर उसका सम्पूर्ण विकासात्मक इतिहास, मानव जीवन तथा विश्व की सापेक्षता में विकसित हुआ है। चिंतन के क्षेत्र में जो संघर्ष एवं समन्वय की प्रवृतियाँ दिखाई देती हैं, वे शुभ तो हैं, पर इसके साथ ही साथ, उनकी परीक्षा का विषय भी है ! विचारों का संघर्ष सदा ज्ञान का उन्नायक रहा है। आधुनिक चिंतन, चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, उसका औचित्य एडिंगटन के शब्दों में "इस बात में समाहित है कि वह कहाँ तक, आध्या-

---

१. फिलासिफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडर्न साइंस, सी० ई० एम० जोड, पृ० ८७।

२. द साइन्टिफिक एडवेंचर, हर्बर्ट डिन्जिल, पृ० १९३ ।

त्मिक अनुभव को, एक जीवन-तत्व के रूप में स्थान दे सका है।"[1] यहाँ पर जो आध्यात्मिक अनुभव की ओरसंकेत किया गया है, उसका अर्थ वैज्ञानिक चिंतन में 'अदृश्य' (unobservabeles) तत्वों की ओर माना गया है। इन 'अदृश्य तत्वों को वैज्ञानिक चिंतकों ने अनेक कोटियों अथवा श्रेणियों में विभक्त किया है। उन कोटियों का सम्यक् विवेचन यहाँ अपेक्षित है, क्योंकि इनके द्वारा वैज्ञानिक चिंतन के स्वरुप और उसके क्षेत्र का पता चलता है

वैज्ञानिक चिंतन को हृदयंगम करने तथा उसके स्वरूप को समझने के लिये 'अदृष्ट' के स्वरुप का विश्लेषण अपेक्षित है। विज्ञान के क्षेत्र में विश्व तथा प्रकृति के रहस्यों को प्रत्यक्ष करने का जो प्रयत्न किया है, उसका मूलाधार तार्किक विधि माना जा सकता है, पर इसके साथ ही साथ, चिंतन का तत्व भी उसमें समाहित होता है। यहाँ पर 'अदृष्ट' से तात्पर्य कोई अतार्किक एवं काल्पनिक इकाई अथवा तत्व से नहीं है, पर ऐसे तत्वों से है जो अनुसंधानों के निष्कर्षों का एक तार्किक एवं सापेक्षिक सम्बंध माना जा सकता है। जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि किसी भी शब्द का अर्थ संदर्भ सापेक्ष होता है और 'अदृष्ट' शब्द भी अपने परम्परागत अर्थ को रखते हुये भी, वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में, नवीन अर्थ तथा संदर्भ की अवतारणा करता है। इस दृष्टि से 'अदृष्ट' को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

(१) वे अदृष्ट तत्व जो इंद्रियों के द्वारा गम्य न हों और यथार्थ की कल्पना से परे हों जैसे चंद्रमा का दूसरा भाग।

(२) वे तत्व जो मानवीय शक्तियों के द्वारा देखे न जा सकें। इसके अन्तर्गत विश्व से परे अस्तित्व की कल्पना, सृष्टि की गहनता, परमाणु की सत्यता आदि की धारणायें आती हैं।

(३) वे तत्व जो भौतिक दृष्टि अथवा रूप के द्वारा देखे जा सकें परंतु यह उसी समय संभव होता है जब प्रकृति किसी भी प्रकार से अपना सहयोग दे। उदाहरण-स्वरूप गति, कंपन तथा भार आदि।

(४) अंत में, वे तत्व जो तार्किक दृष्टि से भी देखे न जा सकें, केवल उसी दशा में उनकी अनुभूति की जा सके, जब तर्क के नियमों का उल्लंघन किया जाय। इसी के अन्तर्गत आध्यात्मिक अवधारणाओं को स्थान दिया जाता है।

---

१. साइंस एंड अनसीन वर्ल्ड, पृ० २९।

उपर्युक्त अदृष्ट-प्रकारों में हर्बर्ट डिन्जिल ने[1] दूसरे तथा चौथे तत्वों में वैज्ञानिक-दर्शन के उस स्वरूप की ओर संकेत किया है जो भौतिक दृष्टि से हट कर विश्वजनीन एवं तात्विक मान्यताओं की ओर प्रयत्नशील है। वैज्ञानिक अनुसंधानों ने एक ऐसे 'स्वतंत्र अस्तित्व' की ओर संकेत किया ह जो हमारे अनुभवों से परे है। यह तथ्य, तार्किक रूप से, यह संकेत करता है कि हमारा ऐंद्रिय अनुभव कितना सीमित है, क्योंकि उनका क्षेत्र एक सीमित परिवेश तक ही कार्य कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इंद्रियों के परे 'प्राण' की तथा प्राण से परे 'आत्मा' की कल्पना की गई है। आत्मा की यह धारणा इंद्रियातीत धारणा है जो अनुभूति तथा प्रातिभज्ञान का विषय है।

इस प्रकार, हमारा समस्त वैज्ञानिक (या केवल दर्शन) एक परीक्षा के काल से (ट्रायल) गुजर रहा है; उसके अस्तित्व का प्रश्न इस बात पर निर्भर है कि वह आध्यात्मिक तत्व को एक जीवन-दर्शन के रुप में कहाँ तक ग्रहण कर सका है अथवा कर सकेगा। आध्यात्मिक या अध्यांतरिक दृष्टिकोण का परस्पर सम्बत होते हुए भी वैज्ञानिक चिंतन के क्षेत्र में उसका जो स्वरुप-विश्लेषण किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि विज्ञान और दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं—उनमें अन्तर की सृष्टि करना मानव-शक्ति के प्रति एक प्रश्नचिन्ह है ?

---

१. द साइन्टिफिक एडवेंचर, पृ० २२१-२२२।

विज्ञान और ईश्वर की बदलती हुई धारणा

११

तंत्र, धर्म और दर्शन—इन तीनों क्षेत्रों में, ईश्वर की धारणा के रूप तथा उसके धारणात्मक विकास का इतिहास प्राप्त होता है। यह इतिहास—विकास की दृष्टि से, ईश्वर के स्वरूप को नित नवीन रूपों तथा धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में रूपायित करता रहा है। आदिमानवीय स्थिति में ईश्वर की धारणा का स्वरूप अत्यन्त धूमिल था—अथवा उसका जो भी रूप था वह तांत्रिक प्रभावों का प्रतिरूप था। आदिमानवीय स्थिति में प्रकृति-शक्तियों के प्रति एक भयमूलक पूजा की भावना थी, इस भावना ने उन शक्तियों का मानवीकरण कर, उनके प्रति अपने सम्बन्ध को स्थापित किया। इन विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के पीछे एक नियंता-शक्ति की उद्भावना, वह क्रांतिकारी अन्वेषण था जो मानवीय बुद्धि को एक परमसत्ता का आभास दे सका। मेरे विचार से यह परमसत्ता का आभास, जो प्रकृति के नाना परिवर्तित रूपों के प्रकाश में अवधारणात्मक रूप ग्रहण कर रहा था, अपने में एक महत्वपूर्ण घटना थी।

आदिमानवीय स्थिति में मानवीय बुद्धि का यह प्रश्न कि दृश्य जगत के पीछे वह कौन सी शक्ति है जो प्रकृति की शक्तियों का नियंत्रण एवं संचालन करती है—यहीं से परम-देव या परम शक्ति का नामकरण प्रारम्भ हुआ। इसी जिज्ञासा ने मानव के सामने रहस्य को भी रखा और उसको समझने के लिये उसने बुद्धि का क्रमिक प्रयोग किया।

इसके पश्चात् अनुष्ठानों तथा धार्मिक मनोवृत्ति ने ईश्वर की भावना को अधिक तार्किक रूप में समझने का प्रयत्न किया। विश्व के सभी मुख्य धर्मों में बहुदेववाद की भावना से एकेश्वरवाद की भावना को प्रश्रय मिला। प्राचीन वैदिक साहित्य के विश्लेषणात्मक अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि वेदों में अनेक देवताओं के

प्रति आस्था का भाव था और वेदों में ही इन सभी देवताओं की पृष्ठभूमि में एक 'परमदेव' की कल्पना भी प्राप्त होती है। यही 'परमदेव' ईश्वर भावना का प्रतिरूप है।

अनुष्ठानिक संस्कारों एवं आचारों ने बहुदेववाद को जन-साधारण के निमित्त प्रयुक्त किया और जिसका आवश्यंभावी प्रभाव यह पड़ा कि अनुष्ठानों के द्वारा मानव-मन ने सृष्टि में व्याप्त किसी रहस्यपूर्ण सत्ता को प्रसन्न करने के लिये अथवा देवों को प्रसन्न करने के लिये, अनुष्ठानों का आश्रय लिया। धार्मिक सस्कारों के अन्तर्गत इस प्रवृत्ति का विकास यह सूचित करता है कि अनुष्ठानों के पीछे तांत्रिक प्रभाव, उसकी आदिम दशा में तो माना जा सकता है, पर आगे चल कर इस तांत्रिक-प्रभाव ने क्रमशः मानव-मन को एक विश्लेषण एवं तर्क की ओर अग्रसर किया। इस स्थिति में आकर ईश्वर की भावना को एक तर्कपूर्ण आधार प्राप्त हुआ। यहाँ पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर-भावना का विकास केवल धार्मिक मनोवृत्ति का फल है, पर दर्शन एवं विज्ञान के क्षेत्र में ईश्वर की भावना को एक तार्किक रूप देने का प्रयत्न किया गया। इस निबन्ध में इसी धारणा के स्वरूप विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है।

आस्तिकवादी मतों में ईश्वर की भावना का एक विशिष्ट स्थान ही नहीं रहा है पर वहां पर वह नैतिकता एवं आचरण का एक प्रेरणा स्रोत रहा है। दूसरे शब्दों में हमारी प्रतिबद्धता एवं हमारा विश्वास एक ऐसे परम तत्त्व के साक्षत्कार अथवा उसकी अनुभूति में रहा कि हमारा समस्त व्यक्तित्व उस तत्व में एकाकार होने के लिये प्रेरित हो उठा। यह प्रवृत्ति 'भक्ति' के स्वरूप को क्रमशः विकसित कर सकी। दूसरी ओर दर्शन के क्षेत्र में 'ईश्वर' भी प्रतिबद्धता का दायरें में आ गया और वह चिंतन का क्षेत्र बन गया। ये दोनों क्षेत्र अलग-अलग नहीं माने जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि भक्ति और चिंतन (ज्ञान) दोनों का ध्येय ईश्वर के प्रति ज्ञान अथवा अनुभूति प्राप्त करना था। पाश्चात्य धर्मों तथा दर्शनों में भी हमें यही प्रवृत्ति प्राप्त होती है, पर वहां अवतार की भावना नही प्राप्त होती है जो हमारे हिन्दू धर्म में प्राप्त होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की भावना एक ऐसे तत्व के रूप में की गई जो संसार का अंतिम कारण एवं सत्य है और यह सत्यनिरपेक्ष (Absolute) है। संसार के सभी धर्मों तथा दर्शनों में, सामान्यतः, ईश्वर की धारणा निरपेक्ष रूप में प्राप्त होती है जो संसार से परे है, ज्ञान तथा बुद्धि से परे है—एक अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता है।

भारतीय दर्शन में (तथा अन्य पाश्चात्य दर्शनों में) 'ब्रह्म' की धारणा एक निरपेक्ष धारणा का रूप है जो 'माया' की सहायता से नाम रूपात्मक सृष्टि के रूप

में व्यक्त होता है। यहां पर एक सत्य प्रकट होता है जो सृष्टि का परम कारण है। निरपेक्ष और सापेक्ष का एक तत्व की धारणा में समन्वित एवं समाहित होना—सृष्टि के मूल का रहस्य हैं। इसे ही अव्यक्त एवं व्यक्त रूपों की संज्ञा दे सकते हैं। निरपेक्ष ब्रह्म या परम तत्व भी सृष्टि करने में असमर्थ हैं जब तक कि द्वय की भावना का विकास न हो। यही कारण है कि 'ब्रह्म' जैसे अनादि एवं परम तत्व की धारणा भी अपूर्ण है जब तक कि वह अपने अभिव्यक्तीकरण के लिये 'माया' की सहायता नहीं लेता। ईश्वर की परिकल्पना इसी धारणा का प्रतिरूप है जो जीव विज्ञान का भी एक सत्य है। अकेला जीव सृष्टि नहीं कर सकता है जब तक कि वह दूसरे विपरीत सेक्स का सहारा न ले। ब्रह्म या ईश्वर की धारणा के मूल में इस जीव शास्त्रीय तथ्य को एक दार्शनिक रूप भी प्राप्त होता है। उपनिषदों के ब्रह्म रूप में यह सत्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ब्रह्म का निरपेक्ष रूप हीगल तथा कॉट के निरपेक्ष तत्व (Absolute) के समान है और इस निरपेक्षता में सापेक्षता की भावना भी समाहित है। आदितत्व की "पूर्णता" इसी सापेक्ष निरपेक्ष की समन्वित दशा मानी जाती है। वृहद-उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—"मूर्त और अमूर्त, क्षर और अक्षर, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्।"

(वृहद् उप०, पृ० ५१२)

आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिक धारणाओं के प्रकाश में ईश्वर की धारणा में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया, और वह परिवर्तन वैज्ञानिक-चिंतन का परिणाम माना जा सकता है। सबसे पहली बात जो इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई है, उसने ईश्वर की धारणा को निरपेक्ष न मान कर सापेक्ष माना है। इस परिवर्तनशील धारणा के मूल में विकासवादी चिंतन, आइंस्टाइन के सापेक्षवादी चिंतन तथा ब्रह्मांडीय रहस्य से उद्भूत चिंतन की जड़ें विद्यमान हैं। इन सभी धारणाओं ने ईश्वर की धारणा को एक सापेक्ष रूप प्रदान किया। यहाँ पर एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि विज्ञान ने आधुनिक दर्शन को एक नई दिशा तो अवश्य दी है, पर इसके साथ ही साथ उसमें एक ऐसा वर्ग भी है जो भौतिक-वाद पर अटूट विश्वास रखने के कारण नास्तिकवादी है और यह वर्ग ईश्वर की धारणा को मान्यता नहीं देता है। दूसरा वर्ग आस्तिकवादी है जो ईश्वर की भावना को एक धारणा (Concept) के रूप से समझने का प्रयत्न करता है और इस लेख में इसी वर्ग को ध्यान में रख कर 'ईश्वर' की धारणा और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है।

सबसे प्रथम विज्ञान से सम्बन्धित अनेक धारणायें और प्रस्थापनाएं केवल-मात्र भौतिक जगत से ही सम्बन्धित नहीं है, उनका तात्विक एवं अभौतिक स्वरूप भी मुखर होता जा रहा है। विकासवादी सिद्धांत तथा मनोविज्ञान के कारण मानवीय चिंतन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन लक्षित होता है। विकासवादी चिंतन ने जिस प्रकार मानव के विकास को अनायास ईश्वर के अंश में विकसित होने वाले प्राणी के रूप में अमान्य माना है, उसी प्रकार ईश्वर को उसने विकास-परम्परा के साथ एक चेतनात्मक शक्ति के रूप में कल्पित किया है। प्रो० हाइटहेड तथा लीकाम्ते न्यू ने ईश्वर को इसी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है जो विकास परम्परा की एक आवश्यक परिणति है। यदि सत्य में, हम ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करलें, तब शायद हमारा विश्वास उसके प्रति डावाँडोल होने लगे क्योंकि अभिव्यक्ति के दायरे में, और वह भी सीमित मानवीय क्षेत्र होने के कारण, "उसके" प्रति आशकाओं को जन्म देगा। अतः वैज्ञानिक चिंतन में ईश्वर की धारणा का रूप किसी व्यक्तिगत सत्ता का रूप न होकर एक 'सीमा' का स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, वह एक ऐसी धारणा है जो एक अंतिम सापेक्ष स्थिति का सूचक मात्र है। प्रो० हाइटहेड का कथन है कि "ईश्वर की सत्ता को प्रामाणित करने के लिये किसी भी कारण को नहीं दिया जा सकता है। ईश्वर 'अंतिम सीमा' का धारणात्मक रूप है। उसका अस्तित्व अंतिम अतार्किकता का रूप है।" ईश्वर कोई व्यक्त एवं स्थूल तत्व नहीं है, पर वह व्यक्त यथार्थ का एक महत्वपूर्ण आधार है।

ईश्वर की यह धारणा एक अन्य सत्य की ओर संकेत करती है और वह है शक्ति और पदार्थ का अन्योन्याश्रित रूप। वैज्ञानिक चिंतन में शक्ति के प्रति जो विशिष्ट मान्यताएं हैं, वे भी ईश्वर की धारणा को एक तार्किक स्वरूप प्रदान करती हैं। इसके अनुसार "सृष्टि के सभी क्रिया कलाप शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं और द्रव्य के प्रत्येक अणु में यह शक्ति व्याप्त है तथा पदार्थ को शक्ति में और शक्ति को पदार्थ में परिणत किया जा सकता है।" आइंस्टीन के सापेक्षवादी चिंत में शक्ति (ऊर्जा) और पदार्थ के उपर्युक्त रूप को एक तार्किक मान्यता प्राप्त है जो विश्लेषण करने पर ईश्वर के उपर्युक्त विवेचित रूप को पुष्ट करता है। शक्ति ही ईश्वर है और सृष्टि पदार्थ है जो उसी से उद्भूत है। अतः यहां पर ईश्वर की सता सापेक्ष मानी गई है और यह उसकी सापेक्षता का एक अव-धारणात्मक स्वरूप है।

इसी तथ्य को एक अन्य दृष्टि से भी समझा जा सकता है विज्ञान के द्वारा शक्ति के दो स्तरों एवं स्वरूपों का रुप, शक्ति के दो विशिष्ट आयामों को स्पष्ट

करना है । ये दो स्तर है सुपुप्तावस्था (Potential Energy) और जागृतावस्था (Kinetic Energy) । शक्ति की सुपुप्तावस्था उसकी निष्क्रिय अवस्था का द्योतक है और जागृतावस्था उसकी क्रियात्मक शक्ति का सूचक है । ये दोनों अवस्थाये ईश्वर के उन दो रूपों की ओर सकते करती है जो परम तत्व एवं सृष्टि प्रसार के प्रतिरूप हैं । उपनिषदों में भी आत्मा की ये दोनों दशाये प्राप्त होती हैं पर वहाँ पर इन दोनों के मध्यमें स्वप्तवस्था की स्थिति को माना गया है । वैज्ञानिक चिंतन के अन्तगत इस तीसरी संधिअवस्था को मान्यता नहीं प्राप्त हैं क्योंकि यहाँ पर सुपुप्तावस्था के अन्तर्गत स्वप्न की दशा का विलय हो गया है । (दे० साहित्य विज्ञान ले० गणपति चंद्र गुप्ता)

ईश्वर के इस अवधारणात्मक स्वरूप का एक अन्य विस्तृत संकेत उस समय प्राप्त होता है जब नक्षत्र विद्या से उदधाटित विश्व की रचना एवं स्वरूप पर नये तथ्य समक्ष आते हैं । इस दृष्टि से दिक् और काल तथा प्रसरण शील विश्व (Expanding Universe) की धारणायें ईश्वर के स्वरूप को एक नये आयाम से स्पष्ट करती है । न्यूटन के समय तक और उसके पश्चात् भी दिक् और काल को निरपेक्ष तत्व के रूप में स्वीकार किया गया था, पर बीसवीं शताब्दि के प्रथम चरण और द्वितीय चरण के मध्य में इस धारणा में एक महत्पूर्ण परिवर्तन लक्षित होता हैं । आंइस्टइन के सापेक्षवाद क अन्तर्गत दिक् काल (Space & Time) को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष माना गाया है, पर साथ ही साथ उस अपरिमित भी । इस धारणा में दिक् और काल के सापेक्षिक स्वरुप की स्थापना तो प्राप्त होती है, पर इसके साथ ही उसके प्रति एक रहस्यतात्मक वृत्ति का संकेत प्राप्त होता है । विश्व का विस्तार एवं संकोचन इसी दिक्काल की सीमाओं से आबद्ध है अथवा दूसरे शब्दों में समस्त ब्रह्मांड इसी दिक्काल के आयान में आबद्ध है । दिक् की धारणा में तीन आयाम (लम्बाई चौड़ाई तथा ऊचाई) की परिकल्पना हैं और काल एक आयाम से युक्त माना गया है क्योंकि काल में केवल लबाई या विस्तार ही प्राप्त होता है जब कि दिक् की धारणा में लबाई के अतिरिक्त चौड़ाई तथा ऊँचाई भी होती है । अस्तु. ब्रह्मांड की अवस्थिति, चतुर्आयामिक दिक्–काल (Four Dimensional space Time Continum) की सीमाओं के अदंर ही होती है यह समस्त चतुंआयानिक ब्रह्मांड इसी चतुर्आयाम के अदर फैलता और सिकुडता रहता है । यह विस्तारित होता हुआ विश्य या ब्रह्मांड फैलता है तब उसका यह अतिरिक्त फैलाव किसी न किसी अन्य दिक् की अपेक्षा रखता है । यही अतिरिक्त दिक् काल की भावना एक अनादि सत्य है जो ईश्वर की धारणा का प्रतिरूप माना जाता है । सत्य में दिक् काल ही वह परम सत्य है जिसमें समस्त विश्व अपनी लीलाओं को सम्पन्न करता है । यह परम

सत्य ही ईश्वर का प्रतिरूप है। उपनिषदों की ब्रह्मांड धारणा के मूल में वृह धातु मिलती है जिसका अर्थ है फैलना या विस्तृत होना। अतः ब्रह्म और ब्रह्मांड इसी समय दिक् की धारणा का एक प्रतिकात्मक संकेत है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक चिंतक डा० नालिकर तथा फ्रेड हायल ने यह मान्यता रखी है कि जिसके आगे हम सोचने में असमर्थ रहे कि अब आगे क्या है, इस असमर्थता को ही हम "ईश्वर" की धारणा कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में ईश्वर एक अतार्किक तार्किकता का रूप है जो हमारे अस्तित्व की एक आवश्यक धारणा है। वैज्ञानिक चिंतन के नये आयामों के प्रकाश में ईश्वर की यही धारणा मान्य हो सकती है।

धार्मिक तथा दार्शनिक

आयाम

पौराणिक-प्रवृत्ति का स्वरूप | १

पौराणिक प्रवृत्ति मानवीय विकास की एक स्थिति मानी जा सकती है जब आदि मानवीय अंधविश्वासों से ऊपर उठकर मानव नामधारी प्राणी ने प्रकृति और जगत के प्रति अपने रागात्मक सम्बन्ध को अधिक तार्किक रूप दे सका। युंग तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी पौराणिक प्रवृत्ति का उदय अचेतन मन से होता है जो एक निश्चित मानसिक विकास की दशा में स्वप्न-बिंबों तथा प्रतीकों के रूप में प्रकट होती है। परन्तु यह कहना कि पौराणिक प्रवृत्ति का विकास नितांत स्वाजिल क्रिया पर आश्रित है, सत्य का केवल एक अंश है। स्वप्न जहां अचेतन मन की अव्यवस्थित अभिव्यक्ति है, वहां पुराण प्रवृत्ति मानव-मन की व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति है। पुराण एक प्रकार का इतिहास ही है जिसमे मानव के आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतीकात्मक निरूपण ही होता है। इसी से, पुराण-प्रवृत्ति के द्वारा मन के विचारात्मक पक्ष का उद्घाटन होता है। हमारे यहां पुराणों को एक अत्यन्त व्यापक अर्थ दिया गया है जबकि पाश्चात्य जगत में पुराणों का महत्व सीमित है, वहां उन्हें परियों की गाथाओं तथा अतार्किक कल्पनाओं का क्षेत्र माना है। असल में, पुराण प्रवृत्ति का अर्थ और उसका महत्व इस बात में समाहित है कि वेदों, उपनिषद् तथा ब्राह्मण-ग्रंथों के दार्शनिक विचारों को प्रतीकात्मक कथा के रूप में जन-मानस तक पहुंचाने का कार्य इन्हीं पौराणिक आख्यानों को है। इसी से पौराणिक प्रवृत्ति का महत्व सांस्कृतिक एवं सामाजिक भी माना जा सकता है।

पाश्चात्य चिंतकों ने पुराण-प्रवृत्ति के सामान्यत: कुछ प्रमुख तत्व माने हैं जिनमें एक तत्व काल्पनिक आतार्किकता और परियों की गाथाओं से सम्बन्धित है जिसका प्रत्याख्यान ऊपर किया जा चुका है। दूसरी बात तो अत्यन्त अतार्किक

लगती है, वह है मिथ या पुराण को असत्य का एक रूप मानना क्योंकि वह असत्य को विचित्र भंगिमाओं के साथ बंदी बना देता है। यदि पुराण-कथाओं को हम इस दृष्टि से देखेंगे, जैसा कि पाश्चात्य विचारको ने देखा है, तो भारतीय पौराणिक गाथाओं को उनके सही संदर्भ में देखना दुर्लभ हो जाएगा। पुराण-कथायें किसी न किसी 'सत्य' या विचार का एक प्रतीकात्मक निर्देशन है, इसी दृष्टि से हम पुराण-प्रवृत्ति को रूपात्मक (Allegorical) भी कह सकते हैं। तीसरा तत्व अवश्य पुराण-प्रवृत्ति के सही अर्थ को समझने के लिये सहायक हो सकता है। यह एक आदि मानवीय आदि-विज्ञान का रूप है जो अंततोगत्वा प्राकृतिक घटनाओं को समझने का एक माध्यम था। यहाँ पर एक बात कही जा सकती है कि पौराणिक प्रवृत्ति या कथायें प्राकृतिक घटनाओं या शक्तियों से सम्बन्धित कथायें ही नहीं हैं, पर इसके साथ ही साथ, वे किसी न किसी वैचारिक-पृष्ठभूमि को भी व्यंजित करते हैं। इस पृष्ठभूमि के आधार पर पौराणिक उपाख्यानों के महत्व तथा अर्थ की विवेचना अपेक्षित है क्योंकि पौराणिक-प्रवृत्ति के दिग्दर्शन के लिये इन उपाख्यानों के स्वरूप तथा क्षेत्र को समझना आवश्यक हैं।

पौराणिक आख्यानों का महत्व सांस्कृतिक एवं सामाजिक भी होता है जिसकी जड़ें सभ्यता की परम्पराओं में अत्यन्त गहराई से पैठ जाती हैं। भारतीय तथा विदेशी पुराणों में सृष्टि-कथायें, वीर चरित्र गाथायें, देवासुर संग्राम की गाथायें तथा मनु गाथायें आदि केवल मात्र कल्पना की आतार्किक उड़ानें नहीं हैं, पर इन सब कथाओं के पीछे कोई न कोई दार्शनिक या धार्मिक विचारों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। देवासुर-संग्राम का जिनका संसार के समस्त पुराणों में एकछत्र राज्य है, उनका प्रतीकात्मक अर्थ मानसिक क्षेत्र में चिरन्तन होने वाले सद् एवं असद् (शिव और अशिव या देव और असुर) प्रवृत्तियों का संघर्ष है। यही मानसिक संघर्ष बाह्य सघर्ष का प्रतिरूप हे। ये समस्त कथायें कल्पना पर ही आश्रित हैं। वे एतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि शंकराचार्य ने वेदांत-भाष्य में स्पष्ट कहा है—

"यदि यह संवाद (देवासुर संग्राम, सृष्टि-प्रसंग में) हुआ होता तो संपूर्ण शाखाओं में (अर्थात् सभी उपनिषदों में) एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से नहीं। परन्तु ऐसा सुना ही जाता है इसलिये संवाद-श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में नहीं है।" (देखिये उपनिषद्-भाष्य, गीता प्रेस, खंड २—माण्डूक्योपनिषद् पृ० १४५) यही बात अन्य पौराणिक कथाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार सृष्टि-कथाओं में जहां एक ओर विश्व के विकास

का क्रमिक रूप प्राप्त होता है वहीं पर परमतत्त्व 'ब्रह्म' के एकत्व का विविध रूपों में आभास प्राप्त होता है। पुराणों में जो सृष्टि-उपाख्यान मिलते हैं, उनका मूल स्रोत उपनिषद ही हैं। उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि विषयक वृहद कथाओं का विस्तार हुआ है। इन सृष्टि उपाख्यानों का रहस्य मांडूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है—

मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः सृष्टियो चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवतराय नास्ति भेदः कथंचन ॥

(उपनिषदभाष्य खं० २)

अर्थात् (उपनिषदों में) मृत्तिका, लोह खण्ड और विस्फुलिंगादि दृष्टांतों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है, वह (ब्रह्मैक्य में) बुद्धि का प्रवेश कराने का उपाय है, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है।" इस दृष्टि से भारतीय पुराणों की विभिन्न सृष्टि गाथाओं का ध्येय, उपनिषदों के अनुसार जीव एवं परमात्मा का एकत्व निश्चय करने वाली बुद्धि का निर्माण है।

दूसरा तथ्य जो इन सृष्टि कथाओं से ध्वनित होता है, वह है मिथुन परक सत्य का प्रतिपादन) प्रजापति जो उपनिषदों में अद्वय तत्त्व है, वहीं अपनी ईक्षण (इच्छा) से विभक्त होकर सृष्टि कार्य में संलग्न होता है। यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा और नारायण के प्रतीक हैं। यह जीव शास्त्र का अमर नियम है कि सृष्टि, चाहे वह कैसी भी क्यों न हो, अकेले नहीं हो सकती है, उसके हेतु दो की भावना अत्यन्त आवश्यक है। इस मिथुन रूप के तात्त्विक प्रतीक प्रकृति-पुरुष, मन वाक्, श्री नारायण, शिव शक्ति, ब्रह्मा सरस्वती आदि हैं। छांदोग्योपनिषद् में जो अंडे से सृष्टि-क्रम का विकास वर्णित किया गया है, उसमें भी अपरोक्ष रूप से, मिथुन परक तत्त्व का समावेश प्राप्त होता है। अतः सर्ग अनेकता में एकता की भावना को चरितार्थ करता है। इसी कारण, पुराणों की सृष्टि गाथाओं में आदितत्त्व ब्रह्म एवं नारायण का व्यक्तिकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ये गाथायें केवल स्थावर जंगम, चराचर विश्व तथा पंचमहाभूतों के विकास पर ही प्रकाश नहीं डालती है, वरन् वे मनुष्य के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती हैं।

देवासुर और सृष्टि-उपाख्यानों के अतिरिक्त तीसरा प्रमुख वर्ग है अवतार सम्बन्धी आदर्श पुरुषों की लीलाओं का। इस वर्ग की कथाओं में उपर्युक्त दोनों वर्गों की कथाओं के कुछ तात्त्विक निर्देशों का भी समाहार प्राप्त होता है। इनका

प्रतीकार्थ मानव जीवन सापेक्ष है जो विकास की दृष्टि से भी एक शृंखलाबद्ध क्रम ही कहा जाएगा। हमारे दस अवतार मानवेतर प्राणियों से लेकर मानव नामधारी प्राणी तक के विकास क्रम को एक सूत्र में अनुस्यूत करता हैं जिसका विवेचन रामकथा—एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन नामक अगले निबन्ध के आरम्भ में किया गया है। इन गाथाओं में विष्णु के अवतारों का मानवीय धरातल पर आदर्शीकरण उनकी विभूतियों के साथ दिखाया गया है।

इन प्रमुख वर्गों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की गाथायें भी प्राप्त होती है जिनका संकेतार्थ वेदों, उपनिषदों आदि से माना गया है। ऐसी कथाओं के अन्तर्गत गंगा अवतरण, शिव की कथायें (काम), सूर्य कथायें तथा अनेक भक्तों की गाथायें आती हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इन सभी गाथाओं के अधिकांश नाम वैदिक साहित्य से ही ग्रहण किए गए हैं जिनके अनोन्य व्यापारों के द्वारा कथा वस्तु का निर्माण हुआ है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उपर्युक्त सभी वर्गों की गाथाओं को वैदिक नामों से जोड़ा जा सकता है अथवा सभी आख्यानों का प्रतीकार्थ होना आवश्यक है। यह कोई नियम नहीं है, पर हां, अधिकांश प्रमुख गाथाओं का महत्त्व उनके व्यंग्यार्थ में ही समाहित है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक चेतना के विकास में पौराणिक प्रवृत्ति विशिष्ट से सामान्य की ओर प्रयत्नशील होती है। यही कारण है कि धर्म और पुराण का अन्योन्य सम्बन्ध कार्य कारण का सम्बन्ध है। अतः पुराणों का केन्द्र मानव इच्छा एवं संवेदना का रंग स्थल है।

धार्मिक प्रतीकों का विकास | २

धार्मिक प्रतीकों का उद्गम आदिमानवीय प्रथाओं एवं अंधविश्वासों में यदा-कदा मिल जाता है। परन्तु धार्मिक प्रतीकवाद का आरम्भ उस समय से मानना चाहिए जब आदिम अंधदृष्टि की जगह क्रमशः बुद्धि और तर्क की भावना के उदय के साथ, मानव, प्रकृति के चेतन-रहस्य की ओर अन्वेषणशील होता है।

प्रतीक और विचार—धार्मिक भावना का इतिहास इस बात का द्योतक है कि मानव-मन ने विचारों के द्वारा, अनुभूति और संवेदना के द्वारा "सत्य" तक पहुंचने का प्रयत्न किया है। रिट्ची (Ritchie) का मत है कि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है।[1] यह कथन हमें बरबस इस सत्य की ओर ले जाता है कि धार्मिक प्रतीकों का विकास मन की इसी विचारात्मक प्रवृत्ति का फल है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन प्रतीकों का एकमात्र स्रोत्र विचारशीलता है, उनमें आदिमानवीय अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों का योग ही नहीं है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि धार्मिक प्रतीकों का विकास मानव-मन की वह सबल प्रक्रिया है जहां से वह मानसिक विकास की धारा को एक नवीन मोड़, एक नवीन गति प्रदान करता है जो आगे चलकर अनेक दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक प्रतीकों की एक सबल पृष्ठभूमि तैयार करता है। हर्बर्ट स्पेन्सर एक स्थान पर कहता है कि धार्मिक विचार मानवीय अनुभवों से प्राप्त किये गये हैं जो सदैव परिष्कृत एवं संघटित होते रहते हैं।[2] अतः यह स्पष्ट है कि अनुभव को अर्जित करने में मानसिक क्रिया का विशेष हाथ है, और जहाँ पर भी अनुभव होता है वहां पर स्वतः विचारों

---

1. The Natural History of Mind by Ritchie (1936), Page 278.
2. Herbart Spencer's "The First Principles", Page 15. (1870).

की रूपरेखा स्पष्ट होने लगती है। धार्मिक प्रतीकों का क्षेत्र विचार एवं भावना, अन्धविश्वास एवं रीतियां, अन्वेषण तथा समन्वय की जटिल मानसिक प्रतिक्रियाओं का रंगस्थल है। प्रतीकों का विकास विचारों का क्रमिक संगठन और विकास ही है।

व्यापक क्षेत्र का महत्व—प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक अन्य तथ्य को सामने रखती है। प्रतीकों का आंतरिक अर्थ इस बात पर आधारित होता है कि हम किस सीमा तक व्यक्त एवं सामान्य पदार्थों से वृहद् एवं अव्यक्त पदार्थों की ओर जा सकते हैं। धार्मिक विचारों के बारे में कहा जा सकता है कि वह व्यक्त धरातल से अव्यक्त भूमि की ओर अग्रसर होता है, और यही कारण है कि धार्मिक प्रतीकों का अर्थ केवल बाह्य सत्य पर ही अवलम्बित नहीं है पर उसका "मुख्य" अर्थ बाह्य परिधि से हटकर व्यंजनात्मक "केन्द्र" पर अधिक अवलम्बित होता है। डा० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक "रिकवरी आफ फेथ" में इसी तथ्य की ओर इंगित किया है। उनके अनुसार "सत्य प्रतीक स्वप्न या छाया नहीं है, वह 'अनंत' का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा मानते हैं प्रतीक हमें आत्म-साक्षात्कार' में सहायता देते हैं।[1]

विकास-स्थितियां

(१) **मानवीकरण और आरोप**—प्रतीकीकरण की प्रथम स्थिति का आरम्भ उस समय से होता है जब मानव की आश्चर्यभावना ने तर्क का सहारा लेकर प्राकृतिक शक्तियों को मानवीय आकार प्रदान किया। इस स्थिति में मानव-मन अंधविश्वासों पर विजय प्राप्त कर धार्मिक प्रतीकों की ओर अग्रसर होता है। यह प्रवृत्ति हमें सामान्यतः सभी प्राचीन धर्मों में प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरुप हम रोमन देवता "ज्यूपीटर" (Jupiter) को ले सकते हैं जिसका प्रतीकात्मक विकास एक आश्चर्यजनक तथ्य है। प्राचीन योरप में वृक्ष का बहुत महत्व था क्योंकि उसका प्रयोग अग्नि-उत्पत्ति आदि में होता था। अतः ज्यूपीटर जो मूलतः वर्षा और गर्जन का देवता माना गया। उसकी भावना में "ओकदेवता" का सम्मिश्रण इस बात का द्योतक है कि रोमन और ग्रीक धर्मो में क्रमशः ज्यूपीटर और जियस (Zeus) के प्रतीकार्थ में वृक्षों का कितना महत्व था ?[2] सेमेटिक देवता "रम्मन" (Rammen) और भारतीय देवता "इन्द्र" की भावना में भी वृक्ष के महत्व का योग है। यह तथ्य स्पष्ट

---

1. Radhakrishnan–"The Recovery of Faith", Page 150, (1956).
2. Sir J.G. Frazer....Golden Bough, Pt, I, Vol. II., P. 372–374.

करता है कि प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के अंतराल में अनेक विचारों तथ्यो एवं मान्यताओं का समन्वय होता है, क्योंकि प्रतीकों की दार्शनिक पृष्ठभूमि यह सिद्ध करती है कि एक-एक देवता की धारणा में अनेक 'विचारों' का, शक्तियों का संगुम्फन एक साथ होता है।

(२) **मानवेतर शक्तियों पर विजय**—मानसिक विकास और प्रतीकों के विकास में समानान्तर सम्बन्ध है और प्रतीकों की धारणा में अन्तर्दृष्टि का संयोग इसी मानसिक विकास पर आधारित है। यह प्रवृति हमें संसार के सभी प्राचीन धर्मों में प्राप्त होती है। इस क्रमिक विकास की रूपरेखा पशु-प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में सन्निहित थी, और इसी से अनेक पूर्वीय धर्मों में "मिश्रित देवताओं" (Hybrid deities) की कल्पना की गई। अधिकांश भारतीय और मिश्री देवताओं की अभिव्यक्ति शेर या अन्य जानवर के ऊपर आसीन रूप में दिखाई गई है, जिसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि मानव के अन्दर 'दिव्यता' का अंश 'पशुता' के अंश पर विजय प्राप्त कर, उसे बुद्धि के द्वारा शासित करना चाहता है। यह प्रतीकात्मक अर्थ दुर्गा, गणेश, विष्णु आदि देवताओं में प्राप्त होता है। यह प्रतीकार्थ एक अन्य तथ्य की ओर भी इंगित करता है कि पशु-प्रवृत्तियों को नितांत दमित नहीं किया जा सकता है, पर उन्हें एक उन्नायक दशा में बुद्धि अथवा मन के द्वारा वश में रख जा सकता है।

(३) **आदर्श जगत् की धारणा**—धार्मिक प्रतीकों के व्यापक आंतरिक अर्थ का विकास हमें "आदर्श जगत्" की कल्पना में प्राप्त होता है। इसाई धर्म, हिन्दू और ग्रीक आदि धर्मों में हमें आदर्श जगत् के निर्माण अथवा सृजन की समान प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसाई धर्म में मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना ने एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण कदम उठाया और मानव-मन प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के बाद जीवन का क्या रूप होगा ? इस प्रश्न के फलस्वरूप सभी धर्मों में स्वर्ग की भावना का उदय हुआ। मृत्यु की ही कल्पना इसाई धर्म और प्रतीकवाद की मूल आधारशिला है।[1] अनेक प्राचीन चित्रों में जो कमल, सुमनयुक्त उपवन आदि के चित्र मिलते है वे इसी स्वर्ग की भावना के प्रतीकरूप हैं। अच्छा चरवाहा (Good shepherd) मृतकों का पालन कर्त्ता एवं संरक्षक है। सुरा स्वर्ग-भोज की परम प्रतीक है। ईसामसीह की धारणा में भी अनंत जीवन की भावना समाहित है। जो मानवता का सबसे महान् शुभचिंतक

---

1. Encyclopaedia of Ethics and Religion, Vol. XII—Christian Symbolism, (1921).

है। इसी प्रकार हिंदू धर्म में स्वर्ग की कल्पना अत्यंत उत्कृष्ट है। वह देवताओं का निवास स्थल है जहाँ अमरत्व की वर्षा होती है। समेटिक (हिब्रू, मिश्री, असीरिया आदि) धर्मों में भी स्वर्ग की कल्पना "परमातीत" रूप में की गई है जहाँ देवताओं का निवास रहता है।

आदर्श की ओर उन्मुख मानव'मन ने दो ऐसे महत्वपूर्ण प्रतीकों को जन्म दिया जिसने समस्त योरप को प्रभावित किया। वे प्रतीक हैं, क्रास और क्राइस्ट के यहाँ पर यह समझना गलत होगा कि इनका महत्व केवल प्रतीकात्मक है, पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इनका प्रतीकार्थ एक अविच्छिन्न अंग है जिसके बिना 'क्रास' और 'क्राइस्ट' अधूरे रह जायेंगे।

क्रास और क्राइस्ट (ईसा) का अन्योन्य सम्बन्ध माना जाता है क्योंकि भगवान् ईसा के नाम से क्रास का संबंध अति निकटता का रहा है। जैसा कि प्रथम कहा गया कि क्राइस्ट अनंत जीवन का द्योतक है। इस स्थिति पर "त्रिमूर्ति" की धारणा का विकास नहीं होता है, परन्तु इसका विकास धार्मिक प्रतीकवाद का एक अत्यंत उच्च बिंदु है जिसका संकेत आगे किया जायगा। क्राइस्ट का मानवीय रूप 'स्वर्ग' और "धरती" का संधिकारक तथ्य है।[1] जहाँ तक क्राइस्टके प्रतीकार्थ का प्रश्न है, उसकी तुलना ईश्वरीय रूप कृष्ण और राम से की जा सकती है क्योंकि दोनों "दिव्यता" और 'अनंतजीवन' के प्रतीक हैं। कृष्ण का बाल-रूप ईसा और माता मेरी के 'परम-बाल-रूप' से भी मेल खाता है। इन दोनों के 'बाल-चित्रों' को किस सीमा तक ऐतिहासिक कहा जा सकता है, इस पर मतभेद हो सकता है, परन्तु इतना तो स्वयंसाक्ष है कि ये चित्र प्रतीकात्मक कला के परम द्योतक हैं। क्राइस्ट की आदिम भावना 'परम चरवाहे' के रूप में की गई थी, जो हमें बरबस कृष्ण के व्यक्तित्व की याद दिलाती है। मेरा अभिप्राय यह दिखलाने का नहीं है कि कृष्ण अथवा क्राइस्ट की भावना एक से या दूसरे से ली गई है, मेरा केवल मात्र तात्पर्य दोनों के प्रतीकार्थ की समानता पर ही केंद्रित है।

सबसे प्रथम 'क्रास' का प्रयोग, ३१२ ई० पू० में कांस्टेन्टीन (Canstantine) ने मैक्सयूस्स (Maxeutius) के विरुद्ध, युद्ध के अवसर पर किया था जब उसने अपने सैनिकों के कवचों पर क्रास को रखा था। जान गैम्बेल के अनुसार क्रास का आदिम रूप मृत्यु का द्योतक नहीं था, वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक था।[2] इससे स्पष्ट होता है कि क्रास का आदितम रूप अत्यंत अस्पष्ट रहा और

---

1. Rodhakrishnan—"East and West", (1956)
2. Encyclopaedia of Ethics and Religion, Vol. VII, (1921).

शताब्दियों बाद उसे 'ऐश्वर्ययुक्त' देखा गया । दूसरे शब्दों में क्रास की भावना में दुःखात्मक निराशयता का आरोप अनेक शताब्दियों के बाद सम्भव हो सका ।

क्रास के व्यापक अर्थ का प्रारम्भ उस समय से होता है जब उसे जीवन-वृक्ष के रूप में देखा गया ।[1] क्रास के प्रतीकार्थ में इसके बाद उर्वरा और वर्षा की भावना का भी योग हुआ । यह भावना हमें आदिवासी रेड इण्डियन की अनेक अंधप्रथाओं में भी मिलती है । क्रास का चिह्न उस ऊर्ध्वगामी स्थिति का द्योतक है जहाँ पर सब पापों का नाश हो जाता है ।

(४) **अंतर्दृष्टि और प्रतीक**—इसके अंतर्गत हम उन प्रतीकों को ले सकते हैं जो अंतर्दृष्टि भावना और विचार से शासित होकर उच्चतम "सत्य" की अभिव्यक्ति करते हैं । यह स्थिति धार्मिक प्रतीकों की उच्चतम परिणति है । इन प्रतीकों का विकास मानव-कल्पना एवं बुद्धि का परम सूचक है जहाँ मानवीय धारणा स्वतः सत्य एवं रहस्य की खोज के लिए प्रयत्नशील होती है । ऐसे कुछ प्रतीक है—ओउम्, त्रिमूर्ति (Trinity) जीहोवा (Jehoveh Hebrew), ब्रह्म (ग्रीक प्रोमीथियस) और असुर (सेमेटिक) ।

ओउम् हिंदू मनीषा की उच्चतम अभिव्यक्ति ओउम् के रूप में प्राप्त होती है इसके उच्चारण में 'ब्रह्म' का ध्वनिविषयक प्रतीकार्थ है । ध्वनि समस्त विश्व में व्याप्त है, जो आधुनिक वैज्ञानिक ध्वनि-विज्ञान की सबल मान्यता है । इसी से हिन्दू विचारधारा में 'शब्द' को ब्रह्म का पर्याय माना गया है । वाणी के विकास में शब्द का उच्चारण ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है । इसी विचार की प्रतिध्वनि हमें 'ओउम्' की धारणा में प्राप्त होती है । हिंदू धर्म में 'शब्द' को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है, अतः ओउम् के अर्थ में परम तत्व, जो एक और अनादि है, की धारणा भी सन्निहित हो जाती है । हिब्रू धर्म में 'जीहोवा' की धारणा में 'कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्राप्त होती है ।

ओउम् के प्रतिकार्थ में अंतर्दृष्टि का भी एक उज्जवल रूप प्राप्त होता है । 'ओउम्' में त्रिमूर्ति की कल्पना का समावेश है । अतः 'ओउम्' उस परम तत्व का प्रतिरूप है । जो समस्त चराचर विश्व में अंतर्हित हैं । ओउम् ब्रह्म का सबसे उच्चतम् विकसित रूप है[2] ।

1—Psychology of the uncanscions by Jung, Page 163 (1918)

2 – Encyclopaedia of Ethics and Religion Vcl. VII, (1921)

त्रिमूर्ति—त्रिमूर्ति की धारणा मानसिक विकास की सबसे उच्चतम् परिणिति है, जिसमें प्रकृति और विश्व का सत्य समाहित है। इसाई, ग्रीक धर्म में त्रिमूर्ति का रूप उतना स्पष्ट हैं जितना कि हिन्दू-धर्म में।

प्रकृति में व्यापत तीन शक्तियाँ—सृजनात्मक, संरक्षणात्मक और विध्वंसात्मक—अपना अलग-अलग महत्व रखतीं हैं, पर एक दूसरे पर समान अवलम्बित रहती हैं। प्रत्येक धर्म में इन तीन प्रकृत शक्तियों को प्रतीक का रूप दिया गया है। अस्तु, हिंदू और ग्रीक धर्म में सृजनात्मक शक्तियों का मानवीकरण क्रमशः ब्रह्मा और ज्यूपीटर के रूप में, संरक्षणात्मक शक्तियों का मानवीकरण क्रमशः विष्णु और नेपटट्यूम (Neptune) में और संहारात्मक शक्तियों का क्रमशः शिव एवं प्लूटो (Pluto) के रूप में किया गया। मानव-मन के विकास की उच्चतम स्थिति उस समय प्राप्त् होती है जब मानव प्रकृति की इन तीन शक्तियों को कार्यकारण की श्रृंखला में बाँधकर एक "आदि सत्य" को व्यक्त रुप प्रदान करता है जो त्रिमूर्ति की संघटित प्रक्रिया में समरसता में साकार हो उठता है। टयूबस के कथनानुसार कि इन तीन शक्तियों या देवताओं की एक व्यक्ति या इकाइ में संगठित प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस बात की द्योतक है कि प्रकृति के तीन तत्व, पृथ्वी (यथा ब्रह्मा या ज्यूपीटर), जल (यथा विष्णु नेपटयून) और अग्नि (शिव या प्लूटो), जो आदिमानव की आश्चर्य भावनाओं या अंधविश्वासों के माध्यम थे, उनका उन्नायक एवं पौराणिक रूप त्रिमूर्ति की धारणा में साकार प्रतीत होता है।[1] दूसरे शब्दों में इन तीन देवताओं का क्रमशः सम्बन्ध तीन प्रधान गुणों सत्व, रजस् और तमस् से भी सीधा जोड़ा जा सकता है। त्रिमूर्ति की कल्पना मानव-मन की समन्वयात्मक शक्ति की परिचायिका है जो रूपात्मक जगत् की पृष्ठभूमि में "अव्यक्त शक्ति की ओर इंगित करती है।

असुर—समेटिक धर्म में असुर देवता का प्रतीकात्मक अर्थ एक प्राकृतिक अंतर्दृष्टि का द्योतक है। इस देवता की धारणा में दो तथ्यों का योग हुआ है। विश्व विभिन्न शक्तियों से शासित है जो कि एक नियम या पूर्व-स्थापित सामरस्य (Pre-established harmony) के आधार पर कार्य करती है। ग्रीक धर्म में प्रोमीथियस और हिंदू धर्म में ब्रह्मा की धारणाओं में इसी तथ्य का पुट ज्ञात होता है। दूसरा तथ्य जो इस देवता में सन्निहित है, वह हैं अव्यक्त सिद्धांत जो समस्त विश्व को संतुलित

---

१. Hindu Manners, Customs and Ceremonies by Abbe, J. A. pt. Dubois Pt. III. page 544-45 (1906).

किए हुए हैं। इस तथ्य का मानवीकरण, समेटिक धर्म में एक अन्य देवता एनु (Anu) की भावना में होता है। इन दो तथ्यों के संम्मिश्रण के असुर देवता का प्रतीकात्मक रूप मुखरित हो सका।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम धार्मिक प्रतीको का विकास अथवा उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि "व्यक्त" पर ही केवल आधारित नहीं है वरन् उनका प्रतीकार्थ "अव्यक्त" के व्यंजनात्मक अर्थ पर अधिक केन्द्रित होता हैं। दूसरे, ये प्रतीक शुद्ध विचारात्मक प्रवृति के द्योतक हैं जैसा कि प्रथम ही संकेत किया गया। धार्मिक प्रतीकों के विकास में तांत्रिक आचारों (Magical rites) का योग अवश्य है पर बहुत नहीं; तथ्य रूप में पौराणिक रीतियों (Myths) का हाथ अधिक है। यह "तंत्र" से "पुराण" तक की यात्रा मानव-मन की सबसे महत्वपूर्ण विचारात्मक प्रवृति है जिसने धार्मिक अंतर्दृष्टि की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। अतः धार्मिक प्रतीक प्रकृति और जीवन, विश्व और मानव अथवा आदर्श एवं यथार्थ से समन्वित आन्तरिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं।

रामकथा— एक विश्लेषणात्मक अनुशीलन | ३

रामकथा ही नहीं, पर अधिकांश पौराणिक गाथाओं का सांस्कृतिक महत्व होने के साथ ही साथ, उनका एक प्रतीकात्मक अर्थ है जो धर्म तथा दर्शन का क्षेत्र है। रामकथा का जहाँ तक प्रश्न है, उसके अनुशीलन में विकासवादी एवं आध्यात्मिक मनोविज्ञान परक दृष्टिकोण भी उसके अर्थ को समझने के लिये एक नवीन आयाम हो सकता है जिसका दिग्दर्शन इस लेख का विषय है। इस दृष्टि से, रामकथा के अर्थ को समझने से पूर्व अवतार भावना के अर्थ को समझना आवश्यक है।

अवतार भावना का क्रमिक विकास ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक प्राप्त होता है ऋग्वेद के अवतार की भावना अत्यन्त अस्पष्ट है, क्यों कि वहां पर प्रकृति शक्तियों के प्रति एक जिज्ञासा एवं रहस्य भावना के दर्शन होते है मानवीकरण की प्रवृत्ति ही अवतार भावना का आदितम मूल हैं। परन्तु इस मानवीकरण में और अवतार में एक स्पष्ट अन्तर है। अवतार में तात्विक अर्थ के साथ किसी शब्द विशेष का प्रसार मानवी धरातल पर होता है यह यर्थाथ की कसौटी पर आश्रित होता है दूसरी ओर मानवीकरण में यह तत्व बहुत क्षीण रुप में प्राप्त होता है इस दृष्टि से अवतार का रहस्य मानवीय जीवनमें दिव्यात्मा का प्रसार है एक प्रकार से दिव्य चेतना का धरती पर अवरोहण हैं। इसी तथ्य की सुन्दर अभिव्यंजना गीता में इस प्रकार प्राप्त होती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानीमीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकति स्वामधिष्ठाय संभावाम्यात्ममायया ।।

(गीता, ज्ञानयोगश्लोक ६ पृ० ४१)

अर्थात यद्यपि मैं अज और अपरिवर्तन शील हूँ और यद्यपि से समस्त भूतों का ईश्वर हूँ फिर मै अपनी प्रकृति शक्ति के साथ और आत्मप्रकाश्य शक्ति के साथ अवतीर्ण होता हूँ स्पष्ठ रुप से यही दिव्यात्मा का अवरोहण है जिसकी ओर गीता संकेत करती है।

इस दृष्टि से अवतार का तात्विक अर्थ वेदों की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सामान्य मानवीय धरातल पर दिग्दर्शन कराना है। इसी से यह कहना नितान्त तार्किक होगा कि पुराण साहित्य में अवतारों के बहाने वेदों का रहस्य ही खोला है (उपनिषद चिन्तन, द्वारा देवदत्त शास्त्री पृष्ठ ५३) महर्षि अरविन्द ने एक परम चेतना का विकास ही द्रव्य से आत्मा तक माना है जिसे उन्होंने चेतन शक्ति की संज्ञा प्रदान की है यही चेतना शक्ति मानासिक चेतना से उच्च स्थिति में उस समय हो जाती है जब वह अति चेतना की दशा में पहुंचती है। (डिवाईन लाईफ भाग प्रथम द्वारा श्री अरविन्द्र पृस्ठ १०३ १०४) अवतार में भी चेतना शक्ति का अवरोहणात्मक विकास ही अवतार है जो उर्ध्व तथा निम्नस्तरों को एक सूत्र में अनुस्यूत करता है

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तात्विक दृष्टि से अवतार अक्षर पुरुष विस्तारही है क्षर पुरुष की अवतारणा विविध रूपों में होती है और अक्षर पुरुष उसमें व्याप्त रहते हुए भी अलग रहता है अक्षर पुरुष की ५ कलाएँ मानी है – ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, और सोम ।इन कलाओं का विकास ही वह क्षर रुप में करता है जिसमें रस की धारा अर्न्तवर्याप्त है (कल्याण सितम्बर १९३१) संख्या २ पृष्ठ ५२४ ५२५) आधुनिक वैज्ञानिक दर्शन के प्रकाश में भी विकाश परम्परा (Evolution) का क्रमिक रुप चेतना तथा भौतिक संगठन का अन्योन्याश्रित मानवीय विकास की रुप रेखा ही स्पष्ट करती है (पुरानाज इनलाईट आफ मार्डन सांइस द्वारा के० एन० एत्यर पृ० २०९)

आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त मानव का उदय अनायास नहीं मानता है वरन उसका क्रमिक विकास मानता हैं। यह विकास की एकसूत्रता हमारे दस अवतारों में स्पष्ट रुप से प्रतीत होती है प्रथम अवतार 'मत्स्य' हैं जो नितान्त जल में रहने वाला जीव है। इसके बाद दूसरा कूर्म हैं जो अंशतः जल में और अंशत पृथ्वी पर रह सकने मेंसमर्थ हैं। इस कूर्म को दशा पर विकास का एक कदम आगे बढ़ा प्राप्त होता है जो वैज्ञानिक शब्दावली में 'Amphibian' की दशा कही जा सकती हैं 'वाराह' अवतार तक आते आते स्तनधारी जीवों (Mammals) का प्रादुर्भाव होता हैं जो धरती पर ही रहते हैं। चौथे अवतार में नरसिंह का नाम आता हैं, जो एक ओर नर की और दूसरी ओर सिंह' की मिश्रित अभिव्यक्ति हैं, जो यह तथ्य प्रकट करती हैं कि मनुष्य में पशु का अंश अब भी वर्तमान हैं जिसका उन्नयन होना अपेक्षित हैं इसकी पूर्ति 'वामन' अवतार में आकर होती हैं जिसमें स्पष्ट रुप से मनुष्यत्व का संकेत प्राप्त होता हैं। इस पर भी मानव में जो रक्तपिपासा की पशु वृत्ति जागृत होती हैं, उसी का मानवी

करण 'परशुराम' है। सातवाँ 'रामावतार' हैं जो परशुराम की प्रवृत्ति का दमन करते हैं और मानव चेतना के ऊर्ध्वगामी आरोहण के सबल प्रतीक के रुप में पुरुषोत्तम' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, विष्णु के कृष्णावतार में चतुर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होता हैं जिसमें 'बुद्धिमानस' का सुन्दर विस्तार प्राप्त होता है। रामावतार में 'मनस्तत्व' का मोहक रुप प्राप्त होता है। नवाँ अवतार 'बुद्ध' का है जो प्रत्येक वस्तु को अनुभूति तथा बुद्धि की तुला पर तोलता है। इस अवतार में आकर मानव के भावी विकास का संकेत भी मिलता है। जो 'कल्कि' अवतार में अपनी परणति में प्राप्त होता हैं। ये अन्तिम दो अवतार भविष्य विकास की ओर संकेत करते है। जिसमें मानव के आध्यात्मिक आरोहण का रहस्य छिपा हुआ हैं। अतिमानव (Superman) के दिव्य स्वरुप का दिग्दर्शन कराते हैं जिसमें चेतन शक्ति मानसिक स्तर से ऊर्ध्व स्तरों की ओर आरोहण करती है। (द लाइफ डिवाइन द्वारा महर्षि अरविंद पृ० १०४ भाग १) यह तथ्य स्पष्ट करता हैं कि मानसिक चेतना केवल एक मध्यम स्थिति की द्योतिका हैं जिसके ऊपर चेतना शक्ति ऊर्ध्वमन और अतिचेतन मन स्तरों का स्पर्श करती है और दूसरी ओर अपने नीचे के भौतिक स्तरों उपचेतन तथा अचेतन (सबकांशस एण्ड अनकांशस) को भी अपने संस्पर्श से आलोकित कर देती हैं। सत्य में ये सब विभिन्न स्तर एक चेतना शक्ति के विविध रुप हैं। यही कारण हैं कि भक्त कवियों ने विष्णु के अवतारों को धर्म के ह्रास होने पर अंशों सहित अवतरित होने की जो बात कही है वह तात्विक दृष्टि से मानवीय चेतना के अति निम्न स्तरों के उर्ध्वीकरण की ओर ही संकेत कहा जा सकता हैं।

अवतारों के वैज्ञानिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि अवतार मानवीय विकास के क्रमिक सोपान हैं और अंतिम चार अवतार (राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि) मूलत: मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी आरोहण हैं। स्वयं महर्षि अरविंद और ड्यूनू ने इसी मानवीय चेतना के विकास को मानवीय भावी भाग्य का आधारबिंदु माना हैं। जिससे होकर ही मानव उच्चतम अभियानों का दिग्दर्शन कर सकता हैं।[1] इसी चेतना का विकास 'राम-चरित्र' का मूलाधार हैं जिसके द्वारा संसार एवं मानव हृदय का अंधकार, मोह एवं वासनाओं का

१. ड्यूनू की पुस्तक 'ह्यूमन डेस्टनी' में मानवीय चेतना के विकास का वैज्ञानिक रूप प्राप्त होता है जो धर्म, दर्शन और कला के क्षेत्रों से भी सम्बन्धित माना गया है। यही दृष्टिकोण प्रो० वाइटहेड ने अपनी पुस्तक 'साइंस एंड द माडर्न वर्ल्ड' में भी ग्रहण किया है।

उन्नयन होता है। स्वयं महाकवि तुलसी ने राम-चरित्र में इसी भाव का भक्ति पूर्ण समन्वय किया है। उनके राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं जो इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि मानवीय विकास की दृष्टि से ही वह पुरुषों में उत्तम हैं। 'राम' मानवीय 'चेतन आत्मा' के वह प्रकाश-पुंज हैं जो मानवीय भावी विकास की ओर संकेत करते हैं।

अवतारों के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि आदितत्व 'नारायण' या 'हरि' प्रारम्भ में 'एक-यौन' (Homo-sexual) थे। पृथ्वी पर अत्याचार एवं देवों की निराशा को समाप्त करने के लिये उन्होंने अंशों सहित अवतार लिया। इसीलिए 'एक यौन' की परिधि का त्याग कर उन्होंने दो-यौन (Bi-Sexual) की अवतारणा की। अत: उन्हें नारायण और श्री, विष्णु और लक्ष्मी में विभक्त होना पड़ा। तुलसी ने रामावतार के मूल में इस विकासवादी मिथुन-परक-सिद्धान्त को तात्विक रूप देने का सफल प्रयत्न किया है उनके राम और सीता (विष्णु और लक्ष्मी) अव्यक्त और व्यक्त, निषेधात्मक एवं निश्चयात्मक तत्व ही है जो अपने अन्योन्य कर्मो से विश्व में स्पंदन एवं सृष्टितत्व का विकास करते हैं। इन्हीं के कार्यकलापों का सुंदर विकास और उनकी कलाओं का अभिव्यक्तीकरण ही रामायण का रंग-स्थल हैं। इसी दृष्टि से सीता राम की परमवल्लभा हैं और वह उसके प्रिय—

'सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्'

(मानस, बालकाण्ड पृ० २६)

इसे ही 'अगुन अरुप' से 'सगुन' में अभिव्यक्ति होना कहा गया है—

अगुन अरुप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

(मानस, बालकण्ड, पृ० १३३)

अत: परमतत्व दिव्य भी है और मानवीय भी-यही उसकी महानता है। अंग्रेजी कवि टेनीसन की ये पंक्तियाँ इसी तथ्य की प्रतिध्वनि हैं, जब वह कहता है—

'तुम' 'मानव' और 'दिव्य' प्रतीत होते हो, 'तुम' उच्चतम, पवित्रतम व्यक्तित्व हो। हमारी इच्छाएँ हमारी हैं, पर कैसे, यह हम नहीं जानते, हमारी इच्छाएँ हमारी हैं केवल इसलिये कि वे 'तुम्हारी' हो जाय।[1]

---

१. इन मेंमोरियम द्वारा एल्फर्ड लार्ड टेनीसन, पृ० ५
Thou seemest human and divine.
The highest, holiest manhood, thou.
Our wills are ours, we know not how.
Our wills are ours, to make them thine.

इस विश्लेषण में मैंने जो जीव विज्ञान (Biology) का सहारा लिया है, वह रामकथा के दिव्य रूप के अर्थ को 'हेय' नहीं बना देता हैं. पर सत्य में, 'वह' सृष्टि-सत्य के मूल रहस्य को ही समक्ष रखता है। विकास-वाद की दृष्टि से देखने पर भी हम इसे अमान्य नहीं मान सकते हैं। राम कथा को इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विकास 'स्थिति' में समस्त पदार्थों एवं वस्तुओं का द्विविध रूप हो जाता है। रामावतार में पृथ्वी केवल एक भौतिक तत्व ही नहीं रह जाती है, पर उस पर एक देव या 'मनश्चेतना' का आधिपत्य होने लगता है।[1] राम और सीता के सभी कार्य इसी मनश्चेतना के पूरक अंग हैं।

जिस समय रामावतार हुआ था, उस समय उत्तराखंड में आर्यजाति निवास करती थी जो सात्विक तत्व या गुणों की प्रतीक थी। लंका उस समय असुरों एवं राक्षसों का निवास स्थल थी जो तामसिक गुणों के प्रतीक थे। मानसिक चेतना के धरातल पर ये दोनों देश, भारत (कोशल) तथा लंका मन के दो स्तरों-सात्विक एवं तामसिक-के प्रतिरूप है जिनका संघर्ष बाह्य रूप भी धारण करता है। ये ही वृत्तियाँ देवों, असुरों (सत्व एवं तम) के रूप में पुराणों में अवतरित हुई। गीता में भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक गुणों का विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ पर सत्व गुणों का प्रादुर्भाव उस समय कहा गया है जब समस्त इंद्रियों से ज्ञान-प्रकाश का आलोक उत्पन्न होता हैं (श्री मद्भगवद्गीता, गुणत्रय विभाग योग, पृ० ४७४ श्लोक ११) और तमो गुण का आधिक्य अज्ञान, अप्रवृत्ति, प्रमाद एवं मोह के द्वारा प्रादुर्भूत कहा गया है। (वही पृ० ४७६ श्लोक १३) 'रामचरितमानस' नाम भी इसी ओर अपरोक्ष रूप अपने से संकेत करता है। 'मानस' का प्रतीकार्थ यही है कि उसके अन्दर रमने वाला व्यक्ति 'मन' ही 'सत्य' मे का साक्षात्कार करता है-सात्विक गुणों की अनुभूति करता हैं और अपनी बुद्धि को विमल कर लेता है—

अस मानस मानस चख चाही ।
भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही ॥

(मानस बालकाण्ड पृ० ७६)

---

१. सुमित्रानंदन पंत ने 'स्वर्णकिरण' की एक सुन्दर कविता 'अशोक' ने में सीता को पृथ्वी की चेतना का प्रतीक मानकर 'राम' को उस बंदी चेतना के स्वतंत्र कर्त्ता के रूप में चित्रित किया है, दे० पृ० १५२।

मानस का रहस्य इसी 'मानस-तत्व' पर आधारित हैं। यही रहस्योंद्घाटन तत्वतः सभी पुराण कक्षाओं का ध्येय हैं। इस प्रकार पुराण-गाथाएँ रहस्यवाद की सर्वोत्कृष्ट भाषा हैं, यही सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य जाति मानव सामान्य के आत्मिक रहस्य को व्यक्त करती हैं।

(कामायनी-दर्शन, द्वारा डा० फतेसिंह, पृ० ४०१)

अस्तु राम का रूप 'चेतन अत्मा युक्त सतगुणों' का प्रतीक है। दूसरी और जितने भी उनके (राम) अंश हैं वे अधिकतर सतोगुण के अन्दर आते हैं। इस दृष्टि से अयोध्या से सम्बन्धित जितने भी पात्र हैं (दशरथ वंश), वे या तो उर्ध्व चेतना के या अपेक्षाकृत निम्न-चेतना के द्योतक हैं। दशरथ शब्द दो शब्दों की संधि हैं—एक 'दश' और दूसरा 'रथ' अर्थात जिसके दस अंग (रथ) हो। ये दस अंग प्रप्यक्ष रुप से दस इंद्रियाँ हैं जो निम्न चेतना (तमोगुण से नहीं अर्थ हैं) का एक विकसित रुप हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दशरथ दस इंद्रियों के संघात रुप भौतिक शरीर के शासक हैं जिनके अत्मा रुप में 'राम' तथा अन्य पुत्रों का जन्म हुआ। परन्तु राम का जन्म कौशल्या या सौभाग्य (Prosperiiy) से हुआ। आत्मा का जन्म किसी व्यक्ति में सौभाग्म से ही होता हैं। कठोपनिषद् में भी शरीर को 'रथ' कहा गया है, आत्मा को रथी और बुद्धि तथा मन को सारथि और लगाव कहा गया हैं यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठोपनिद्, अध्याय १, बल्ली ३। पृ० ८५ श्लोक ३ (३ प० मा० खंड १)
अतः शरीर आत्मा और सौभाग्द इन तीनों का अन्योन्य सम्बन्ध हैं। जब आत्मा (राम) ही शरीर (दशरथ) को छोड़ देगी तब शरीर निर्जीव होकर मृत्यु का भागी हो जाता है। इस तथ्य का सुन्दर स्वरुप राम का वनवास औरु तथाकथित दशरथ की मृत्यु हैं। स्वयं तुलसी ने दशरथ की मृत्यु को 'प्रानप्रिय राम' के वनगमन के समय चित्रित किया है राम को दशरथ का 'प्रानप्रिय'—नृपति प्रानप्रिय तुम्ह रघुवीरा (मानस, अयोध्या काण्ड पृ० ३६०) सत्य में प्राणों (इंद्रियों) का परम प्रिय यह आत्मा ही हैं जिसके द्वारा प्राणों को जीवन प्राप्त होता हैं। प्राणों को इंद्रिय कहा गया है, परन्तु 'सौभाग्य' (कौशल्या) तब भी अपने प्रारब्ध का भरोसा किये हुए चौदह वर्ष तक 'राम' की प्रतीक्षा किया करता है।

दशरथ की अन्य दो रानियाँ कैकेयी और सुमित्रा थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कैकेयी के 'कथ' का अर्थ 'निम्न चेतना' से ग्रहण होता है जिससे मन अथवा उच्च बुद्धि (भरत) का जन्म हुआ हैं। इस प्रकार सुमित्रा का अर्थ जो सबका सुमित्र हो से ग्रहण होता है। जिससे लक्ष्मण, जो शेषावतार (सर्प) माने जाते हैं, का जन्म होता है। शत्रुघ्न (शंख) के प्रतिरूप हैं जो आकाश का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार, इस तालिका में चक्र, सर्प और शंख को क्रमशः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का रूप कहा गया है। इस तात्विक अर्थ को स्पष्ट करने के हेतु 'नारायण' के तीन पदार्थों की ओर ध्यान जाता है। नारायण में त्रिमूर्ति की धारणा सर्प, चक्र और शंख की सम्मिलित अभिव्यक्ति है (पुरानाज़ इन द लाइट आफ़ माडर्न साइंस, अय्यर, पृ० १७१) यहाँ पर सर्प 'समय' का द्योतक है जो या तो अव्यक्त है अथवा व्यक्त। लक्ष्मण शेषावतार होने से प्रत्यक्षतः समय (काल) के प्रतीक रूप हैं। चक्र चिद् अथवा मन का प्रतीक है जो अपनी क्रियात्मक शक्ति से इतर प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करता है। यही कारण है कि पौराणिक गाथाओं में विष्णु के चक्र के द्वारा इतर प्राणियों का ध्वंस होता हुआ दिखाया गया है। भरत का चरित्र भी इसी तथ्य का प्रतिरूप हैं जो उच्च मन का प्रतीक माना गया है। इस पर हम यथास्थान विचार करेंगे। शंख से ध्वनि का प्रादुर्भाव होता है जो महभूत आकाश तत्व का प्रतीक है। इसकी अभिव्यक्ति राम कथा में शत्रुघ्न के द्वारा होती है। वैज्ञानिक दर्शन वेत्ता प्रो० आइंस्टीन ने समय और आकाश को अनंत न मान कर ससीम माना है और साथ ही दोनों को अपरिमित भी कहा है। दूसरी ओर न्यूटन ने समय तथा आकाश को अनंत माना था, युगो से मान्य इस धारणा को आइंस्टीन ने अमूल परिवर्तन कर दिया, और इस प्रकार उनका सापेक्षिक महत्व प्रदर्शित कर दर्शनिक क्षेत्र में एक क्रांति का बीजारोपण किया। भारतीय पुराण शास्त्र में आकाश और समय की अपरिमेयता का समष्टि रूप नारायण या हरि है और उनकी सीमाबद्धता का व्यक्त रूप किसी माध्यम के द्वारा (भरत व शत्रुघ्न) अभिव्यक्ति को प्राप्त होता हैं। शत्रुघ्न महाभूत आकाश का प्रतीक है। इस आकाश तत्व को उपनिषदों में परमतत्त्व 'ब्रह्म' या आकाश संज्ञक 'ब्रह्म' भी कहा गया है जिससे इस चराचर संसार की सृष्टि हुई है अतः तार्किक दृष्टि से आकाश तत्त्व पदार्थ का प्रतीक माना गया है जो प्रत्यक्ष रूप से शत्रुघ्न से सम्बन्धित है, अतः शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक हैं। इस दृष्टि से परमात्मा (परमतत्त्व हरि) का अवतार इस पृथ्वी पर इनके तीन प्रमुख अंगों—समय, मन और आकाशीय पदार्थ के सहित हुआ है। राम

की अभिन्न अंश सीता है जो श्री लक्ष्मी की अवतार मानी गई हैं। सीता को पृथ्वी की पुत्री भी कहा गया है। इन दोनों तत्त्वों का समाहार राम कथा की सीता में प्राप्त होता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो सीता आत्मा की एक ज्योति किरण है जो स्वयं 'आत्मा' से ही उद्भूत हुई है। 'सीता' शब्द के 'सि' का अर्थ रेखा का बनना या झुरियों (Furrows) का पड़ना है। जब आत्मा की प्रकाश किरण 'सीता' आकाश तरंगों या पृथ्वी की रेखाओं (झुरियों) से उद्भूत हुई, तब अन्त में उस 'किरण' का पर्यवसान अग्नि में होता है। और फिर 'वह' शुद्ध रूप में निखर उठती है। यह अग्नि का रूप स्वयं आत्मा की अद्भूत शक्ति है। यदि यहां पर हम रामायण की कथा से इसकी तुलना करें तो सीता का पृथ्वी से उत्पन्न होना, अग्नि में प्रवेश करना और फिर अपने शुद्ध रूप में निखर आना—इन सब उटनाओं का एक आध्यात्मिक समाधान प्राप्त होता है। सीता हरण के पहले राम ने सीता से कहा था कि अब 'मैं' अपनी लीला का विस्तार करूँगा, अतः तुम कृत्रिम सीता का रूप धारण कर लो। अग्नि-प्रवेश का प्रसंग यह तथ्य प्रकट करता है कि सीता का यह कृत्रिम रूप अग्नि की पवित्रदायनी शक्ति से पुनः सत्य रूप में प्रकट हो जाता है। यही कारण हैं कि आत्मा की प्रकाश किरण 'सीता' अग्नि की शिखाओं को देख कर भयभीत नहीं होती है वरन् उसे देख कर कह उठती हैं—

> पावक प्रबल देखि बैदेही।
> हृदय हरष नहिं भय कछु तेही ।।
> जौ मन बच क्रम मम उर माहीं।
> तजि रघुवीर आन गति नाहीं ।।
> तो कृसानु सब कै गति जाना।
> मोकहुं होउ श्रीखंड समाना ।।

(मानस, लंकाकाण्ड, पृ० ८४९)

सीता की यह अन्तर्भावना क्या आत्मा के प्रति उसकी प्रकाश-किरण के एकनिष्ठ प्रेम की प्रतीक नहीं हैं? मेरे मतानुसार यहां पर आध्यात्मिक एवं ऐतिहासिक सत्य—दोनों का समान निर्वाह दृष्टिगत होता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि रावण सीता को लंका क्यों ले गया? जैसा कि प्रथम ही संकेत किया गया कि लंका निम्नतम तामसिक गुणों की प्रतीक है जिसका अधिनायक असुर 'रावण' है। सीता हरण का रहस्य यही हैं कि आत्मा की प्रकाश

किरण (सीता) का विस्तार मन के विशाल क्षेत्र में अत्यन्त व्यापक है। 'वह' अपने आलोक से मन के प्रत्येक क्षेत्र एवं कोने को आलोकित करना चाहती है परन्तु तमोगुण-युक्त वृत्तियां उस 'आलोक' (आत्मालोक) के विस्तार में बाधा-स्वरूप आ खड़ी होती है। सीता का तामसिक मन के निम्नतर स्तर 'लंका' में जाने का यही अर्थ है कि 'किरणें' उस क्षेत्र को प्रकाशित करना चाहती हैं और 'वह' उस अभियान में सफल नहीं होती हैं। इसी के प्रभावानुसार अनेक तमोगुणयुक्त व्यक्ति यथा विभीषण, मंदोदरी, त्रिजटा आदि में सात्विक भावों का कुछ विकास दृष्टिगत होता है। प्रत्यक्ष रूप से, यह उर्ध्वमनश्चेतना (सतोगुणप्रधान) का तमोगुण युक्त चेतना-स्तर के उन्नयन का प्रयत्न है। दूसरे शब्दों में देवों की असुरों पर विजय है। यह संघर्ष राम-रावण का देवासुर संघर्ष है।

रामायण की कथा में भरत की भक्ति एवं प्रेम का एक अत्यन्त उज्जवल रूप दिया गया है। भरत का चरित्र जहां मानवीय प्रेम एवं श्रद्धा का उच्चतम रूप है, वहीं वह आध्यात्मिक क्षेत्र में अर्थगर्भित व्यंजना भी करता हैं। भरत, जैसा कि प्रथम संकेत किया गया, मन का प्रतीक है। राम का वनवास और भरत का 'नंदीग्राम' में रह कर राज्य-शासन संचालित करना एक तात्त्विक अर्थ की व्यंजना करता है। मन और आत्मा जो क्रमशः स्थूल एवं सूक्ष्म मानसिक चेतना के प्रतीक हैं, वे एक साथ एक स्थान पर राज्य नहीं कर सकते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार 'मन' और 'आत्मा' मानव के दो आवश्यक पक्ष हैं। एक से 'वह' (मन) विचारों तथा भावों के जगत का निर्माण करता है और दूसरे (आत्मा) से वह अनुभूति एवं अन्तदृष्टि के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करता है न्याय वैशेषिक दर्शन में मन को सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला कहा गया है और उसे प्रत्येक आत्मा में नियत होने के कारण अनंत परलाणु रूप कहा गया हैं। (कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० ३४९) यहां पर भी मन को स्थूल तथा आत्मा को सूक्ष्म ही कहा गया है। महर्षि 'अरविन्न ने इसे ही वाह्य आत्मा (मन) और आतंरिक आत्मा की संज्ञा दी है। महर्षि ने आत्मा को आनन्द का सिद्धांत माना है—और जब इस विस्तृत एवं पवित्र मानसिक तत्त्व का प्रतिबिंब धरातल पर है तब हम किसी व्यक्ति को 'आत्म-युक्त कहते हैं और जब इसका अभाव होता है तब वह आत्महीन ही कहा जाता है। (द लाइफ डिवाइन, द्वारा आरविन्द, पृ० २६५–२६६ भाग प्रथम)

आत्मा का क्षेत्र, इसी से अनुभूतिजन्य आनन्द का क्षेत्र है और मन का क्षेत्र ज्ञानमय वाह्य सुख का। इस दृष्टि से 'मन' और 'आत्मा' के एक स्थान पर शासन न

कर सकने के कारण राम को चौदह वर्ष का बववास होता है। इस बनवास के समय, लक्ष्मण, जो ईश्वर का समय रूप में एक नियम है—सदा राम के साथ रहता है जिस प्रकार आत्मा की 'ज्योतिकिरण' (सीता) आत्मा के साथ ही रहती है। चौदह वर्ष तत्त्वत: भारतीय मनवन्तर है जिनमें आत्मा को संसार के भौतिक पदार्थों के मध्य से गुजरना पड़ता है और अपनी आत्मा किरण के द्वारा उसे आलोकित करना पड़ता है। राम का अवतार इसी . ज्योति प्रसारण के हेतु एवं अन्धकार के निवारण के लिये ही हुआ था। यही तो 'सत्य' एवं 'धर्म' की स्थापना है।

(मानस, बालकाण्ड, पृ० १३८)

मन और आत्मा अन्योन्य पूरक भी हैं। इसी तथ्य पर 'मानव' सत्य के स्वरूप का हृदयंगम करता है। इसके लिये आवश्यक है कि मन और आत्मा एक ही संगीत का सृजन करें अर्थात् समरसता का पालन करें। इसी भाव को टेनीसन ने इस प्रकार रखा है—ज्ञान को अधिक से अधिकतम रूप में विस्तार प्राप्त करने दो, जिससे कि हम में, अधिक भक्तिभाव का निवास हो सके। मन और आत्मा, पहले की तरह, एक संगीत का सृजन कर सकने में समर्थ हों।[1] इसी हेतु रामकथा के मन (भरत) को सदैव राम (आत्मा) का एकाग्र प्रेमी ही चित्रित किया गया इसी से भरत का चरित्र आत्मा के प्रति एकनिष्ठ होने के कारण इतना उज्जवल है जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा तुलसी ने स्थान-स्थान पर की है। इस प्रकार भरत को उन्होंने एक आदर्श भक्त का रूप ही प्रदान कर दिया है। तुलसी ने भरत के प्रति कहा—

जौ न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को।।

(मानस, अयोध्याकाण्ड पृ० ५१८)

यही तो भरत का आदर्श-प्रतिकत्व है कि वह आत्मा के न रहने पर आत्मा की प्रेरणा (पादुकाओं) से ही राज कार्य संचालन करते हैं। परन्तु 'मन' के साथ शत्रुघ्न का सदैव साथ दिखाया गया है और दोनों—भरत तथा शत्रुघ्न अयोध्या में ही रह जाते है। शत्रुघ्न पदार्थ का प्रतीक है (देखिये पीछे)। अत: मन और पदार्थो का एक साथ रहना यह सिद्ध करता है कि मानसिक भावों तथा

---

1. Let knowledge grow from more to more. But more of reverence in us dwell; That mind and soul, according well, May make one music as before.

विचारों का उद्‌भव एवं विस्तार भौतिक पदार्थों के बिंब-ग्रहण से होता है परन्तु राजकार्य 'पदार्थ' को नहीं सौंपा गया है। उसका सम्पूर्ण भार आत्मा ने 'भरत' या 'मन' को सौंपा है क्योंकि आत्मा की अनुपस्थिति में मन, भौतिक पदार्थ की सहायता से ही शासन कार्य चलाता है। अब प्रश्न है कि भरत नंदीग्राम रहकर ही राज्य क्यों करते हैं, जबकि वह अयोध्या में रह कर भी राज्य कर सकते थे। इसका भी एक कारण था। योद्धा का अर्थ है विजयी होना, अतः अयोध्या का लाक्षणिक अर्थ हुआ जो मन (भरत) के द्वारा विजित न किया जा सके। दूसरी ओर अयोध्या केवल एक ईश्वर या आत्मा के द्वारा ही शासित हो सकती है। परन्तु 'नंदी' (नाद से) का व्यंजनार्थ 'प्रणव' है जो शब्द—ब्रह्म का स्थान है जहाँ से भरत शासन कार्य करते हैं (पुरानाज़—इन द लाइट आफ माडर्न साइंस द्वारा अय्यर, पृ० २४३)। अतः नंदीग्राम शब्द ब्रह्म का स्थान है न कि स्वयं 'शब्द ब्रह्म'। इसी 'शब्द-ब्रह्म' का सत्य रूप अयोध्या है जहाँ स्वयं ब्रह्म रूप 'राम' या परमात्मा शासन करते हैं। अतः अयोध्या का स्थान परमधाम के समकक्ष है जिस प्रकार कृष्ण-काव्य में वृंदावन माना जाता है। जो व्यक्ति ऐसे स्थान पर रह कर शासन करेगा वह तो 'राज्यमद' से सर्वथा मुक्त ही रहेगा—वह लिप्त रह कर भी निर्लिप्त रहेगा। भरत का आदर्श-चरित्र इसी प्रकार का दृष्टिगत होता है तुलसी ने भरत के प्रति ये शब्द कहे—

भरतहिं होइ न राजमदु, विधि हरिहर पद पाइ।
कबहुं कि काँजी सीकरनि, क्षीर सिंधु विनसाइ॥

(मानस, अयोघ्याकाण्ड, पृ० ५१७)

यही कारण है कि भरत का चरित्रांकन एक निर्लिप्त योगी की तरह किया गया है। यहां पर मानो गीता का 'निष्काम कर्म योग' साकार हो उठा है। उनका मन तो 'आत्मा' से लगा हुआ है इसी से भरत राज्यपद को उसी आत्मा की विभूति मानते हैं न कि अपनी कोई निजी धरोहर। यदि हम यहाँ पर संसार के इतिहास का सिंहावलोकन करें तो प्रतीत होता है कि अनेक राज्यक्रांतियाँ एवं विद्रोहों का मूल्य यही था कि वहाँ के शासक-गण 'राज्य' को अपनी निजी धरोहर समझते थे और प्रजा वर्ग पर मनमाना अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते थे। फ्रांस की क्रांति एवं सोवियत रूस की अनेक क्रांतियाँ इसी तथ्य की प्रतिध्वनि ज्ञात होती हैं। अतः भरत का यह राम कथा का प्रसंग इस ओर संकेत करता है कि शासक को 'निष्काम होना चाहिए, उसे प्रजा का सेवक होना चाहिए। यहाँ प्रतीकात्मक अर्थ मानो लौकिक अर्थ में एकीभूत हो गया है जो राम कथा को एक

अत्यन्त उच्च संदर्भ का 'प्रतीक' बनाता है। आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भरत की राम के प्रति यह भक्ति 'मन' की 'आत्मा' के प्रति अटूट श्रद्धा है। जब तक 'मन' किसी उच्च ध्येय के ध्यान में निमग्न न होगा तब तक वह चंचल एवं विकल्प संकल्प की प्रवृत्तियों के मध्य अस्थिर रहेगा। इसी से राम कथा में भरत को जहाँ एक ओर भक्ति का आदर्श रूप दिया गया है, वहीं उसे मननशील एवं सयमी भी चित्रित किया गया है। यह 'मन' जो फ्रायड के 'अचेत-मन' से कहीं महान् है, वह सत्य में मननशील चेतन मन ही है। भारतीय मनोविज्ञान में मन की एक मुख्य क्रिया मननशीलता है। यास्क ने 'मनु' धातु से मन की व्युत्पत्ति सिद्ध की है और उसका अर्थ मनन करना कहा है (कामयानी में काव्य, दर्शन और संस्कृति द्वारा डा० द्वारकाप्रसाद, पृ० २४८)। भरत के चरित्र में इन दोनों तत्त्वों का समाहार तुलसी ने सुन्दरता से किया है। इस मननशीलता की आधार शिला पर ही मन 'नीर क्षीर विवेक की शक्ति को विकसित करता है। वह इस विवेक दशा में उसी समय पहुंचता है जब वह किसी अन्य 'उच्च ध्येय' या आत्मा की ओर एकाग्रचित होता है। इसी की प्रतिध्वनि तुलसी के इस कथन में साकार हो उठी हैं—

भरत हंस रविबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोषबिभागा।।
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्ह उजियारी।।
कहत भरत गुन सील सुभाऊ।।
प्रेम पयोधि मगन रघुराउ।।

(मानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० ५१८)

रामकथा के इन पात्रों का एक अटूट सम्बन्ध बानर वर्ग से भी है जो उस कथा की गति प्रदान करते हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ शुद्ध सात्विक नहीं हैं, पर राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों के रूप में सामने आती हैं इस निम्न चेतना के स्तर को ऊर्ध्व चेतना के क्षेत्र में उठाने के लिए ही आत्मा एवं उनके अंशों का इस बानर वर्ग से सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध के द्वारा सुग्रीव हनुमान आदि सतोगुण वृत्तियों से युक्त होकर, आत्मा के सहायक होते हैं। विकास की दृष्टि से यह बानर वर्ग आदि मानव की वह शाखा थी जो मानवीय धरातल की ओर क्रमशः अग्रसर हो रही थी। इस अभियान में उन्हें आर्य जाति के सत्वगुणों का भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

रामकथा में इन वानरों का एक रहस्यमय अर्थ है सुग्रीव का अर्थ ज्ञान एवं बुद्धि है। इसी प्रकार से बालि का शब्दार्थ काम या काम से अद्भूत इच्छायें तथा वासनायें है। अतः 'ज्ञान' और 'काम' का संघर्ष सदैव का सत्य है। राम का अवतार धर्म स्थापना के हेतु हुआ था। 'आत्मा' के साम्राज्य को स्थापित करने के लिये यह आवश्यक था कि वह 'ज्ञान' की निर्मल धारा को अबाधगति से प्रवाहित होने का मार्ग प्रशस्त करे। यही कारण था कि आत्मा रूप राम को बालि का संहार करना पड़ा। इस दृष्टि से बाली की मृत्यु राम के चरित्र पर कलंक नहीं है। वह उनका एक आवश्यक कर्म था जिसके लिये ही उनका इस धरती पर अवतार हुआ था।

राम के प्रमुख सेवकों में हनुमान या पवनपुत्र का नाम आता है। उनका महत्व इतना अधिक बढ़ा कि वह राम के मुख्य भक्तों के रूप में पूज्य हो गये। पवनपुत्र नाम ही यह सिद्ध करता है हनुमान 'पवन' के प्रतीक हैं जो सारे विश्व में व्याप्त हैं। उसी का रूपान्तर 'प्राणवायु' के रूप में शरीर में भी व्याप्त है। इस प्राणवायु का शरीर में और वायु का विश्व वातावरण में समान महत्व है। इस अर्थ के अतिरिक्त रामकथा में पवनपुत्र एक ऐसी चेतन प्राण वायु का प्रतीक है जो 'भरत' को 'राम की सूचना देता है (मन तथा आत्मा) स्वयं आत्मा को उसकी आत्मकिरण (सीता) की सूचना देता है, उर्ध्वमन को निम्नमन (भारत तथा लंका) से मिलाता है, ज्ञान शक्ति (सुग्रीव) को राम (आत्मा) की ओर उन्मुख करता है और लक्ष्मण (समय) के मूर्छित हो जाने पर (गतिहीन होना) उन्हें जीवन रूप संजीवनी का वरदान देकर उन्हें चेतना युक्त करता है। ये सब कार्य पवनपुत्र हनुमान के प्रतीकात्मक संदर्भ की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं जो रामकथा के विभिन्न पात्रों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। हनुमान की यह प्रतीकात्मक व्यापकता यह सिद्ध करती है कि प्राणवायु की पहुंच मन की अतल गहराइयों में एवं विश्व के विशाल प्राँगण में समान रूप से है। वह एक ऐसी शक्ति है जो गहन से गहन मन की परतों को भेद कर प्रकाशकिरण एवं मन (सीता तथा भरत) को आत्मा के समीप लातीं है। इसी कारण से स्वयं राम ने हनुमान से कहा था—

सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना॥

मानस (किष्किन्धा काण्ड पृ० ६५६) जो आत्मा का इतना कार्य करे वह समय (लक्ष्मण) से भी अधिक प्रिय हैं, क्योंकि उसने तो समय तक की गतिहीनता को गति प्रदान की है।

राम अथवा वानरों की सम्मिलित सेना लंका की ओर प्रयाण करती है और उसके सामने महोदधि को पार करने की समस्या आती है। तब 'सेतुबन्ध' के द्वारा

समुद्र को पार किया जाता है। यहा पर लंका और कोशल (भारत) के मध्य सेतु का निर्माण एक प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है। जैसा कि प्रथम ही संकेत किया जा चुका है कि कोशल या भारत और लंका उर्ध्व तथा निम्नतम मानसिक स्तरों के प्रतीक है। इन दो स्तरों का एक सूत्र में सम्बन्ध होना चाहिये, तभी मानसिक जगत का कार्य सुचारु रूप से चल सकता है। यही कार्य रामकथा में 'सेतु' करता है। जो मन के दो क्षेत्रों को मिलता है। इस प्रकार इस ऐतिहासिक घटना को प्रतीक का रूप प्राप्त होता है। यह मेरे इस कथन की पुष्टि करता है कि रामकथा में ऐतिहासिकता एवं प्रतीकात्मकता का समान निर्वाह हुआ है।

मानसिक जगत के सत्विक एवं राजसिक गुणों का यह विवेचन अपूर्ण ही रहेगा जब तक उसके तामसिक स्तर की ओर दृष्टिपात नहीं किया जाएगा। मानसिक संगठनों में इन तीनों गुणों का समान महत्व है। गीता में इसी से सात्विक, राजसिक एवं तामसिक ज्ञानों का विवेचन किया गया है। सात्विक ज्ञान में एक अविभक्त तत्त्व का साक्षात्कार समस्त भूतों में होता है। राजसिक ज्ञान में सर्वभूतों में नानात्व ही दिखाई देता है। तामसिक ज्ञान में किसी पदार्थ का ही महत्व रहता है जो अहेतु, असत्य एवं अज्ञान के द्वारा आवृत्त रहता है (श्री मद्भगवद्गीता, मोक्ष योग, पृ० ५६४–५६६, श्लोक २०-२२)। लंका से सम्बन्धित करीब करीब सभी पात्र तामसिक मनोवृत्तियों से युक्त हैं जो अज्ञान एवं असत्य के प्रति विशेष आकृष्ट हैं इन गुणों का प्रचुर्य होने से एक ज्ञानी पुरुष रावण भी अहंकारी एवं अज्ञानी ही दिखाई देता है। रामकथा में रावण का चरित्र इसी प्रकार का है। मानसिक विकास की दृष्टि से 'वह' तामसिक एवं राजसिक वृत्तियों के मध्य में दर्शित होता है। इनकी समष्टि अभिव्यक्ति रावण में एक अन्य वाचक शब्द 'दसग्रीव' के अर्थ में समाहित है। यहाँ पर दसों इन्द्रियाँ एवं उनके गुण मस्तिष्क में ही केन्द्रित है। इसी से 'रावण' सदैव इन इन्द्रियों की तृप्ति की ही सोचा करता है जबकि दशरथ उनके (इन्द्रियों) उन्नायक रूप के प्रति ही अधिक सचेत रहते हैं। इसी कारण रावण में अहंकार की चरम परिणति प्राप्त होती है जो लंकाकाण्ड में, स्थान स्थान पर मन्दोदरी तथा रावण के वार्त्तालाप प्रसंगों में दृष्टिगत होती है। यहाँ तक कि रावण इस चराचर विश्व को भी अपने अधिकार में करना चाहता है यथा—

सो सब प्रिय सहज बस मोरे।
समुझि परा प्रसाद अब तोरे॥
(मानस, लंका काण्ड, ५४)

रावण का यह 'अहं' भाव तामसिक वृत्ति का एक स्वाभाविक विकास है। तामसिक वृत्ति के दो अंग होते हैं। अवर्ण और विक्षेप। अवर्ण 'अहं' का वह

शक्तिशाली रूप है जो केन्द्र से सम्पूर्ण परिधि की अच्छादित कर लेता है। यह 'अहं' का विस्फोट एवं उसका परिधि में विस्तार ही 'विक्षेप' है। (पुरानाज-इनद लाइट ऑफ माडरन साइंस, द्वारा अय्यर, पृ. २४४) इन दोनों तत्वों का समाहार स्पष्टतया रावण के व्यक्तित्व में प्राप्त होता है। इस 'अहं' विस्तार का कारण मनोवैज्ञानिक भी हो सकता है जैसा चिदाम्बर अय्यर ने विश्लेषित किया है।[1]

अस्तु रावण का व्यक्तित्व तामसिक मन का अहंपूर्ण विस्तार था। इसके विपरीत कुम्भकर्ण तामसिक मन का केन्द्रीभूत (centripetal) व्यक्तित्व था। एक में सब कुछ पर अधिकार करने की वेगवान लालसा थी, तो दूसरे (कुम्भकर्ण) में प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर ही सुप्तावस्था में रखने की अकाट्य इच्छा थी। एक में यदि विस्तार का बवन्डर था तो दूसरे में समस्त वस्तुओं का निजी केन्द्रीभूत संकुचन था। इसी से कुम्भकर्ण को निद्रामग्न कहा गया। 'मेघनाद' तामसिक वृत्ति का वह वेगवान एवं गुरुगम्भीर मेघ रूप था जिसके सामने समय (लक्ष्मण) के रूप में, ईश्वर का 'विधिवाक्य' भी एक बार अस्तव्यस्त हो गया था। इसी प्रकार शूर्पणखा जो 'वासनापूर्ण काम' की प्रतीक है, वह अपनी तृप्ति के लिए किसी ओर भी उन्मुख हो सकती है। पंचवटी का अर्थ पाँच वृक्ष से अहित होता है जो पाच इन्द्रियों का प्रतिरूप है। कोई भी व्यक्ति आत्मा का प्रकाश उसी समय पा सकता है जब वह

---

१. श्री पी. आर. चिदाम्बर अय्यर ने एनल्स आफ भण्डारकार रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाल्यूम २३ (१९४१) में रावण के व्यक्तित्व का सुन्दर विश्लेषण नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में किया है। लेखक रावण के व्यक्तित्व को एक मानसिक विघटन का उदाहरण मानता है जो उन्मुक्तता (Insanity) की दशा तक नहीं पहुंचता। सत्य में उसका यह रूप उसके वातावरण एवं पैतृक संस्कारों (Heredity) के प्रभावों के कारण ही था। वह एक राक्षस नारी और देव ऋषि के द्वारा उत्पन्न हुआ था। इसी कारण उसके व्यक्तित्व में दोनों का एक अद्भुत मिश्रण था। उसके दस सिर तथा बीस हाथ माना की किसी संवेदनात्मक एवं भावनात्मक असन्तुलन का फल था जो गर्भावस्था के समय उसके ऊपर पड़े होंगे। इसी से रावण में ममर्ष भाव तथा हीनग्रन्थि (Inferiority complex) का विकास भी सम्भव हो सका अतः वह एक स्नायु पीड़ित (Neurotic) व्यक्ति के रूप में सामने आता है (पृ. ४६-५८)। स्पष्ट रूप से यह मनोवैज्ञानिक, योनिक एवं संस्कार-जनित कारण उसके 'अहं' विस्तार के कारण हो सकते हैं और किसी सीमा तक सत्य भी है।

इन पंचइन्द्रियों से ऊपर उठकर आत्मानुभूति की ओर प्रयत्नशील होता हैं। शूर्पणखा पंचवटी में इन इन्द्रियों के उपर उठने की कोशिश तो करती है पर अपनी कामवासना के प्रत्यावेग के कारण 'आत्मा' (राम) के निकट नही पहुंच पाती है। इसी बीच में ईश्वर का विधि नियम 'लक्ष्मण' उसे कुरुप कर देता है। इस प्रसंग से यही अर्थ ग्रहण होता है कि कामवासना के उद्दामवेग से व्यक्ति की बुद्धि तथा मन नितांत अज्ञानाधकार में रहने के कारण, अपनी तामसिक वृत्तियों का खुले आम प्रदर्शन करता है। यह प्रदर्शन इतना अमर्यादित हो जाता है कि वह व्यक्ति अपने 'नाककान' भी गवाँ देता है। इसी प्रकार मारीच, जो अपनी माया के कारण हिरण में परिवर्तित हो गया था, भ्रमपूर्ण भृगतृष्णा का ही प्रतीक है जिसके ऐंद्रजालिक प्रभाव में राम, सीता तथा लक्ष्मण भी आ गये थे।

मनोवैज्ञानिक प्रतीकवादी दर्शन

४

मनोविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हैं। मानसिक चेतना का विकास ही मानव-प्रगति का इतिहास है। मन की आवश्यक क्रिया विचारोद्‌भावना है और विचारों तथा भावों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है। यह मन की विचारात्मक क्रिया, प्रतीक निर्माण की जननी मानी गई है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप कला, साहित्य, धर्म, दर्शन और विज्ञान आदि मानवीय-क्रियाओं का आविर्भाव हुआ जिसमें ज्ञान का स्वरूप उनके प्रतीक-सृजन के द्वारा मुखर होता हैं। अतः मन का सम्पूर्ण विकासात्मक अध्ययन ही मनोविज्ञान है। वह केवल मन का सीमित विज्ञान नहीं है। उसके द्वारा मानसिक चेतना के क्रमिक नव-स्तरों का भी उद्‌घाटन होता है। यहाँ कहा जा सकता है कि हिंदू-मनोविज्ञान सम्पूर्ण मन का अध्ययन प्रस्तुत करता है जबकि पाश्चात्य-मनोविज्ञान मन के कुछ विशिष्ट स्तरों (Phases) के अंदर ही सीमित रह गया है।[1] मन से भी परे मानवीय शक्तियों का विकास दिखाना ही हिंदू-मनोविज्ञान का क्षेत्र है। उसका क्षेत्र चेतन-उपचेतन से परे ऊर्ध्व या अतिचेतन का परम क्षेत्र है जो सत्य में, मानव-नामधारी प्राणी के भावी विकास की दिशाओं की ओर संकेत करता है। इस दृष्टि से, हिंदी-मनोविज्ञान को आध्यात्मिक-मनोविज्ञान (Spiritual Psychology) भी कहा जा सकता है। हमारी समस्त विचारधारा का अंतिम लक्ष्य आत्मिक जगत् का साक्षात्कार कराना है और आध्यात्मिक-मनोविज्ञान मानव को इसी आत्मिक ज्योति के निकट ले जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिंदू-मनोविज्ञान मन की क्रियायों, इच्छाओं, चेतन-अचेतन आदि को अमान्य मानता है। उसका तो केवल यह मंतव्य है कि मन की केवल ये ही क्रियायें नहीं हैं, पर मन से भी "कुछ" ऐसी उच्च क्रियात्मक शक्तियाँ

---

१. हिंदू साइकोलाजी द्वारा, स्वामी अखिलानन्द, पृष्ठ १५ लंदन १९४७।

या तत्व हैं जिनके द्वारा मानव की मानवीयता मुखर होती है। वैदिक-दर्शन से लेकर अरविंद-दर्शन तक इसी मानवीय 'सत्य' का स्वस्थ रूप प्राप्त होता है।

भारतीय मनोविज्ञान का प्रारम्भ "मनोनिग्रह" की स्थिति से माना जाता है जब मन अपनी चंचल प्रवृत्तियों का निरोध अथवा उन्नयन करता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसे ही "सब्लिमेशन" कहा जाता है जिसके द्वारा मानसिक हीन-वृत्तियों का उन्नयन संभव होता है। ये वृत्तियाँ, अचेतन-मन में, दमित वासनाओं के रूप में, अनेक माध्यमों के द्वारा वाह्य अभिव्यक्ति को प्राप्त होती हैं। इन अभि-व्यक्तियों में स्वप्न तथा यौन-प्रतीकों का मुख्य स्थान माना गया है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

भारतीय मनोविज्ञान में चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण केवल अचेतन मन में दमित इच्छाओं और वासनाओं तक ही सीमित नहीं है। यहाँ पर चेतना के विभिन्न स्तरों का जो विश्लेषण प्राप्त होता है, वह "मनोनिग्रह" की ओर संकेत करता है। इसी दशा से, मानव अपने भावी आध्यात्मिक-अभियान में अग्रसर होता है। यह एक प्रकार से 'लय-योग' भी कहा जा सकता है। इसमें काम्य पदार्थों एवं भोगों का निरोध आवश्यक है। माण्डूक्योपनिषद् में मनोनिग्रह के बारे में कहा गया है :—

उपायेननिगृह्णीया द्विक्षिप्तं कामभोगयो: ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥[१]

अर्थात् "काम्यविषय और भोगों में विक्षिप्त हुए चित्त का उपायपूर्वक निग्रह करें तथा लयावस्था में अत्यन्त प्रसन्नता को प्राप्त हुए चित्त का भी संयम करें, क्योंकि जैसा (अनर्थकारक) काम है वैसा लय भी।"

पाश्चात्य मनोविज्ञान की तरह, यहाँ पर मन की क्रियाओं को दमित वृत्तियों का रंगस्थल नहीं माना गया है। वह तो मन की चेतना का एक अंशमात्र है। मन की चेतना का क्रमिक रूप तो उस समय प्राप्त होता है जब मानवीय चेतना निम्न स्तरों को पार कर उच्च स्तरों की ओर उन्मुख होती है। इस उन्मुखता में भारतीय मनीषा की मनोनिग्रह स्थिति परमावश्यक है।

---

१. उपनिषद्-भाष्य, खंड २ पृ० १८०, श्लोक ४२, अद्वैत-प्रकरण।

चेतना का स्वरूप तथा प्रतीक सृजन

प्रतीक-सृजन की दृष्टि से, आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार, मन के दो स्तर हैं–चेतन और अचेतन। इन्हीं के आधार पर दो प्रकार के प्रतीकों का विभाजन किया जाता है यथा चेतन और अचेतन-प्रतीक। इसके अनुसार, अचेतन मन से उत्भूत प्रतीकों में प्रयास का उतना हाथ नहीं रहता है जितना चेतन क्षेत्र के प्रतीकों में। इसके अतिरिक्त उपचेतन (Sub-conscious) की मान्यता आधुनिक मनोविज्ञान में है जिसकी स्थिति चेतन तथा अचेतन के मध्य में मानी गई है। इसकी सापेक्षता में भारतीय मनोविज्ञान में चेतना का अधिक व्यापक विश्लेषण प्राप्त होता है जो प्रतीक-सृजन की क्रमिक भावभूमि को भी स्पष्ट करता है। यहाँ चेतना के चार स्तरों की व्याख्या प्राप्त होती है—सुषुप्ति, स्वप्न, जागृत और तुरीय अवस्था। सत्य में, ये चार अवस्थायें मानसिक चेतना के उत्तरोत्तर विकासशील सोपान हैं। विवेचन की सुविधानुसार, मैं इन चार अवस्थाओं को आधुनिक मनोविज्ञान को भी ध्यान में रखकर, विवेचन करूँगा। इस दृष्टि से, अचेतन तथा उपचेतन के अन्तर्गत सुषुप्ति तथा स्वप्न की अवस्थाओं का और चेतनावस्था के अन्दर जागृत तथा तुरीय अवस्थाओं का, प्रतीक की दृष्टि से विवेचन अपेक्षित है।

१. अचेतन-प्रतीक-स्वप्न, सुषुप्ति, यौन प्रतीक :

बर्ट्रेण्ड रसेल में अचेतन मन की क्रियाओं को केवल एक प्रवृत्ति ही माना है जिसकी सम-कक्षता भौतिक-शास्त्र में वर्णित 'शक्ति' से हो सकती है।[१] सत्य में, अचेतन की धारणा में एक प्रकार से सुषुप्ति की अवस्था ही प्राप्त होती है क्योंकि अचेतन के महासागर में दमित वासनाएं, इच्छाएं तथा संवेदनाएं सुप्तप्राय अवस्था में निश्चेष्ट पड़ी रहती हैं। ये वासनाएं आदि समय आने पर, अपनी अभिव्यक्ति अनेक स्वप्न तथा यौन (Sexual) प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इनके द्वारा अद्भुत विचारों की अशृंखलाबद्ध रचना होती है जिनका स्वरूप हमें साहित्य, कला, धर्म आदि मानवीय क्रियाओं में प्राप्त होता है। इसी तथ्य के प्रकाश में फ्रायड, यूँग तथा एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने कला, धर्म, साहित्य आदि को "अद्भुत प्रतीकवाद" के अन्दर रखा है। फ्रायड ने तो यहाँ तक कह डाला कि पुराण-प्रवृत्ति इच्छा परितृप्ति का शेष चिन्ह है और साथ ही आदिमानव की अतार्किक स्वप्न प्रवृत्ति।[२] जहाँ तक पौरा-

---

१. द एनालिसिस आव माइंड द्वारा बर्ट्रेण्ड रसल, पृ० २८।
२. द हाउस डैट फ्रायड बिल्ट द्वारा जोसफ जेसट्रॉव, पृ० ३८ (लंदन १९२४)।

णिक प्रवृत्ति का प्रश्न है, उसके विकास में अद्‌भुत तथा अतार्किक तत्वों का समावेश तो अवश्य प्राप्त होता है, पर उनमें प्रयुक्त प्रतीकों का अर्थ यह भी ध्वनित करता है कि उनकी पृष्ठभूमि में कोई न कोई गूढ़ अर्थ अथवा धारणा का रूप प्राप्त होता है। सत्य तो यह है कि समस्त मानवीय क्रियाओं में अचेतन-प्रतीकों के साथ साथ चेतन मन की क्रियाओं का भी सम्मिश्रण प्राप्त होता है। एक को दूसरे से सर्वथा अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

स्वप्न-प्रतीक

मनोविज्ञान में मन की अनेक क्रियाओं को "विभूति" की संज्ञा दी गई है और मन इन्हीं विभूतियों को अनेक प्रकार से प्रकट करता है। स्वप्न में सुषुप्ति के समय, दमित वासनाओं का प्रकटीकरण, अनेक प्रतीकों के द्वारा होता है। इसी से यह माना जाता है कि स्वप्न-प्रतीकों के समुचित विश्लेषण से आंतरिक इच्छाओं की प्रकृति को जाना जा सकता है। स्वप्न-दर्शन का हेतु विगत संस्कार भी माना गया है और "देव-मन" स्वप्नावस्था के समय अपनी महिमा का ही अनुभव करता है।[1] भारतीय मत की दृष्टि से 'मन' भी एक इंद्रिय है जो अन्य इन्द्रियों से उत्कृष्ट है—सभी इन्द्रियाँ उसी में एकीभूत होती हैं। यही कारण है कि स्वप्न-प्रतीकों को समझना दुर्लभ हो जाता है। और उनके पीछे कौनसी स्फूर्ति काम करती है, इसे भी कहना अत्यन्त कठिन है। इसका प्रमुख कारण इन प्रतीकों की असम्बद्धता ही कही जाती है। युंग ने इन प्रतीकों का कारणत्व (Causal) भी माना है और उसके अनुसार स्वप्न-प्रतीकों में एक तारतम्यता प्राप्त होती है।[2] स्वप्न बिम्बों तथा प्रतीकों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि इन बिम्बों में तारतम्यता नहीं होती है और उनके क्रम में विचारात्मक प्रवृत्ति के दर्शन अत्यन्त अस्पष्ट रहते हैं। फ्रायड ने एक स्थान पर कहा है—"स्वप्न में हमारे विचार अनैच्छिक होते हैं और इसी से ऐच्छिक विचार, जो चेतन-मन की क्रिया है, (ये मेरे शब्द हैं) अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाते हैं।[3] इस दृष्टि से, स्वप्न-प्रतीकों को सत्य में प्रतीक ही नहीं कहा जा सकता है जिस प्रकार चेतन-क्षेत्र के प्रतीकों को कहा जाता है (यथा भाषा, विज्ञान दर्शनादि के प्रतीक)। स्वप्न-प्रतीक अचेतन काम-इच्छा के पूरक माने जाते हैं। काम-इच्छा का एक व्यापक

---

१. उपनिषद्-भाष्य, खंड २, पृ० ३६ मांडूक्योपनिषद् (गीताप्रेस)

२. साइकोलाजी आव द अनकान्सस द्वारा युंग, पृ ७—८

३. ए क्रिटिकल इग्जामिनेशन आफ साइकोएनलिसिस द्वारा वोहलनूथ, पृ० ६६।

स्वरूप मानव-जीवन में प्राप्त होता है। यहाँ तक कि 'ब्रह्म' को भी काम-शक्ति से युक्त कहा गया है। अतः काम इच्छा वह प्रबल माध्यम है जो अंशतः स्वप्न-प्रतीकों का सृजन अवश्य करती है। इसी से माण्डूक्योपनिषद् का यह कथन है कि स्वप्न-पदार्थों का असत् रूप जो चित के अन्दर कल्पित होता है और साथ ही चित्त से बाहर इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ 'सत्' जान पड़ता है—ये दोनों ही रूप मिथ्या ही कहे गये हैं"।[1] परन्तु उपनिषद् साहित्य यहीं पर नहीं रुकता है, वह इन मिथ्या पदार्थों को कल्पित करनेवाले "आत्मा" के प्रति कहता है।

विकारोत्यपरान्भावानन्तश्चत्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित एवं कल्पयते प्रभुः ॥[2]

अर्थात् "प्रभु आत्मा अपने अन्तः करण में (वासनारूप) स्थित लौकिक भावों का नाना रूप करता है तथा बहिश्चित होकर पृथ्वी आदि नियत और अनियत पदार्थों की इसी प्रकार कल्पना करता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में पदार्थ का मिथ्यात्व एक प्रकार का अज्ञान है। द्वैत-भावना का विस्तार भी इसी मिथ्या के कारण होता है। स्वप्न-प्रतीकों में आत्मा के इसी माया-परक विस्तार का स्वरूप प्राप्त होता है। स्वप्न-प्रतीकों के सृजन में अचेतन-स्मृतियाँ जो संस्कारजनित होती हैं, उनका अभिव्यक्तीकरण अनेक स्वप्न-प्रतीकों के द्वारा होता है। इन प्रतीकों का मिथ्यात्व गीता में भी मान्य है। वहाँ कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वप्न के प्रति (भय, शोकादि भी) आसक्ति रखता है, वह तामसिक "धृति" के अन्दर माना जाता है।[3]

यौन या काम-प्रतीक

पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम को एक क्रियात्मक शक्ति के रूप में देखा गया है। काम का स्थान मानवीय क्रियाओं से अभिन्न है। यौन वृत्तियाँ भी अभिव्यक्ति स्वप्न में अनेक प्रतीकों के द्वारा होती है जैसे साँड़, सर्प, छड़ी लिंगादि। युंग ने एक स्थान पर कहा है कि अचेतन मन में जो प्रेम सम्बन्धी स्मृतियाँ क्रियाशील होती हैं, वे अपनी अभिव्यक्ति इन्हीं काम प्रतीकों के द्वारा करती हैं। इस प्रकार एक

---

१. मान्डूक्योपनिषद्, वैतथ्य-प्रकरण, श्लोक ६, पृ० ६१ (उपनिषद् भाष्य, खंड २)।
२. वही पृ० ६४, श्लोक १३ तथा प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न ४, श्लोक ५ में।
३. श्रीमद्भगवद् गीता, मोक्ष-योग, पृ० ५७४, श्लोक ३५

व्यक्ति स्वयं अपने से ही लुकछिप कर खेल खेलता है।[1] इस कामरति को युंग ने "लिबीडो" की संज्ञा दी है। प्राचीन धर्मों के अनेक देवता "लिबीडो" के विभिन्न रूपांतर हैं जिनका पर्यवसान किसी न किसी 'देवता' या "शक्ति" के रूप में होता है। अवेस्ता, वेद तथा उपनिषद् में यह प्रवृत्ति यदा-कदा प्राप्त होती है। उपनिषदों में प्रजापति और ब्रह्म का मिथुन रूप तथा करीब करीब सभी देवताओं के साथ देवियों की कल्पना का सारा रहस्य यह मिथुन तत्व हैं जो काम के रूप को, एक धारणा में संगुफित कर आदर्श की कोटि तक पहुंचा देता है। अन्य धर्मों में प्राप्त देवता जैसे एटम (Atum), एमन, होरस का एकीकरण एक ही देवता सूर्य में माना गया है। इस कामरूप का अभिव्यक्तीकरण नायक या "हीरो" में, तांत्रिक अनुष्ठानों में, मातृत्व-प्रतीकों में, ओडीपस ग्रंथि आदि में मान्य है जहाँ पर "लिबीडो" का स्थानांतरण (Transference) अनेक दिशाओं में प्राप्त होता है। अत: कामवासना का क्रियात्मक रूप सृजनात्मक ही अधिक होता है। सृष्टि-क्रम से लेकर मनुष्य तक इस काम रति का मिथुन रूप एक 'सत्य" है जिसे हम केवल मात्र वासना कहकर हेय की दृष्टि से नहीं देख सकते हैं। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि समस्त मानवीय क्रियाओं में केवल "काम" प्रेरणा तथा स्फूर्ति तत्व है। काम के अतिरिक्त भय, इच्छा, आंतरिक प्रेरणा का भी मानवीय क्रियाओं में एक विशिष्ट स्थान है।[2] स्वयं मनोवैज्ञानिकों में एडलर ने भी यह अमान्य माना है कि केवलमात्र 'काम' शक्ति ही समस्त मानवीय क्रियाओं का मूल है। यही बात "ओडीपस ग्रन्थि" (Oedipus Complex) के बारे में भी कही जा सकती है। युंग तथा फ्रायड ने इस ग्रंथि को तीन सम्बन्धों में कार्यान्वित देखा है—पुत्र का माता के प्रति, पुत्री का पिता के प्रति और भाई, बहन का अन्योन्य के प्रति गुप्त काम-प्रवृत्तियाँ। इन सभी संबंधों का रंगस्थल नाटक, पुराण, साहित्य आदि क्षेत्र हैं जिनमें इन सभी सबंधों का द्वन्द्व किसी विशिष्ट परिस्थिति एवं पात्रों केकार्यकलापों के द्वारा प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन सभी सम्बन्धों में 'पवित्रता' की ही भावना अधिक है और यहाँ जो प्रेम अथवा श्रद्धा का स्वरूप है, वह काम का वासनापूर्ण सम्बन्ध नहीं है दूसरी ओर, यह ग्रंथि मानवीय क्रियाओं का एक सीमित रूप ही सामने रखती है। क्या सभी मानवीय क्रियायें इतनी सीमित हैं कि वे केवल यौन वृत्ति को ही केन्द्र मानकर अपना विस्तार करें? मानवीय क्रियाओं के पीछे इच्छा-शक्ति, स्फूर्ति, अनुभूति और आध्यात्मिक ज्ञान का

---

१. साइकलोजी आव द अनकान्सस, युंग पृ० ३५।
२. हिंदू साइकलोजी, स्वामी अखिलानन्द, पृ० ७०।

एक सबल योग रहता है जो सत्य में, चेतना के उच्च स्तरों के द्योतक हैं। फ्रायड का यह मत कला के 'अभिमूल्यन' (Valuation) में भी पूर्ण योग नहीं देता है और, इसी से कला के प्रतीकों को केवल ओडीयस ग्रंथि के प्रकाश में मूल्यांकन करना, कला-प्रतीकों के सत्य स्वरूप के प्रति एकांगी दृष्टिकोण होगा।

काम अथवा स्वप्न-प्रतीकों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रायड की विवेचना पद्धति में प्रतीकों का द्वितीय स्थान है। फ्रायड के लिये प्रतीक किसी मानसिक जटिलता अथवा दमित इच्छा का गुप्त अभिव्यक्तीकरण है। फ्रायड के इस सीमित दृष्टिकोण को युंग ने संशोधन किया। युंग के लिये प्रतीक मानसिक क्रियाओं का गुणक है जिसकी महत्ता उसके मनो-विश्लेषात्मक स्वरूप पर आश्रित है।[1] हिंदू मनोविज्ञान में अचेतन का विवेचन विगत संस्कारों तथा भावनाओं के समष्टि रूप का परिचायक है जबकि पाश्चात्य-मनोविज्ञान में अचेतन की वह आधारशिला माना गया है जो चेतन-मन का निर्माण करता है। अतः भारतीय-मनोविज्ञान में अचेतन मन ही सब कुछ नहीं है, चेतना का विकास यहीं पर रुक नहीं जाता है। शंकराचार्य ने स्वप्न को ससार के हेतुभूत अविद्या, कामना और संस्कार से संयुक्त माना है। इस अचेतनावस्था में जीव अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। अपने स्वरूप की प्रगति वह उस समय करता है जब वह सुषुप्ति की अवस्था में पहुँचता है।[2] छांदोग्योनिषद् में सुषुप्ति को "स्वप्नांत" कहा गया है। इस स्वप्नांत दशा में जीव दर्शनवृत्ति को छोड़कर अपने 'स्वरूप' को प्राप्त होता है।[3] अतः स्वप्न-प्रतीकों का महत्व उसी सीमा तक माना जा सकता है जिस सीमा तक उनके द्वारा जीव अपने निजी स्वरूप का, सुषुप्ति के समय साक्षात् कर सके। यह साक्षात्कार मन की उस दशा का द्योतक है जब समस्त इंद्रियाँ प्राण से गृहीत हो जाती हैं। एक प्राण ही अश्रांत रहता है जोकि देह रूप घर में जागता रहता है। चक्षु, श्रोत्र वाक्, मन और प्राण—ये पाँच इंद्रियाँ ही जीव को बाह्य-ज्ञान देती हैं। प्राण की उपासना का सत्य स्वरूप उसी समय प्राप्त होता है जब व्यक्ति इंद्रियों की एकसूत्रता प्राण में कर सके। इंद्रियों के उपासक 'असुर' और प्राण के उपासक 'देव' कहे जाते हैं—इन्हीं के परस्पर संघर्ष का प्रतीकात्मक रूप देवासुर संग्राम है। उपनिषदों में प्राण को सर्वरूप, संवर्ग, देवता और यहाँ तक कि प्रजापति भी कहा गया है।

---

१. द हाउस डैट फ्रायड बिल्ट द्वारा जैसट्राव, पृ० ९८।

२. उपनिषद्-भाष्य, खंड ३, पृ० ६४२-६४३ (गीता प्रेस गोरखपुर)।

३. छांदोग्योपनिषद्, षष्ठ अध्याय, अष्टम खंड पृ० ६४१, श्लोक १ (उप० भा०, खंड ३)

चेतक-प्रतीक—प्राण की धारणा, चेतना के ऊर्ध्वगामी विकास का प्रथम चरण या रूप है। मानव की सर्जनात्मक शक्तियों का विकास इसी चेतना के विकास पर निर्भर है। समस्त मानवीय क्रियाओं में—चाहे वह कला हो या दर्शन–एक सचेतन प्रतीकीकरण की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। इसी कारण से हीगल ने चेतन प्रतीतीकरण की क्रिया के अन्तर्गत निरपेक्ष-सापेक्ष, ईश्वर, संख्या, अंक दंतकथायें मुहावरे, रूपक, उपमा, बिम्ब आदि को स्थान दिया है। इसी के अन्दर भाषा के प्रतीकों तथा लिपियों को भी ले सकते हैं। यहाँ पर यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शब्दों की ध्वनियों में अचेतन मन का भी योग रहता है। अनेक मानसिक क्रियायें यथा कल्पना, भावना, विचार तथा धारणा आदि का क्षेत्र चेतन मन ही माना जा सकता है। अतः चेतन-प्रतीक-वाद का क्षेत्र जाग्रत-चेतना का विस्तार है। इसी चेतन प्रयत्नशीलता में "इच्छा-शक्ति" का भी विकास होता है। जब तक मनुष्य में 'इच्छा-शक्ति' का आविर्भाव नहीं होता है, तब तक वह अचेतन-मन के क्षेत्र से चेतना के तेजोप्रधान आलोक का अनुभव नहीं कर सकता है। यही कारण है कि मानसिक-चेतना का ऊर्ध्वविकास जाग्रतावस्था से प्रारम्भ होकर 'तुरीयावस्था' तक माना गया है। हिंदू आध्यात्मिक-मनोविज्ञान का लक्ष्य मन को इसी 'तुरीयावस्था' तक ले जाना है जो अरविन्द के अतिचेतन क्षेत्र का पर्याय माना जा सकता है। अन्तर्दृष्टि अथवा अनुभूति का विकास इसी क्षेत्र में आकर होता है जब मानव-मन, बुद्धि तथा प्राण से ऊपर उठकर आत्मा के अनुभूतिपरक क्षेत्र में पदार्पण करती है। कलाकार, दार्शनिक, चिंतक एवं वैज्ञानिक का क्षेत्र यही अनुभूतिपरक ज्ञानात्मक क्षेत्र माना जाता है। जहाँ तक कलाकार का सम्बन्ध है, वह प्रकृति-पदार्थों और सांसारिक वस्तुओं के द्वारा अनुभूतिपरक आत्मक्षेत्र का ही उद्घाटन करता है। यहीं पर प्रतीक-दर्शन का भी संकेत मिलता है। प्रतीक का क्षेत्र भी आत्मिक-अनुभूति का क्षेत्र है। प्रतीक की रूपात्मक अभिव्यंजना का प्राण भाव, अनुभूति तथा ज्ञान की समन्वित आधारशिला है। इसी से, हिंदू मनोविज्ञान में आत्मा से ही समस्त चेतन, अचेतन, इंद्रियों, भूतों तथा प्राणों का विकास माना गया है। बृहद्-उपनिषद् में कहा गया है–"जिस प्रकार वह मकड़ा तंतुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ उठती हैं उसी प्रकार, इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, देवगण और भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। 'सत्य का सत्य' यह उस आत्मा की उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है। उन्हीं का यह सत्य है।[1] अतः, आत्मभिव्यंजना में प्रतीक का वही स्थान है जो कल्पना में

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय २, ब्राह्मण १, पृ० ४५७ (उप० भाष्य, खंड ४)।

भाव का माना जाता है। इसी आत्माभिव्यंजना में समस्त भूतों, देवों तथा लोकों का एकात्म-भाव होता है जिसके बिना कोई भी कलाकार 'सत्य' का दिग्दर्शन नहीं कर सकता है। इसी तथ्य को शंकराचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है–"तुरीयावस्था को अपनी आत्मा जान लेने पर अविद्या एवं तृष्णादि दोषों की संभावना नहीं रहती है; और तुरीय को अपने आत्म-स्वरूप से न जानने का कोई कारण भी नहीं है क्योंकि 'तत्त्वमसि', अयमात्मा ब्रह्म', "तत्सत्यं स आत्मा' आदि समस्त उपनिषद् वाक्यों का पर्यवसान इसी अर्थ में हुआ है।[1] इसी तुरीयावस्था में आत्मा का अद्वैत एवं अधिकारी रूप दृष्टिगत होता है।[2] संत तथा भक्तों का आत्मलोक इसी भाव का प्रत्यक्षीकरण करता है। जब कवि की रहस्य-भावना, प्रकृति और विश्व के अन्तराल में किसी शक्ति का आभास प्राप्त करती है, उसी समय वह आत्मानुभूति को ही व्यक्त करती है। इस आत्माभिव्यंजना में इच्छा-शक्ति का विशेष हाथ रहता है। बिना इच्छा शक्ति के हम अपने विचारों, भावनाओं अथवा धारणाओं को गतियुक्त रूप नहीं दे सकते हैं।[3] यही कारण है कि रहस्यवाद अथवा अतिचेतन दशा में इच्छा-शक्ति और आत्म-शक्ति का एक समन्वित रूप प्राप्त होता है। इसी आध्यात्मिक 'सत्य' का रहस्य-प्रतीकों में सुन्दर विकास प्राप्त होता है जैसा कि हमें संतों की बानियों में प्राप्त होता है। इस आध्यात्मिक-विश्वास का स्वरूप अत्यन्त जटिल होता है। हमारे अनेक विश्वासों की आधारशिला अनुभूति पर आश्रित होती है। प्रतीकात्मक दृष्टि से, सृजनात्मक शक्तियों का विस्फुरण अनुभूति, इच्छाशक्ति और विश्वास की मिलित क्रियाओं से होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मन की उच्चतम क्रियाओं में अनुभूति ही वह अभिन्न अंग है जिसके द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है।[4] मानव के दिव्य जीवन की आधारशिला इसी अनुभूति पर आश्रित है जो आत्मा का धर्म है। अतः आध्यात्मिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत "इंद्रियों से महान् पदार्थ है, मन इन दोनों से उच्च है, बुद्धि मन से महान् है और जो बुद्धि से भी उच्च है, वह आत्मा है।[5] अस्तु, हिन्दू-मनोविज्ञान में आत्मा की धारणा का सबसे ऊँचा स्थान है और अनुभूति (जो आत्मा का धर्म) का उच्च मानवीय क्रियाओं में एक अभिन्न स्थान है।

---

१. उपनिषद् भाष्य, खंड २, पृ० ५१–५२ (माण्डूक्योपनिषद्)।

२. माण्डूक्योपनिषद् आगम-प्रकरण, पृ० ५६ (उप० भाष्य खंड २)।

३. हिंदू साइकलोजी, स्वामी अखिलानंद पृ० ७८।

४. द लाइफ डिवाइन, भाग २, श्री अरविन्द, पृ० ७१६

५. गीता, कर्मयोग, पृ० १३२, श्लोक ४२।

उपनिषद्-साहित्य में प्रतीक-दर्शन | ५

शब्द और प्रतीक

उपनिषद्-साहित्य ज्ञान की एक अमूल्य निधि है जिसमें आत्मिक तथा तात्त्विक ज्ञान अपनी पराकाष्ठा में प्राप्त होते हैं। ज्ञान का प्रणयन शब्द और प्रतीकों के नित नूतन सृजन में प्राप्त होता है। हम जिस भी शब्द का उच्चारण करते हैं या उसे लिपि रूप में विचारों के विनिमय का माध्यम बनाते हैं, वे शब्द ही प्रतीक हो जाते हैं। यही कारण है कि कोई भी शब्द, किसी विचार या धारणा का प्रतिरूप होने से, प्रतीक का कार्य करने लगता है। सम्पूर्ण चराचर विश्व के सम्बन्ध, शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत है। दूसरे शब्दों में, यह ब्रह्म की सम्पूर्ण प्रकृति, वाणी अथवा भाषा के शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक सम्बन्ध की तारतम्यता में व्याप्त है। इसी भाव को शंकराचार्य ने उपनिषद्-भाष्य में इस प्रकार रखा है।—

तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम् ।[1]

उस ब्रह्म का यह सम्पूर्ण जगत वाणी रूप सूत्र द्वारा नाममयी डोरों से व्याप्त है।' यह नामकरण की प्रवृत्ति वस्तु का अनुभवपूरक रूप सामने रखती है, तो वही, वह मानवीय चेतना के आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण की ओर भी संकेत करती है। अतः यह सारा का सारा ब्रह्मांड नाममय ही है, नाम (प्रतीक) के द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है। यही कारण है कि वाक् या वाणी को छांदो-

---

१. उपनिषद् भाष्य, खंड २, पृ० २४ : माण्डूक्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (सं० २०१३)

ग्योपनिषद् में 'तेजोमयी'[१] कहा गया है, उसे "विराट" की संज्ञा भी दी गई है ।[२] तात्त्विक दृष्टि से क्षर ब्रह्म के मूल में इसी शब्द-प्रक्रिया का रहस्य छिपा हुआ है। इसी से, भारतीय मनीषा ने शब्द को ब्रह्म का रूप या पर्याय माना है। हम शब्द-प्रतीकों के द्वारा ब्रह्म के इस नाम रूपात्मक विश्व को ज्ञान की परिधि में बाँधते हैं। फलतः ईश्वर, आत्मा, त्रिमूर्ति, समय, आकाश (दिक्) गुरुत्वाकर्षण शक्ति, परमाणु और अनेक धार्मिक प्रतीक यथा ब्रह्मा, ज्यूपीटर, शिव, देवीदेवतादि—ये सब शब्द रूप प्रतीक ही हैं जिनमें किसी धारणा या विचार (भाव भी) की अन्विति प्राप्त होती है।

बिम्ब और प्रतीक

उपनिषद् साहित्य में मन की क्रियाओं का संकेत यदा-कदा प्राप्त होता है। मन की आदितम क्रिया का वाह्य-प्रभावों को मानसिक बिम्ब (Image) के रूप में परिणत करना है। यह बिम्ब ग्रहण ही प्रतीक सृजन की प्रथम आवश्यक दशा है। इस दृष्टि से बिम्बग्रहण केवल बोधगम्य (Perceptive) ही होते हैं। दूसरी ओर प्रतीकात्मक क्रिया एक अधिक जटिल मानसिक क्रिया है जिसमें बोध, बिम्ब एवं मानसिक विचारणा का समन्वित रूप रहता है।[३] मन की इस बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति को केनोपनिषिद् में इस प्रकार कहा गया है—"ॐ केनोषितं पतति प्रेषितमनः[४] अर्थात यह मन जिसके द्वारा इच्छित एवं प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है आगे चलकर भाष्यकार शंकर ने स्पष्ट ही कहा कि मन स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही अपने विषयों की ओर जाता है जो उसकी प्रवृत्ति ही है।"

अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रवृत्ति

पृष्ठभूमि के प्रकाश से अनुष्ठानिक तथा पौराणिक प्रतीक-दर्शन का विवेचन किया जा सकता है। अनुष्ठानिक चेतना में मन का केवल बिम्बग्रहण ही प्रमुख है, जबकि पौराणिक चेतना में मन का मनन करनेवाला रूप अधिक स्पष्ट है।

---

१. छांदोग्योपनिषद्, पृ० ६२६ श्लोक ४ में कहा गया है 'आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागति' (उपनिषद् भाष्य खंड ३)

२. वपी. पृ० १४५, श्लोक २ 'वाग्विराट' (उप० भा० खंड ३)

३. इक्सपीरियंस एंड थिंकिंग द्वारा एच०एच० प्राइस पृ० २८६ (लंदन १९५३)

४. केनोपनिशद्, उक० भा० खंड १, पृ० १९ तथा २३ (सं० २०१४)

बिम्बग्रहण और विचारात्मक क्रिया (मनन) इतनी अन्योन्य सम्बन्धित हैं कि उसे अलग करके देखा नहीं जा सकता है। परन्तु इतना कहना समीचीन होगा कि पौराणिक प्रवृत्ति में किसी वस्तु अथवा विचार के प्रकाशन में जो भी कथा का आश्रय लिया जाता है, उसमें उस वस्तु का बिम्बग्रहण तो अवश्य होता है, पर मानसिक प्रक्रिया यहीं पर नहीं रुकती हैं, वह उस बिम्बग्रहण में किसी भाव या विचार (अर्थ) का स्पष्टीकरण करती है। धरातल से सूक्ष्म की ओर मन की यह क्रमिक रूपरेखा प्रतीकात्मक अर्थ की अवतारणा करती है जो कि पौराणिक कथाओं का मूल ध्येय है। कठोपनिषद में इसी से ईन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषयों को श्रेष्ठ कहा गया है, विषयों से मन को उत्कृष्ट कहा गया है, मन से बुद्धि को "पर" कहा गया है और अन्त में, बुद्धि से महान् आत्मा को कहा गया है।[3] पुराण प्रवृत्ति में मन की प्रक्रिया क्रमशः मन से बुद्धि की ओर प्रयत्नशील है जिसका पूर्ण अनुभूतिमय पर्यवसान 'आत्मक्षेत्र' में उसी समय होता हैं जब मन का विकास धार्मिक चेतना के सूक्ष्म-स्तर को स्पर्श करता है। अतः भारतीय मनीषियों ने मन के केवल ऊपरी सतह का ही विश्लेषण नहीं किया है, उनका मनोविज्ञान, पाश्चात्य मनोविज्ञान के कहीं अधिक सूक्ष्म है, जहाँ मन से भी सूक्ष्म तत्वों का विश्लेषण प्राप्त होता है।[4] इसे हम आध्यात्मिक मनोविज्ञान (Spiritual-Psychology) कह सकते हैं जिसकी आधारशिला पर उपनिषदों का प्रतीक-दर्शन आश्रित है।

वैदिक काल के ऋषियों ने जिन अनुष्ठानों का आयोजन किया था, वे मूलतः किसी भावना या अव्यक्त सत्य से ही संबंधित थे। वैदिक ऋषियों ने अनुष्ठानों के द्वारा जन-जीवन में इस सत्य का प्रतिपादन किया कि इनके द्वारा मानव-मन, अधिक उच्च अभियानों को स्पर्श कर सकेगा और उन देवताओं (प्रकृति शक्तियों) को प्रसन्न कर सकेगा जिनके संतुलन एव सामरस्य से सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। इन अनुष्ठानों के सही प्रतीकार्थ का ही हृदयंगम करके उन्हें हम जीवन में समुचित स्थान दे सकते है। यज्ञ, यज्ञोपवीत संस्कार एवं अनेक आचारो का सांस्कृतिक महत्व उनके प्रतीकार्थ में ही निहित है। उदाहरणस्वरूप, उपनिषदों में यज्ञ का प्रतीकार्थ एक विस्तृत भावभूमि को स्पर्श करता है। वैदिक कर्मकाण्डों में यज्ञ का महत्व अग्नि-प्रतीक के विकास की चरम परिणति है इसके साथ यज्ञ का जन-जीवन और विश्व से

---

३. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महत्परः ।।२०।
कठोपनिषद्. पृ० ६१ (उप० भा० खंड १)

४. हिन्दू साइकलाजी द्वारा स्वामी अखिलानन्द. पृ० ७८ (लंदन १६३६)

भी सम्बन्ध है। अग्नि को कठोपनिषद् में अनंत लोकों की प्राप्ति कराने वाला और बुद्धिरुपी गुहा में स्थित कहा गया है।[१] यहाँ पर जो अग्नि को बुद्धिरुपी गुहा में कहा गया है, वह अग्नि के सूक्ष्म रूप का संकेत है। यहीं नहीं, छांदोग्य में अग्नि को देवता की संज्ञा दी गई है जिससे ऋक् श्रुतियों का प्रादुर्भाव कहा गया है।[२] यहाँ पर अग्नि उस अकथ श्रम की प्रतीक है जिससे वाणी का आदिरूप मुखर होता है। इसके अतिरिक्त अग्नि की व्याप्ति पृथ्वी द्युलोक तथा अंतरिक्ष में कही गई है।[३] इस प्रकार अग्नि को समस्त ब्रह्मांड में परिव्याप्त सिद्ध किया गया है। कहीं पर वह 'शक्ति' एवं 'तेजस्' के रूपों में हैं, कहीं पर 'काम' के रूप में और कहीं पर 'वीर्य' के रूप में है। इस प्रकार अग्नि सूक्ष्म से स्थूल क्षेत्रों तक परिव्याप्त हैं।

यज्ञ के द्वारा इसी अग्नि-व्याप्ति का आवाहन किया जाता है। अग्नि का यह विश्वरूप और भी व्यापक हो जाता है जब उसका सम्बन्ध मेघों के प्रादुर्भाव से होता है तो उचित तापमान के प्रकाश में जल-बूंदों में परिणत हो जाता है। यह तथ्य आधुनिक विज्ञान के द्वारा भी मान्य है क्योंकि धूम्र ही वाष्प के रूप उचित तापमान पाकर मेघ का रूप धारण करता है इसी बथ्य की प्रतिध्वनि छांदोग्य में इस प्रकार होती है—

यद्ग्ने रोहित्ँरूपं तेजसस्तद्रूप यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापगादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।[४]

अर्थात् अग्नि का जो रोहित रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है, वह जल का है और जो कृष्ण है, वह अन्न है। इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व निवृत्त हो गया क्योंकि (अग्निरूप) विकार वाणी से कहने के लिये नाममात्र हैं, केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। अतः अग्निहोत्र के समय जो यज्ञ में अन्न, घृतादि की आहुति दी जाती है, वह इसी तेज, अन्न अथवा जल की मिश्रित अभिव्यक्ति है जिससे धूम्र का वाष्पीकरण हो सके। यज्ञोपासना तप ही है जिसमें अग्नि का तपरूप ही मुखर होता है। मानव जीवन में इसी तप का मूल स्थान है क्योंकि इसी तप में प्रजापति को सृष्टि की इच्छा (इक्षण) प्रदान की।[५] इस प्रकार अग्नि अन्तरिक्ष से

---

१. कठोपनिषद्. पृ० २६ (उपनिषद् भाष्य खंड १)
२. छांदोग्योपनिषद् पृ० ४३५ (उप० भा०. खंड ३)
३. वही. ४८३ तथा ४६५ (उप० भा०. खंड ३)
४. छांदोग्य षष्ठ अध्यांय. चतुर्थ खंड. पृ० ६१३. श्लोक १(उप० भा० खंड ३)
५. छांदोग्योपनिषद्, चतुर्थ अध्याय, सप्तदश खंड, पृ० ४३४-४३५

लेकर पुरुष और नारी में क्रमिक विकास प्राप्त करती है और यह विकास, मूलतः, तप ही है। इस वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति उपनिषदों में प्राप्त यज्ञ के प्रतीकार्थ में निहित है। यज्ञ में आहुति डालते समय जो 'भूःभुवः स्वाहः' कहा जाता है, उसका रहस्य यही है कि अंतरिक्ष, द्युलोक तथा-भूलोक में—त्रिदेव के रूप में, यही अग्नि सर्वत्र व्याप्त हो और हम उस अग्नि की कृपा से भौतिक सुखों के साथ-साथ 'सत्य' का साक्षात्कार कर सकें। भारतीय अनुष्ठानों का मूल ध्येय यही है जैसा कि कहा गया है—

एष हवै यज्ञो योऽयं पवत एषँह यन्निदँ, सर्वं पुनाति। यदेषयन्निद् सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी।[1]

अर्थात् जो चलता है, निश्चय यज्ञ ही है। यह चलता हुआ निश्चय इस सम्पूर्ण जगत को पवित्र करता है, क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसार को पवित्र कर देता है, इसलिये यही यज्ञ है। मन और वाक्—ये दोनों उसके मार्ग अतः यज्ञ-अनुष्ठान में मंत्रोच्चारण में प्रवृत्त वाणी और यथार्थ वस्तु के ज्ञान में प्रवृत्त मन—ये दोनों यज्ञ के मार्ग ही हैं। बिना मन से मनन किये केवल मात्र वाणी का दुरुपयोग करने से व्यक्ति अपने तेज को खो देता है और साथ ही अनुष्ठान की महत्ता को भी हृदयंगम नहीं कर पाता है।

पौराणिक कथाओं का प्रतीकार्थ

अनुष्ठानों के इस प्रतीकार्थ से सम्बन्वित पौराणिक-प्रतीक-दर्शन है जो मानवीय चेतना का अधिक विकसित रूप है। भारतीय पुराण-प्रवृत्ति पाश्चात्य 'मिथ' से भिन्न है। पाश्चात्य-विचारकों के अनुसार पुराण-प्रवृत्ति में अद्‌भुत कल्पनाओं तथा परियों की कथाओं-सी अतार्किक उड़ान ही अधिक है। परन्तु भारतीय विचार-धारा में पुराण, इतिहास हैं जिनमें मानव के आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतीकात्मक निरूपण प्राप्त होता है। पौराणिक कथाओं का प्रणयन सामान्यतः किसी न किसी ध्येय अथवा रहस्योद्‌घाटन के लिये होता है। पुराण-प्रवृत्ति में इसी से, मन का विचारात्मक पक्ष लक्षित होता है। पौराणिक कथाओं के द्वारा, अधिकतर वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मणादि के तात्विक संदर्भ की प्रतीकात्मक अभिव्यंजना प्राप्त होती है जो जन-जीवन के धरातल पर अपना विकास करती है। अतः पुराण कथायें किसी संस्कृति एवं धर्म के मूलभूत दार्शनिक-विचारों को जन-साधारण में जन-गाथात्मक

---

१. वही, चतुर्थ अध्याय, षोडश खंड, पृ० ४२८ (उप० भा०, खंड ३)

शैली के द्वारा हृदयंगम कराती हैं। भारतीय एवं विदेशी पुराणों में सृष्टि-कथायें, वीर पुरुषों की कथायें, देवासुर और मनु की गाथायें आदि केवल-मात्र कपोलकल्पना की उपज ही नहीं हैं, इन कथाओं के पीछे विविध दार्शनिक एवं तात्त्विक संदर्भों की प्रतीकात्मक व्यंजना प्रमुख है। ज्ञान की धारा को बढ़ाना ही इन कथाओं का ध्येय है क्योंकि प्रतीक-दर्शन 'ज्ञान' की गरिमा को ही प्रकट करता है। प्रतीक के द्वारा हम ज्ञान के तंतुओं को रूप देते हैं।

देवासुर-संग्राम का जो संसार पर्यन्त पुराणों में एकछत्र राज्य है, उसका प्रतीकात्मक अर्थ ही अपेक्षित है। ये सारी कथायें कल्पना पर ही आश्रित हैं। उनका प्रतीकार्थ ही अपेक्षित है, वे ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं जैसा कि भाष्यकार शंकर ने अपने वेदांत-भाष्य में स्पष्ट संकेत किया है—

यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूपा एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत् निरुद्धानेक-प्रकारेण न श्रोष्यत। श्रूयते तु तस्मान्न तदर्थ संवादश्रुतीनाम्।[1]

अर्थात् यदि यह संवाद (देवासुरसंग्राम) हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओं में (अर्थात् सभी उपनिषदों में) एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध भिन्न-भिन्न प्रकार से नहीं। परन्तु ऐसा सुना जाता है, इसलिये संवाद-श्रुतियों का तात्पर्य यथाश्रुत अर्थ में नहीं है। यही बात अन्य पौराणिक उपाख्यानों के लिये सत्य है। इसी प्रकार सृष्टि-गाथाओं में जहां एक ओर विश्वविकास का क्रमिक रूप प्राप्त होता है, वहाँ पर परम तत्व 'ब्रह्म' के एकत्व का विविधरूपों में संकेत प्राप्त होता है। उपनिषदों की गाथाओं के आधार पर पुराणों की सृष्टि-विषयक वृहद् कथाओं का विकास सम्भव हो सका है। इन सृष्टि-उपाख्यानों का रहस्य मांडूक्योपनिषद् में इस प्रकार समझाया गया है।

मृल्लोहविस्फुलिंगादैः सृष्ट्यां चोदितान्यथा।
उपायः सोवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥[2]

अर्थात् (उपनिषदों में) जो मृतिका लौहखंड और विस्फुल्लिंगादि दृष्टांतों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से सृष्टि का निरूपण किया गया है, वह (ब्रह्म की एकता में) बुद्धि के प्रवेश कराने का उपाय हैं, वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है। इस दृष्टि से, सृष्टि कथाओं का ध्येय, उपनिषदों के अनुसार, जीव एवं परमात्मा का

१. उपनिषद्भाष्य, खंड २, पृ० १४५-१४६ (मांडूक्योपनिषद्)
२. मांडूक्योपनिषद्, पृ० १४४ (उप० भा०, खंड २)

एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि का निर्माण है। जिससे कि मानव, सृष्टि के रहस्य का अनुशीलन कर सके।

दूसरा तथ्य जो इन सृष्टि-कथाओं से ध्वनित होता है, वह है मिथुनपरक सत्य का प्रतिपादन। प्रजापति, जो उपनिषदों में अद्वय तत्व हैं, वही अपनी 'ईक्षण' से विभक्त होकर सृष्टिकार्य में संलग्न होता हैं। यही प्रजापति पुराणों में ब्रह्मा एवं नारायण के प्रतीक हैं। यह प्राणिशास्त्र का अनादि नियम है कि सृष्टि चाहे वह कैसी भी हो, अकेले नहीं हो सकती, उसमें 'दो' की सहकारिता आवश्यक है। अवतार तथा लीला भावनाओं में मिथुन-तत्व का विशेष स्थान है। अवतार में 'एक' का महत्व 'दो' की धारणा में निहित है और यही कारण है कि देवताओं के साथ देवियों की परिकल्पना की गई है। इसी मिथुन रूप के तात्विक प्रतीक प्रकृति पुरुष, मन-वाक्, श्री-नारायण, शिव-शक्ति, ब्रह्मा-सरस्वती आदि हैं। छाँदोग्योपनिषद् ने जो अंडे से सृष्टि का क्रम-वर्णन किया है,[1] उसमें भी अपरोक्ष रूप से, मिथुन तत्व का समावेश प्राप्त होता है, पर प्रधानता एक 'तत्व' की अधिक है जिससे सम्पूर्ण चराचर विश्व उद्भूत हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि या सर्ग, कार्यकारण की भावना को 'आदिकारण' के अभिव्यक्तीकरण के रूप में स्पष्ट करता है। इस समस्त चराचर प्रकृति में एक ही परमज्योति का स्पन्दन है। अत: सर्ग अनेकता में एकता की भावना को चरितार्थ करता है। इसी कारण पुराणों की कल्पनाप्रसूत सर्ग-कथाओं में आदि-तत्व ब्रह्म का व्यक्तिकरण ही अनेक प्रतीकों के द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त, ये सर्ग-कथायें मानव-मन के आध्यात्मिक आरोहण की ओर भी संकेत करती है। मानव-उदय के साथ चेतना का विकास अधिक ऊर्ध्व क्षितिजों की ओर प्रयत्नशील होता है जिसे उपनिषद्-साहित्य में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं की संज्ञा दी गई है। भारतीय सृष्टि-कथाओं का महत्व इसी बात में है कि उनके द्वारा निम्नतर पदार्थों से लेकर उच्चतम विकासशील मानव नामधारी प्राणी के भावी विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

धार्मिक-प्रतीक-दर्शन

पौराणिक क्षेत्र में मन की जिस विचारात्मक प्रकृति का विकास शुरू हुआ था, वह धार्मिक प्रतीको के क्षेत्र में अपने उच्चतम रूप में प्राप्त होता है। उपनिषद् साहित्य में प्राप्त जिन धार्मिक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है, उनमें विचार तथा

---

१. छांदोग्योपकिषद् पृ० ३४३-३४६ (उप० भा० खंड ३)

धारणा का एक स्वस्थ रूप प्राप्त होता है। इसी से, रिट्‌ची का मत है कि विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीरण है।[१] यह विचार तथा धारणा मूलतः अनेक देवी-देवताओं के स्वरूप-विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसी तथ्य को कदाचित् ध्यान में रखकर धार्मिक देवी-देवताओं के प्रति छांदोग्य-उपनिषद् का निम्न श्लोक उनके प्रतीकार्थ को चिंतन का विषय घोषित करता है—

"यस्यामृचि तामृचं यदार्षेय तामृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यातां देवतामुपधावेत्।[२]"

अर्थात् (वह साम रूप रस) जिस ऋचा में प्रतिष्ठित हो, उस ऋचा का जिस ऋषिवाला हो, उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करनेवाला हो, उस देवता का चिंतन करें। तत्वतः धार्मिक प्रतीकों का रहस्य उनके चिंतन करने में समाहित है। यह चिंतन मानव-मन की वह सबल प्रक्रिया है जो धारणा के स्वरूप को व्यक्त करती है। यही कारण हैं कि धार्मिक प्रतीको में दार्शनिक भावभूमि का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है जो उन प्रतीकों के 'अर्थतत्व' की आधारशीला है।

उपनिषद्-साहित्य में अनेक प्रतीकों का संकेत प्राप्त होता है जो धार्मिक एवं दार्शनिक भावभूमियों को स्पष्ट करते है। ऐसे विचारात्मक प्रतीकों हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) आदर्श अपरलोकों की धारणा
(२) अंतर्दृष्टिपरक प्रतीक

१. आदर्श अपरलोकों की धारणा

चार-लोक—जब मानवीय चेतना दृश्यमान जगत के पीछे रहस्य को जानने के लिये प्रयत्नशील हुई, तब उसने अनेक ऐसे लोकों की कल्पना की जहाँ मृत्यु के बाद जीवन की भावना ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया। मानव-मन यह प्रश्न करने लगा कि मृत्यु के पश्चात् जीवन का क्या स्वरूप होता है? इस जिज्ञासा के फलस्वरूप सभी धर्मो में स्वर्ग की कल्पना का उदय हुआ। "मृत्यु के परे" की भावना इसाई प्रतीकवाद की मूल आधारशिला है।[३] हमारे यहाँ स्वर्गलोक से भी ऊपर अन्य लोकों की भावना प्राप्त होती है जो आध्यात्मिक दृष्टि से मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी

---

१. द नेचुरल हिस्ट्री आफ माइंड द्वारा ए० डी० रिट्‌ची. पृ० २१
२. छांदोग्योपनिषद्. प्रथम अध्याय. तृतीय खंड. पृ० ७४. श्लोक १ (उप० भा० खंड ३)
३. इनसाइक्लोपीडिया आफ ईथिक्स एंड रिलीजन वाल्यूम १२. क्रिश्चियन सिम्बालिज्म (न्यूयार्क १६२१)

अभियान से प्रतीत होते हैं। हमारे यहाँ चार देवता प्रमुख हैं—इन्द्र, शिव, विष्णु और ब्रह्मा और उनके साथ क्रमशः चार लोकों—स्वर्ग, कैलाश, बैकुण्ठ और सत्य लोक की कल्पना की गई। इन चार लोकों के आदर्शीकरण में 'सत्यलोक' का स्थान सबसे प्रमुख है। ये सभी लोक आनंद के क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से ये लोक, जो पृथ्वी से ऊपर माने गये हैं वे मूलतः विश्व-वातावरण के स्तरपरक विभाग है। जिस प्रकार आकाश के वातावरण में निम्नतर स्तर अधिकतम भारयुक्त (प्रेशर) माना जाता है और जैसे-जैसे हम वातावरण में (आकाश तत्व) में ऊपर जाते हैं, वैसे-वैसे 'भार' की मात्रा भी कम होती जाती हैं। इसी प्रकार इन्द्रलोक से लेकर सत्य लोक तक क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर भार की उन्मुखता प्राप्त होती है।

इन आदर्श-लोकों की धारणा में धार्मिक भावना का वह रूप प्राप्त होता है जो आत्मा के आनन्दपरक स्तरों का उद्घाटन करता हैं। यही कारण है कि उपनिषदों में स्वर्ग की भावना में 'आनन्द' का परिवेश है। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—

> स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
> उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥[1]

अर्थात् स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है। वहाँ आप का भी वश नहीं चलता। वहाँ कोई वृद्धावस्था से भी नहीं डरता। स्वर्गलोक में पुरुष भूख-प्यास दोनों को पार करके शोक के ऊपर उठकर आनन्दित होता है। अस्तु, भारतीय धर्म में जितने भी आनन्द लोक हैं, उनके अंतराल में उपनिषद् का यह कथन अनुस्यूत प्राप्त होता है।

चार लोकों में ब्रह्मलोक सर्वोच्च है। वह सत्य का धाम है। उपर्युक्त तीन लोग (स्वर्ग, कैलाश, वैकुठ) उस भूमिका को प्रस्तुत करते हैं जो 'आत्मा' को सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। इसी से, वृहद्-उपनिषद् में सत्य की मीमांसा इस प्रकार की गई है—

"इदं सत्य सर्वेषां भूतानां मध्यस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु ...[2]"

अर्थात् "यह सत्य समस्त भूतों का मधु है और समस्त भूत इस सत्य के मधु हैं।" इस कथन में उपर्युक्त तीन लोलों (भूत रूप) का अंतिम पर्यवसान

---

१ कठोपनिषद्, पृ० २७. प्रथम अध्याय, प्रथम बल्ली
२. बृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० ५९२, श्लोक १२, द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण (उप० भा० खंड ४)

'सत्य लोक' में होता है क्योंकि यही लोक समस्त लोकों का मधु है,—सारतत्त्व है,–परम ज्ञान का प्रतीक है। इसी से, ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती ज्ञान की प्रतीक हैं। यही वह स्थान हैं जहाँ मानवीय-मन अपने उच्चतम गंतव्य-अतिचेतना के स्तर को स्पर्श करता है और इस प्रकार, 'दिव्य-पुरुष' का आविर्भाव होता है।[1]

सप्तलोक की धारणा

वैदिक धर्म में, सप्तलोक की धारणा के प्रकाश में अन्य सप्तक कल्पनाओं का रहस्य जाना जा सकता है। सप्तलोक, सप्तसिंधु, सप्तर्षि, सप्तस्वर, सप्तपाताल, सप्तदिवस, सप्तान्न की भावनायें मूलत: मानव-मन के आध्यात्मिक स्वरूप के प्रतिरूप हैं।

सप्त की धारणा का रहस्य "प्राण-विज्ञान" है क्योंकि भारतीय चिंतन में प्राण को आत्मरूप ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया है। समस्त इन्द्रियां प्राण की ही रूपांतर हैं। इसी से प्राण की समष्टि-भावना में समस्त 'इन्द्रिय-संघात शरीर' की परिणति प्राप्त होती है शंकराचार्य ने वेदांत-भाष्य के अन्तर्गत कहा है कि 'शिशु-प्राण' का यह शरीर अधिष्ठान है क्योंकि इसमें अधिष्ठित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ विषयो की उपलब्धि का द्वार होती हैं।[2] प्राण को नाना रूपों वाला "यश" की संज्ञा भी दी गई है।[3] यह यश क्या है? चमस रूप शिर में विश्वरूप यश निहित है। अत: यश के नाना रूप प्राण के ही अंग हैं। प्राण की संख्या सात मानी गई है—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना। ये सातों इन्द्रियाँ प्राण की 'अन्न' होकर ही अवस्थित रहती हैं जिसका यही अर्थ है कि सप्त इन्द्रियों का अन्योन्य सम्बन्ध प्राण के द्वारा ही कार्यान्वित होता है। इसी से, इन प्राणों को सप्तान्न भी कहा गया है। वृहद् उपनिषद् में प्राण की इसी सर्वव्यापकता को आधिदैविक रूप देने को लालसा से उन्हें सप्तर्षि भी कहा गया है जो मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है। उपनिषद् कहता है—"ये दोनों (कान) ही गौतम और भारद्वाज हैं, यह ही गौतम है और दूसरा भारद्वाज। ते दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं, यही विश्वामित्र है और दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों नासारन्ध्र ही वशिष्ट और कश्यप हैं. यह ही वशिष्ट है, दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रिय द्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है

---

१. उपनिषद् भाष्य, खंड ४, पृ० ५०४
२. वृहद्-उपनिषद्, पृ० ५०८-५०९, श्लोक ३ (उप० भा० खंड ४) सं० २०१४
३. वही पृ० ५१०

जिसे अत्रि कहते हैं, वह निश्चय ही 'अत्ति' नामवाला है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भक्षण करनेवाला) होता है, सब उसका अन्न हो जाता है।[१] यह सप्तर्षि-मंडल मानवीय भौतिक-पक्ष का उन्नायक रूप है। यह घोषित करता है कि प्रत्येक भौतिक अंश का उसी समय सत्य महत्त्व होगा, जब वे दिव्य देन ऋषियों से युक्त मानवीय चेतना के ऊर्ध्वगामी अभियानों में योगदान दे सकेंगे। प्रत्यक्षतः 'मुख्य-प्राण' ही वह तर्कमय कारण है जो अतर्कपूर्ण आचरणों (इन्द्रियों) को एक संतुलन प्रदान करता है जो इस प्रकार इस प्राण को जानता है, वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है। हिन्दू दार्शनिक विचारधारा में सभी सप्तक धारणाएं इसी सत्य-प्राण की विवेचना करती हैं जिससे सत्य का साक्षात्कार हो सके। वृहद् उपनिषद् में इसी से, प्राण को देवता कहा गया है जो इन्द्रियरूप देवताओं के पाप रूप मृत्यु के पार ले जाता है।[२]

इस सप्तक धारणा का पर्याय हमें सूफी साधना के सात-मुकामातों में भी मिलता है। एक अन्य दृष्टि से, इन सप्तकों की समानता योग प्रणाली से भी हो जाती है। योगानुसार शरीर के सप्तखंडों या चक्रों की जो कल्पना की गई है, उनकी समानता उपनिषदोक्त सप्तक से स्पष्ट हो जाती है। सूफी साधना के सात चढ़ाव एक अंतर्दृष्टि-परक तात्विक यान्त्रिक-आरोहण है। राडल्फ आटो के शब्दों में यह यान्त्रिक आरोहण ऊर्ध्व जीवन का एक नियम है, उसका एक परम रूप प्रारब्ध है।[३] यही नहीं, पाश्चात्य विचारधारा में इस सप्त कल्पना का अपरोक्ष रूप मिलता है। दांते के "डिवाइन कामेडिया" में इसका एक स्थान पर संकेत मिलता है जब महाकवि दांते मार्जन प्रदेश (Purgatory) के सात स्तरों का सविस्तार वर्णन करता है जिससे होकर कवि तथा वर्जिल स्वर्ग की ओर बढ़ते हैं,[४] तब स्पष्ट रूप से, उपनिषदोक्त सप्तलोकों की समानता दृष्टिगोचर होती है।

सप्तक तथा चतुर्थ कल्पना के अतिरिक्त उपनिषद् में दस लोकों की भी धारणा मिलती है। इन लोकों की कल्पना में ब्रह्मलोक या आत्मलोक' आध्यात्मिक आरोहण की शीर्षविंदु है इस ब्रह्मलोक का संकेत याज्ञवल्क्य ने गार्गी से किया था। क्रमिक रूप से वातावरण का स्तरपरक विश्लेषण करना ही याज्ञवल्क्य को अभीष्ट

---

१. वृहद् उपनिषद् पृ० ५१० श्लोक ४ (उप० भा० खंड ४)

२. वही, पृ० १२८, श्लोक १२, खण्ड ४

३. मिस्टिसिज्जम, इस्ट एन्ड वेस्ट द्वारा राडल्फ आटो, पृ० १५७ (लंदन १६३२)

४. कामायनी—दर्शन द्वारा फतेह सिंह, पृ० ४०५ (कोटा सं० २०१०)

था। ब्रह्मलोक से प्रथम नवलोक इस प्रकार बनाये गए हैं—अन्तरिक्ष, गंधर्व, आदित्य, चंद्र, नक्षत्र, देव, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्मलोक ।[1] अस्तु, इन लोकों का विवेचन धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत होने के साथ-साथ एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

(२) अंतर्दृष्टिपरक-प्रतीक

इस वर्ग के प्रतीकों का धारणात्मक एवं तात्त्विक महत्त्व है। प्रायः ये सभी प्रतीक "आत्मज्ञान" की आधारशिला पर आश्रित हैं। इनमें चिंतन एवं अध्यात्म का समन्वय प्राप्त होता है। ते प्रतीक तात्त्विक चिंतन के "मधु" है।

भारतीय मनीषा ने मुख्य तैंतीस देवताओं का अन्तर्भाव एक ही 'परमदेव में माना है बृहद् उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में विश्व में व्याप्त प्राकृतिक शक्तियों एवं घटनाओं का मानवीकरण तैंतीस देवताओं में किया गया है। इनमें आठ वसु (अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चंद्रमा और नक्षत्र), ग्यारह इन्द्र (पुरुष की दस इन्द्रियाँ और मन), बारह आदित्य (संवत्सर के अवयवभूत १२ मास) और इन्द्र (विद्युत्) तथा प्रजापति (यज्ञ)—सब मिलाकर तैंतीस देवता माने गये हैं। इनका पर्यवसान 'एकदेव' की धारणा में किया गया है जिसे ऋषि ने 'प्राण' वह ब्रह्म है, उसी को त्यत् (ब्रह्म) ऐसा कहते हैं—[2] के द्वारा निरूपित किया गया है। परन्तु इस एकदेव की धारणा में अन्य देवों की क्रमिक परिणति होती है—तेंतीस से छः, छः से तीन, तीन दो, दो से डेढ़, और डेढ़ से एक की धारणा का विकास होता है।[3] धार्मिक प्रतीकों के अनेकानेक रूप भी इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। 'ब्रह्म' की धारणा में यह 'सत्य' अन्तर्हित है।

ब्रह्म-द्योतक-प्रतीक

ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सृजनात्मकता और सापेक्षता-निरपेक्षता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति उपनिषदों में अनेक शब्द-प्रतीकों के द्वारा प्रस्तुत की गई है। ऐसे शब्द प्रतीक हैं—ओउम्, खं, वृक्ष तथा यक्ष।

ब्रह्म के दो रूप हैं—अक्षर और क्षर, सत् और त्यत्, एवं 'ॐ' अक्षर में इसी 'अपर' और 'पर' ब्रह्म' का समन्वय हैं। 'ब्रह्म' के 'अपर' रूप को केवल प्राप्त किया

---

१. बृहद् उपनिषद्, श्लोक १, पृ० ६३७ (उप०भा खण्ड ४)
२. बृहद् उपनिषद् पृ० ७८५-७९४ नवम ब्राह्मण, तृतीय अध्याय
३. तैत्तिरीयोपनिषद्, पृ ९७, श्लोक ब्राह्मानन्द बल्ली (उप०भा०खंड २)

जा सकता है और 'पर' रूप को जाना जा सकता है। यही कारण है कि ब्रह्म के पर या क्षर रूप के अनेक प्रतीकगत अवतारों का भक्त-कवियों ने ज्ञान प्राप्त किया था। श्रीलोकमान्य तिलक का इसी से यह मत है कि उपासक का अंतिम ध्येय ज्ञान प्राप्त करना है। यही कारण है कि परमेश्वर के किसी अवतार का महत्त्व, उपासक के लिये, एक प्रतीक का कार्य करता है।[१] ॐ, ओंकार, प्रणव, उग्दीथ—ये अक्षर, ब्रह्म के ज्ञान को ही प्रस्फुटित करते हैं। ये अक्षर वाच्य रूप में ब्रह्म के नाम ही हैं। यही कारण है कि प्रतीक रूप 'नाम' का महत्त्व नामी के समान ही माना गया है और हमारे भक्त कवियों ने 'नाम' को 'नामी' से भी अधिक महत्त्व दिया है। इस 'नाम' तत्त्व में वाणी से उद्भूत शब्द-ध्वनि का रूप प्राप्त होता है। इनके उच्चारण में शब्द का ध्वनि विषयक प्रतीकार्थ है। समस्त सृष्टि में ध्वनि की व्याप्ति है जो आधुनिक भौतिक-विज्ञान की भी मान्यता है। वाणी के विकास में शब्द का उच्चारण, ध्वनि का प्रतीकात्मक रूप ही है।[२] हिब्रू धर्म में "जिहोव्ह" की धारणा में इसी प्रकार की प्रकृत्ति प्राप्त होती है।[३] इसी कारण से माण्डूक्योपनिषद् में 'ॐ' अक्षर को सब कुछ कहा गया है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, उसी की व्याख्या है। इसके अलावा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है, वह भी 'ओंकार' है।[४] इसी से उपनिषदों में ओंकारोपासना का अत्यधिक महत्त्व है। यही कारण है कि वहाँ मिथुन रूप ॐ की कल्पना की गई है। इस अक्षर में वाक् और प्राण का मिथुन रूप निहित है। ओंकार का उच्चारण 'वाक्' शक्ति से सम्पन्न होता है और प्राण से ही निष्पन्न होनेवाला है, और इसी कारण, मिथुन से संयुक्त है। इसी ओंकार की उपासना देवों ने असुरों के पराभव के लिये की थी और इसी उद्गीथोपासना के फलस्वरूप असुररूप पापों का नाश सम्भव हो सका।[५] यहाँ पर देवासुर संग्राम का प्रकीकात्मक अर्थ स्पष्ट होता है जो प्राणों (इन्द्रियों) में व्याप्त पुण्य और पाप, सद् और असद् के रूप में देवों और असुरों का चिरन्तन युद्ध है।

---

१. गीतारहस्य द्वारा तिलक, पृ० ५७७-५७८, वाल्यूम १ (पूना १९३१)
२. द मीनिंग आफ मीनिंग द्वारा आइजन रिचाड्स—परिशिष्ट, पृ० ३०७ (लंदन १९४६)
३. हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स एण्ड सरीमनीज द्वारा ड्यूबियस, पृ० १०६ (आक्सफोर्ड १९०६)
४. माण्डूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण, श्लोक १, पृ० २४ (उप० भा०, खंड २)
५. दे०, छांदोग्योपनिषद्, द्वितीय खंड, प्रथम अध्याय, पृ० ४६-६० (उ० भा०, खण्ड ३)

ओंकार की धारणा में उसके तीन वर्णों 'अ', 'उ' और 'म' का प्रतीकार्थ समाविष्ट है। आत्मा के चार पाद—वैश्वानर, तेजस्, प्राज्ञ और तुरीय अवस्थायें मानी गई हैं। यहाँ पर यह संकेत करना पर्याप्त होगा कि आत्मा के तीन पादों की समानता 'ओंकार' की मात्राओं से की गई हैं और वे मात्रायें हैं—अकार उकार और मकार। इन मात्राओं का तात्त्विक अर्थ, ॐ के उस विस्तृत प्रतीकार्थ की ओर संकेत करता है जिसका स्थान विश्व, तेजस् और प्राज्ञ की सापेक्षता में, उपासना की उस भावभूमि को प्रस्तुत करता है जो मानवीय अनुभूति तथा अंतर्दृष्टि का मोहक स्वरूप है। अतः पाद और मात्रा का अन्योन्य सम्बन्ध है।

'अकार' का महत्त्व वाणी और भाषा की दृष्टि से अभिन्न है क्योंकि सम्पूर्ण वाणी में 'अकार' का निश्चित स्थान है। जिस प्रकार 'अकार' से सारीं वाणी व्याप्त है, उसी प्रकार वैश्वानर (अग्नि) समस्त विश्व में व्याप्त है। अतः सर्वव्यापकता के अर्थ में 'अकार' और 'वैंश्वानर' की समानता है। अतः, अकार विश्व में व्याप्त वह तत्त्व है (ब्रह्मा) जो सृजनात्मक एवं विकासात्मक है। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि "जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्व के कारण ओंकार की पहली मात्रा है। जो उपासक इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और (महापुरुषों) आदि (प्रधान) होता है।[१]" इसी प्रकार स्वप्नावस्था वाला तेजस्, ओंकार की दूसरी मात्रा, उकार' का पर्याय है। उकार और तेजस् की समानता का कारण यह है कि दोनों का धर्म उत्कर्ष है। जिस प्रकार 'अकार' से 'उकार' उत्कृष्ट है, उसी प्रकार विश्व से तेजस् उत्कृष्ट हैं। जिस प्रकार उकार, अकार, और 'मकार' से मध्य में स्थित है, उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञ के मध्य में तेजस्।[२] अतः मध्य में होने के कारण 'उकार' का धर्म समरसता एवं संतुलन को स्थापित रखना है जिसके द्वारा सृष्टि स्थित रहती है। यह 'विष्णु' का स्वरूप हैं। अंत में, मकार और सुषुप्तावस्था में भी समानता है। यह समानता "मिती" के कारण है जिसकी व्याख्या महाप्रभु शंकराचार्य ने इस प्रकार की है—"मिति मान को कहते हैं, जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकार का बाट) से जो तौले जाते है, उसी प्रकार प्रलय और तेजस् मापे जाते हैं क्योंकि ओंकार का समाप्ति पर उसका पुनः प्रयोग किये जाने पर मानों अकार और उकार, मकार में

---

१. जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा—माडूक्योपनिषद्, आगम प्रकरण, श्लोक ६, पृ० ६६ (उप० भा०, खंड २)

२. माण्डूक्योपनिषद्. आगम प्रकरण, पृ० ७०-७१ (उप०भा०, खंड २)

प्रवेश कर उससे पुनः निकलते हैं ।[1] इस विवेचन में सृष्टि की उत्पति एवं स्थिति का अंतिम पर्यवसान 'मकार' तत्व में हो जाता है । पुनः जब सृष्टि का उन्मेष एवं सृजन होता है, तब 'मकार' से दोनों सृष्टि-तत्व वहिर्गामी होते हैं । शिव की दो शक्तियों— संहार एवं लय का यहाँ स्पष्ट संकेत प्राप्त होता हैं जो उसके रुद्र एवं महेश रूप के प्रतीक हैं । इसी का प्रतीकात्मक निर्देश माण्डूक्योपनिषद् में इस प्रकार किया गया है— "सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनीति ह व इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एव वेद ।[2] अर्थात् सुषुप्त जिसका स्थान है वह प्राज्ञ, मान और लय के कारण ओंकार की तीसरी मात्रा है । जो उपासक ऐसा जानता हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत का मान प्रमाण कर लेता है और उसका लयँ स्थान हो जाता हैं ।

ओंकार के इस वर्ण-प्रतीकार्थ के प्रकाश में त्रिमूर्ति (Trinity) की धारणा का संकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है । त्रिमूर्ति में अकार, उकार और मकार का क्रमशः संकेत सृष्टि, संतुलन ओर संहार (निलय) के रूपों में प्राप्त होता है । प्रकृति की इन तीन प्रमुख शक्तियों का मानवीकरण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा हुआ है । प्रकृति-क्रियाओं में संतुलन का रहस्य इन तीन शक्तियों के समुचित कार्य-कारण सम्बन्ध पर आश्रित है जिसका प्रतीकात्मक निर्देशन "त्रिमूर्ति" की धारणा में निहित है । इसके अतिरिक्त, ब्रह्म वाचक ओंकार एक अन्य तथ्य की ओर संकेत करता है । ब्रह्म का यह अक्षर 'प्रतीक' मात्रा के द्वारा ज्ञेय तत्व है, पर अमात्र रूप परब्रह्म में किसी की गति नहीं है । उस परमगति की प्राप्ति तुरीय आत्मा के अन्तर्गत मानी गई जो आत्मसंज्ञक ब्रह्म का स्थान है । मात्रारहित ओंकार तुरीय आत्मा ही है ।[3] इस प्रकार जो भी ओंकार के इस महत् प्रतीकात्मक अर्थ का चिंतन करता है, वह आत्मरूप ब्रह्म में ही एकाकार हो जाता है । यही मोक्ष की स्थिति है ।

ओउम् के अतिरिक्त भारतीय विचारधारा में अन्य प्रतीकों की भी कल्पना की गई है । खं रूप ब्रह्म "आकाश" का पर्याय । यही आकाश ब्रह्म ओंकार है । ब्रह्म विशेष नाम है और खं उसका विशेषण है । यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आकाश जड़रूप नहीं है, पर वह सनातन परमात्मा का प्रतीक है । वृहद-उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—ऊँ खं ब्रह्म । खं पुराणं बायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणी पुत्रों वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैरनेन यद् वेदितव्यम ।[4] अर्थात "आकाश ब्रह्म ओंकार

१. शांकर भाष्य—माण्डूक्योपनिषद्, पृ० ७२, उपनिषद्भाष्य खंड २
२. माण्डूक्योपनिषद् पृ० ७२ श्लोक ११, आगम प्रकरण
३. माण्डूक्योपनिषद्,श्लोक १२, पृ० ७६ (उप० भा०, खंड २)
४. बृहदारण्यकोपनिषद्, प्रथम ब्राह्मण, पंचम अध्याय, पृ० ११७५

है। आकाश सनातन है जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही खं है—ऐसा कौरव्यायणीपुत्र ने कहा। यह ओंकार वेद है, ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो ज्ञातव्य है उसका उससे ज्ञात होता है।" जैसा कि प्रथम संकेत किया गया कि ब्रह्म के 'अपर' और 'पर' दो रूप हैं, उसी प्रकार खं का एक रूप सनातन निरुपाधि ब्रह्म का प्रतीक है और दूसरा, आकाश रूप वायु से युक्त सोपाधिक रूप है। फिर कहा गया कि ओउम् ही वेद है, अर्थात वेद ज्ञातव्य होने से ज्ञान है। अतः ओंकार वेदवाचक ज्ञान का प्रतीक भी है।

खं शब्द सनातन आकाश तत्व का प्रतीक है। इस आकाश तत्व में द्युलोक, पृथ्वी, भूत, भविष्यादि सब ओत-प्रोत हैं। परन्तु गार्गी ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया था कि "यह आकाश किसमें व्याप्त है ?" इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा था कि "अक्षर से भिन्न कोई श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई मंता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय ही इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है।[1]"

ब्रह्म द्योतक इन अव्यक्त प्रतीकों के अतिरिक्त उपनिषद्-साहित्य में अनेक ब्रह्मद्योतक व्यक्तप्रतीक प्राप्त होते हैं यथा अक्षर पुरुष, कार्य ब्रह्म का प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष और यक्ष। पुरुष (देवरूप) ब्रह्म का वह प्रतीक है जो सर्वभूतों में व्याप्त अन्तरात्मा का प्रतीक है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि "इस देवपुरुष का अग्नि मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र है, दिशायें कान हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी है, वायु प्राण है, तथा सारा विश्व जिसका हृदय और जिसके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है वह देवपुरुष सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा है। इसे ही अक्षरपुरुष कहा गया है जिससे चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।[2] सत्य में, ब्रह्म का यह क्षर रूप ही है जो अभिव्यक्तीकरण की ओर अग्रशील है। इसी क्षर या कार्यरूप ब्रह्म का एक अन्य प्रतीक अश्वत्थ वृक्ष है। जिस प्रकार कार्य (तूल) का निश्चय करलेने पर उसके मूल का पता लग जाता है, उसी प्रकार संसार रूप कार्यवृक्ष के निश्चय से, उसके मूल ब्रह्म का रूप हृदयंगम हो जाता है। अतः ज्ञेय और ज्ञाता का अन्योन्य सम्बन्ध है जो इस वृक्ष प्रतीक के द्वारा सुन्दरता से व्यक्त हुआ है। इस वृक्ष को सनातन भी कहा गया है जिसका मूल ऊपर की ओर, शाखायें नीचे की ओर हैं। वही विशुद्ध ज्योतिस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा गया है। सम्पूर्ण लोक उसी में आश्रित हैं।

---

१. बृहद्-उपनिषद् अष्टम ब्राह्मण, तृतीय अध्याय, पृ० ७७८

२. मुण्डकोपनिषद्, द्वितीय मुण्डक, प्रथम खंड, पृ० ५७ (उप० भा०. खंड १)

कोई भी उसका अति-क्रमण नहीं कर सकता। यहीं निश्चय वह ब्रह्म है।[१] इस कथन में सृष्टितत्व का संकेत प्राप्त होता है क्योंकि उसकी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के द्वारा सृष्टि का प्रसार ही निर्देशित है। इस दृश्यमान प्रसार का अस्तित्व उसके मूल-ज्योतिस्वरूप अमृत ब्रह्म पर आश्रित हैं। काव्य में भी इस वृक्ष का प्रतीकत्व मान्य रहा है जैसा कि तुलसी और कबीर में प्राप्त होता है।

केनोपनिषद् की एक लघुकथा में ब्रह्म को यक्ष (श्रेष्ठ) की संज्ञा भी दी गई है। देवासुर संग्राम में ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की और अहंकारी देवतागण यह समझने लगे कि विजय उन्हीं ने स्वयं प्राप्त की है। तब ब्रह्म देवगणों के इस अभिप्राय को जान गया और उनके सामने यक्ष रूप में प्रादुर्भूत हुआ। 'यह यक्ष कौन है?' देवता यह न जान सके। इसके बाद क्रमशः अग्नि और वायु यक्ष के पास गए, परन्तु वे उसके सत्य रूप का साक्षात्कार न कर सके। अन्त में, इन्द्र के जाने पर वह यक्ष अन्तर्धान हो गया और इन्द्र उसी आकाश में एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री "उमा" (पार्वतीरूपिणि ब्रह्मविद्या) के पास गया जिससे उसे पता चला कि यह यक्ष कोई अन्य नहीं, स्वयं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म हैं।[२] इस कथा का प्रतीकार्थ यही है कि प्रकृति शक्तियों (जिसमें अग्नि, वायु और इन्द्र है) में ये देवगण ही प्रमुख है जो किसी विशिष्ट शक्ति के प्रतीक हैं। इन देवों की यह प्रमुखता इस कारण से है कि उन्होंने सबसे प्रथम 'ब्रह्म' का साक्षात्कार "ज्ञान" (उमा) के द्वारा किया। इससे यह भी ध्वनित होता है कि ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानात्मक है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त जिन विविध प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का विहंगम विवेचन किया गया है, उनका समष्टि रूप ही उपनिषद् साहित्य में प्राप्त प्रतीक-दर्शन का परिचायक है। इन सभी प्रतीकों का महत्व धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से है, क्योंकि भारतीय धर्म तथा दर्शन में इन प्रतीकों का सदा से महत्व रहा है। अनुष्ठान, पुराण-प्रतीक, शब्द-प्रतीक और ब्रह्मद्योतक प्रतीक—इन सभी क्षेत्रों में प्रतीक का एक क्रमिक विकसित विचारात्मक एवं धारणात्मक रूप मिलता है। उपनिषद् साहित्य के प्रतीक-दर्शन में धर्म, दर्शन और अनुभूति का एक अत्यन्त मोहक रूप मिलता है। उपनिषद्-प्रतीकों का 'सत्य' केवल वहिरन्तर नहीं है, वह अभ्यन्तर होने से 'व्यंजनात्मक' अधिक है। यही बात कला और साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों के लिये

---

१. कठोपनिषद्, तृतीयद बल्ली, पृ० १४६ (उप० भा० खंड १)

२. केनोपनिषद्, तृतीय खण्ड, पृ० १००

भी सत्य है। डा० राधाकृष्णन् ने एक स्थान पर इसी सत्य की ओर संकेत किया है कि "यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नहीं है। वह अनन्त का जीवित साक्षात्कार है। हम प्रतीकों को विश्वास के द्वारा स्वीकार करते हैं जो 'परम-सत्य' के साक्षात्कार करने का माध्यम है"[१] अतः उपनिषद्-प्रतीकों का महत्व आत्मसंज्ञक ब्रह्म की अनुभूति करने में निहित है जिससे मानवीय-चेतना का ऊर्ध्वगामी आरोहण हो सके। इस प्रकार प्रतीकों का ध्येय मानवीय चेतना को 'श्रेय' की ओर अग्रसर करना है। भारतीय चिन्तन में 'धर्म' का अर्थ धारण करना है और इस धारण की भावना का मुख्य कार्य है, मनुष्य मात्र को श्रेय की ओर ले जाना। अतः धर्म, अपने प्रतीकों के द्वारा मानव-आत्मा को श्रेय की ओर ले जाता है बृहद् उपनिषद् में कहा गया है—"स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्म....[२]" अर्थात् तब भी ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नही हुआ। उसने श्रयरूप धर्म की अतिसृष्टि की।

उपनिषद्-साहित्य में प्रतीक-दर्शन मूलतः ज्ञानपरक है। ज्ञान का ध्येय नित नवीन अभियानों का साक्षात्कार है, वह एक गतिमान चिंतन कहा जा सकता है। यही कारण है कि इन प्रतीकों में अव्य त विचारों (Abstraclion) तथा धारणाओं का समष्टीकरण प्राप्त होता है। अतः उपनिषद् प्रतीकों का स्वरूप संकल्पात्मक (Affirmative) है। इससे यह भी संकेत प्राप्त होता है कि प्रतीक-दर्शन की समस्त आधारशिला उनके उचित प्रयोग अथवा विवेचन पर भी आश्रित है। इसी समुचित विवेचन पर प्रतीक का अर्थ निहित रहता है, वह केवल कल्पना एवं रुढ़िवादिता के दायरों में आबद्ध नहीं रहता है। उपनिषद् प्रतीक-दर्शन इसी तथ्य को समक्ष रखता है जिसकी आधारशिला पर मैंने अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

---

१. रिकवरी आफ फेथ द्वारा डा० राधाकृष्णन्. पृ० १५२ (लंदन १९५६)
२. बृहद् उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण. पृ० २९२

भाषा का प्रतीक-दर्शन | ६

भाषा का विकास इस सत्य को सामने रखता है कि मानवीय चेतना का विकास 'भाषा' के विकास से सम्बद्ध है। दूसरे शब्दों में, भाषा और मानवीय चेतना का अन्योन्य सम्बंध रहा है। आधुनिक चिंतन ने इस सम्बंध को एक दार्शनिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया है। इस सम्बंध का आधार, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो भाषा की उस इकाई से है जिसे हम 'शब्द' या 'प्रतीक' की संज्ञा देते हैं। जब हम 'शब्द' को लेते हैं, तो स्वयमेव उसके साथ अर्थ-बोध का प्रश्न उठता है, क्योंकि शब्द का अस्तित्व उसके अर्थ में तथा उसके प्रयोग के संदर्भ में समाहित रहता है। इसी भाव को विज्डम महोदय ने एक अत्यंत व्यापक रूप में ग्रहण किया है कि प्रत्येक दार्शनिक प्रस्ताव शब्द की महत्ता को समक्ष रखता है।[१]

इस प्रकार, आधुनिक चिंतन ने प्रतीक के अर्थ तथा उसके प्रयोगात्मक संदर्भ को भाषा के गठन का आधार माना है। कदाचित्, इस तर्क का सहारा लेकर, रसल ने भाषा के गुणों के द्वारा संसार के रूपाकार को समझने की जो बात कही है,[२] वह सत्य में 'शब्द-प्रतीक' की महत्ता को ही सामने रखती है। मानवीय क्रियाओं के मूल में शब्द और उसके अर्थ के सम्बंध पर आश्रित भाषा का प्रतीक-दर्शन प्रतिष्ठित है। उपनिषद्-साहित्य में 'शब्द-प्रतीकों' का महत्त्व भी सम्बंधगत माना गया है। वहाँ कहा गया है कि सम्पूर्ण चराचर विश्व के सम्बंध शब्द-प्रतीकों के द्वारा एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। अतः यह सारा ब्रह्मांड शब्दमय अथवा नाममय ही है, नाम के (प्रतीक) द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप मुखर होता है। यही कारण है कि वाक् या वाणी को छांदोग्योपनिषद् में तेजोमयी कहा गया है,[३] उसे विराट की संज्ञा भी दी गई है।

शब्द-प्रतीक के इस विस्तृत भावभूमि का अपना महत्त्व तो अवश्य है, पर यह

१—सिक् (Psyche); विज्डम, पृ० १५५।
२—एन इन्क्वारी इन्टू मीनिग एन्ड ट्रूथ; बर्ट्रेंड रसल, पृ० ४२९।
३—छान्दोग्योपनिषद्. पृ०६२६ (उपनिषद् भाष्य, खंढ ३; गीता प्रेस)।

महत्त्व शब्द-प्रतीकों के आपसी सम्बंध में निहित है जो तार्किक होना चाहिए। यही तार्किक-सम्बंध, भाषा के प्रतीक-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। इस सम्बंध पर अनेक भाषा-शास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से विचार किया है। रसल, वेटिंगस्टाइन, अरबन और कारनप आदि। भाषा-शास्त्रियों ने इस तार्किक सम्बंध पर जोर देते हुये एक दार्शनिक के कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला है कि वह एक ऐसी नवीन भाषा का निर्माण करे जिसमें अतार्किक शब्द-प्रतीकों का सम्बंध न हो और उनके मध्य में एक ऐसा गठन हो कि वे सम्पूर्ण वाक्य-विन्यास को अर्थ प्रदान कर सकें। उपर्युक्त अंतिम पंक्ति का आखिरी अंश स्वयं मेरा जोड़ा हुआ है जो प्रतीक-दर्शन का भाषा से सापेक्षिक महत्त्व प्रदर्शित करता है। ऐसी ही भाषा को बर्टेंड रसल ने 'आदर्श-भाषा' की संज्ञा प्रदान की है।[1] मेरे विचार से आदर्श का यह रूप स्थिर नहीं माना जा सकता है, पर उसे गत्यात्मक ही मानना उचित होगा। इसका कारण यह है कि शब्द-प्रतीकों का अर्थ संदर्भ के प्रकाश में तथा परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के संदर्भ में परिवर्तित होता रहता है या उसी शब्द में नवीन अर्थ-तत्त्वों का समावेश होता रहता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो 'ईश्वर', 'अणु' आकाश समय (दिक्-काल) आदि की अवधारणाओं में समय-समय पर नवीन अर्थ तत्त्वों का सन्निवेश होता रहा है। दर्शन के विशाल क्षेत्र में तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी हमें ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो जायेंगे। अतः भाषा के प्रतीक-दर्शन में दो तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। प्रथम, तार्किक सम्बंध तथा दूसरा तार्किक वाक्य-विन्यास। यदि इस संबंध में शब्द-प्रतीकों का उचित प्रयोग नहीं किया गया (यदि मैं कहूँ उनका अपव्यय किया गया) तो हो सकता है कि अर्थ का अनर्थ हो जाय।

उपर्युक्त विवेचन में मैंने जो 'शब्द-प्रतीक' का प्रयोग किया है, वह इस दृष्टि से कि बहुत से शब्द, प्रतीक का रूप धारण नहीं कर पाते हैं और केवल मात्र 'शब्द' ही रह जाते हैं। आधुनिक चिंतन के क्षेत्र में हम उन्हीं शब्दों को प्रतीक का अर्थ दे सकते हैं जो किसी विशिष्ट भाव, विचार अथवा धारणा का प्रतिनिधित्व करें। दूसरे शब्दों में, जहाँ पर भी वैचारिक क्रिया है, वहाँ पर किसी न किसी रूप में प्रतीकीकरण की क्रिया अवश्य वर्तमान रहती है। इसीसे, विचारों का आवश्यक कार्य प्रतीकीकरण है अतः विचार और शब्द-प्रतीकों का अन्योन्य सम्बंध है। धर्म, साहित्य, दर्शन, विज्ञान आदि समस्त मानवीय क्रियाओं में प्रतीकों के सृजन एवं स्थिरीकरण में यह प्रवृत्ति सदा से काम करती आई है। अरबन ने इसी स्थिति

---

१. लेंग्वेज एण्ड रियाल्टी, पृ० २५।

को एक अत्यन्त व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयत्न किया है, क्योंकि उसका कथन है कि किसी भी शब्द-प्रतीक में विश्वास मूल्तः तत्व ज्ञान या दर्शन में विश्वास ही माना जायेगा ।[1] भाषा का समस्त प्रतीक-दर्शन इसी 'विश्वास' का प्रतिरूप है। धार्मिक (साहित्य में भी) एवं दार्शनिक दृष्टि से, हम शब्द-प्रतीकों की अर्थवत्ता पर, उनकी दिव्यता पर इतना अधिक 'विश्वास' करने लगते हैं कि वे 'शब्द' ही हमारे सर्वस्व हो जाते हैं। यदि हम धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों के इतिहास को देखें, तो कभी-कभी ऐसी भी दशा उत्पन्न हो जाती है जब 'शब्द-प्रतीकों' के प्रति हमारा 'विश्वास' तर्कमय न होकर, क्रमशः 'अंधविश्वास' में परिणत हो जाता है, और तब एक संकुचित प्रवृत्ति का उदय होता है जिसका दर्दनाक इतिहास धर्म तथा पुराण के क्षेत्रों में देखा जा सकता है। यही कारण है कि जब हम किसी 'प्रतीक' पर व्यर्थ चिंतन या अर्थ देने का प्रयत्न करते हैं, तब हम उस 'प्रतीक' के अर्थ के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सकते हैं। आज का सारा दार्शनिक चिंतन शब्द-प्रतीकों के सही विवेचन और उनके संदर्भगत प्रयोग पर अधिक बल देता है। यहाँ पर भाषाविज्ञानी एवं दार्शनिक में अंतर भी देखा जा सकता है, जो काफी स्पस्ट है। एक भाषाशास्त्री वाक् के न्यूनतम अंग 'शब्द' की खोज में अधिक रहता है, जबकि एक दार्शनिक अर्थ के न्यूनतम अंग का इच्छुक होता है। उदाहरण स्वरूप एक भाग्यशाली के लिए 'ईश्वर' एक अंगमात्र ही रहता है, पर यही शब्द, एक दार्शनिक के लिए विश्लेषण एवं विवेचन का विषय बन जाता है और वह भी संदर्भ के प्रकाश में। भाषा के प्रतीक-दर्शन में शब्द-प्रतीकों का केवल प्राथमिक अर्थ ही मान्य नहीं है, पर उसका द्वितीय या अन्य अर्थ भी अपेक्षित है। ज्ञान के व्यापक क्षेत्र की व्यंजना के लिए भाषा का यह प्रतीक दर्शन एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। इसीसे, शब्दों के अंतराल में अर्थों का समष्टीकरण होता है, जिसके फलस्वरुप 'प्रतीक' संकल्पात्मक हो जाते हैं।

प्रतीकों की इस संकल्पात्मक भावभूमि के आधार पर ज्ञान का चिन्तन का प्रसाद निर्मित होता है। प्रतीकों का नित नवीन सृजन, एक प्रकार से, ज्ञान-तंतुओं को व्यवस्थित रुप में रखता है आधुनिक दार्शनिक विचारधारा की सबसे मुख्य प्रवृत्ति यह है कि समस्त ज्ञान का विकास भाषा और शब्द-प्रतीकों के क्रमिक सगठन एवं उनके विवेचन का इतिहास है। भौतिक दार्शनिक विचारधारा का केन्द्रविंदु यही तथ्य है। यदि हम लॉक से लेकर आधुनिक तार्किक निश्चयवादी विचारकों (Logical positivism) का अनुशीलन करें तो हमें यह तथ्य ज्ञात होता है कि समस्त प्रतीकों एवं शब्दों का उद्गम स्रोत भौतिक पदार्थो का इन्द्रियपरक अनुभव ही है जो

१. लैंग्वेज एण्ड फिलासफी; मैक्स ब्लैक पृ० १४४।

अंततोगत्वा तात्त्विक एवं अभौतिक क्षेत्रों की व्यजना करते हैं । इसीसे, ह्वाइटहेड का मत है कि प्रतीकात्मक संदर्भ मानव अनुभव और उस पर आश्रित ज्ञान में एक विवेचनात्मक अंश है ।[१] अतः भाषागत प्रतीक का सृजन और उनका एक संगठित सूत्र में अनुस्यूत होना आधुनिक तर्कशास्त्र की दार्शनिक आधारशिला है ।

दार्शनिक दृष्टि से भाषागत प्रतीकों को हम दो विभागों में विभाजित कर सकते हैं जिसके द्वारा मानवीय ज्ञानक्षेत्रों का एक संगठित रूप प्राप्त होता है । दर्शन का क्षेत्र (या ज्ञान) भौतिक तथा तात्त्विक दोनों क्षेत्रों को अपने अंदर समेटने में समर्थ है । दार्शनिक प्रश्न दो प्रकार के होते हैं । एक वे जो शुद्ध तार्किक होते हैं और दूसरे वे, जो भाव, अनुभूति तथा तर्क से समन्वित होते हैं । इन दो प्रकार के प्रश्नों का विश्लेषण करने पर दो प्रकार के प्रतीकों का स्वरूप मुखर होता है । तार्किक प्रश्नों का सुंदरतम रूप उन ज्ञान-क्षेत्रों में प्राप्त होता है जो दृश्य जगत् से सम्बन्धित होते हैं जैसे तर्क शास्त्र, ज्ञान-सिद्धांत-शास्त्र, भौतिक शास्त्र, इतिहास आदि । इनमें प्रयुक्त प्रतीकों का स्वरूप भौतिक जगत् सापेक्ष अधिक होता है और वे विवेचनात्मक बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होते हैं । दूसरे प्रकार के प्रतीक तात्त्विक ज्ञान क्षेत्रों में प्रयुक्त होते हैं जैसे तत्त्वज्ञान शास्त्र (Metaphysics), गणित, धर्म, भौतिक शास्त्र आदि । यह विभाजन इस बात का द्योतक नहीं है कि प्रथम वर्ग के प्रतीक केवल भौतिक क्षेत्र की ही व्यंजना करते हैं और द्वितीय वर्ग के प्रतीक केवल तात्त्विक क्षेत्र की । सत्य तो यह है कि किसी भी ज्ञान क्षेत्र के प्रतीक जब चिंतन के माध्यम बन जाते हैं, तो वे मूलतः दार्शनिक क्षेत्र की व्यंजना करते हैं । शब्द अपने उद्‌गम रूप में भौतिक ही होते हैं, परन्तु यदि उन्हें अभौतिक क्षेत्र की व्यंजना करनी होती है, तो वे प्रतीकात्मक रूप ही धारण करते हैं ।[२] इसका विवेचन एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है । कार्ल जेस्पर्स ने प्रतीकों (जिसे उसने 'साइफ़र' (cypher) की भी संज्ञा दी है) को विषयगत या भौतिक तो माना है, पर उनका औचित्य भौतिक ज्ञान के उन्नयन या ऊर्ध्वीकरण में माना है जो मूल रूप में न विषयगत है और न विषयीगत, पर वह तो इन दोनों की मिश्रित अभिव्यक्ति है ।[३] अतः मैं यह मानता हूँ कि कोई भी ज्ञान, जहाँ तक प्रतीक-दर्शन का प्रश्न है, अपने में निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है । इस सापेक्षता में विरोधी तत्त्वों का समावेश तो रहता है, पर यह विरोधिता 'प्रतीक' की भावभूमि में प्रायः तिरोहित हो जाती है । सूक्ष्म रूप से, वस्तु और प्रतीक में सादृश्यता का जो रूप दृष्टिगत होता है, उसके

---

१ प्रोमेस एण्ड रियाल्टी; ए॰ एन० ह्वाइटहेड, पृ० २६३ ।
२. लेंग्वेज एण्ड रियाल्टी; अरबन पृ०६४३ ।
३. ट्रूथ एण्ड सिम्बल; कार्ल जेस्पर्स. पृ० १९-२१ ।

मूल में यह 'विरोधिता' समाविष्ट तो रहती है, पर प्रतीक की अर्थवत्ता में यह विरोधाभास तिरोहित होकर, वस्तु और प्रतीक में अभेदत्व की सृष्टि करता है। काव्य भाषा तथा अन्य ज्ञानक्षेत्रीय भाषाओं में प्रतीकीकरण की प्रक्रिया में यह तथ्य समान रूप से मान्य हो सकता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है कि ज्ञान का स्वरूप शब्द-प्रतीकों की विवेचना पर आधारित तो अवश्य रहता है, पर व्यर्थ के शाब्दिक वितंडा से ज्ञान का सत्य रूप भी धूमिल पड़ सकता है। इस सत्य को उपनिषदकार ने स्वीकार किया था क्योंकि

तमेव धीरो विज्ञान प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण: ।
नानुध्यायाद बहूञ्छब्दान् वाचौ विग्लापनाँहि तदिति ।[1]

अर्थात् 'बुद्धिमान् ब्राह्मण को उसे ही जान कर उसी में प्रज्ञा करनी चाहिए। बहुत शब्दों का निरन्तर चिंतन न करें (अनुध्यान), वह तो वाणी का श्रम ही है।'

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान और प्रतीक-दर्शन का अन्योन्य सम्बंध है अथवा वे एक दूसरे के पूरक है। हमें ज्ञान की इसलिए आवश्यकता एवं महत्ता है उसके द्वारा हम अपने ज्ञान की पुष्टि कर सकें, तो दूसरी ओर हमें ऐसे पूर्ण प्रतीकों की आवश्यकता भी होती है जो ज्ञान की प्रगति में सहायक हो सकें।[2] विज्ञान, दर्शन और धर्म के प्रतीकों का ज्ञान सापेक्ष सम्बंध, इसी तथ्य पर अश्रित है। भाषा के प्रतीक-दर्शन में, जहाँ तक कला तथा साहित्य का सम्बंध है, उसके बारे में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि ये मानवीय क्रियाएँ ज्ञान की कोटि के अंदर नहीं आती हैं, वे तो भावाभिव्यक्ति की ही माध्यम हैं, इनका ज्ञान से क्या सरोकार ? परंतु भाषा के उपर्युक्त प्रतीक-दर्शन के प्रकाश में मैं कला तथा साहित्य को भी ज्ञान का विषय मानता हूँ और उसके भी प्रतीक हमारे ज्ञान की भावात्मक अभिवृद्धि करने में समर्थ हैं। कला और साहित्य में 'अनुभव' को भी उसी प्रकार स्थान दिया गया है जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनादि में। जहाँ भी अनुभव है, वहाँ ज्ञान का कोई न कोई रूप अवश्य वर्तमान रहता है। और हमारे प्रतीक इसी अनुभव को स्थिर करते हैं अथवा उसकी अभिव्यक्ति में सहायक भी होते हैं। इस व्यापक आधारभूमि के प्रकाश में यह कहना न्यायसंगत होगा कि प्रतीकवाद (यहाँ 'वाद' शब्द किसी 'ism' के अर्थ में न होकर केवल प्रतीक-दर्शन या सृजन का व्यंजक है) की धारणा इस तथ्य को भी समक्ष रखती है कि ज्ञान भी एक प्रकार का प्रतीकवाद है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्; अध्याय ४, ब्राह्मण ४, पृ० १०९१(उपनिषद् भाष्य खंड४)
२. द मीनिंग आफ मीनिंग; जे० रिचर्डस और सी० के० ओग्डन, पृ० १०५।

अर्थ-विज्ञान और प्रतीक

भाषा के प्रतीक-दर्शन के उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में यदा-कदा शब्द और अर्थ के सम्बंध पर भी संकेत किया गया हैं। जब हम 'ज्ञान' की बात करते हैं, तो शब्द-प्रतीकों के अर्थगत विवेचन की बात समक्ष आती है। तार्किक वाक्य-विन्यास और अर्थ-विज्ञान का, प्रतीक की दृष्टि से अन्योन्य सम्बंध है। वाक्य विन्यास में प्रतीकों की नियोजना और प्रकार के द्वारा ही अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। इस दृष्टि से, हम किन्हीं दो अभि-व्यक्तियों को उसी सीमा तक समान मानते हैं जहां तक उनमें प्रयुक्त प्रतीक भी समान हो। इस प्रकार, जब दो अभिव्यक्तियाँ या प्रतीक, वाक्य-विन्यास की दृष्टि से समान-धर्मी होते हैं, तब कारनाप के शब्दों में उनकी आयोजना वाक्य-विन्यांसात्मक 'विधान' के अन्तर्गत आती है।[1] शब्द-प्रतीकों की यह महत्ता एक अन्य दृष्टि से भी मान्य है। यदि इन प्रतीकों की परिभाषा नहीं हो सकी तो उनका वाक्य विन्यास में कोई भी निश्चित अर्थ सम्भव नहीं हो सकेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रतीक की परिभाषा, उसके अर्थ का स्पस्टीकरण ही है। अतः अभिव्यक्ति के संदर्भ में, प्रतीकों का स्थान इस बात पर आश्रित है कि वे प्रतीक कहाँ तक पारिभषित (defined) हो सकें हैं? ऐसी अभिव्यक्तियों को दो प्रकारों में बांटा जाता हैं—एक वाक्य और दूसरे, अंकीय अभिव्यक्तियां (numerical expressions)। अर्थ और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से, दो प्रकार की भाषाओं का भी रूप सामने आता है। एक ऐसी भाषा, जिसके प्रतीक स्थिर होते हैं जो किसी वाक्य-विन्यास में इस प्रकार नियोजित रहते हैं कि उनके द्वारा एक 'ठोस एवं प्रत्यक्ष सम्पूर्णता' भासित हो सके। ऐसे प्रतीक हमें कलन (Calculus), गणित और भौतिक-शास्त्र में प्राप्त होते है। ऐसी भाषा को स्थिर भाषा की संज्ञा दी गई है। दूसरी ओर, अस्थिर भाषा में तार्किक प्रतीकों की योजना प्राप्त तो होती है, पर इसके साथ ही साथ वर्णनात्मक प्रतीकों की भी योजना रहती है। यही कारण है कि अस्थिर भाषा में अनेक अभिव्यक्तितों के प्रकार मिल जाते हैं। साहित्य, धर्म, दर्शन तत्वज्ञान आदि मानवीय ज्ञान क्षेत्रों में ऐसी ही भाषा के दर्शन होते हैं। यहां पर कारनाप ने अस्थिर भाषा को विज्ञान के लिए ही मान्य माना है, पर अस्थिर भाषा को अन्य ज्ञान क्षेत्रों में अभिव्यक्ति का माध्यम माना जा सकता है। दर्शन, साहित्य और धर्म में प्रतीकों का स्थिर रूप नहीं प्राप्त होता है, वहां पर अधिकांशतः प्रतीकों का वर्णनात्मक रूप (या विवेचनात्मक) ही मुखर होता है। भाषा का प्रतीक-दर्शन

१—द लाजिकल सिन्टैक्स आफ लेंग्वेज पृ० १५।

जितना ही गत्यात्मक (dynamic) होगा, उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति तथा उसकी अर्थवत्ता उतनी ही विकसित हो सकेगी। इस दृष्टि से, किसी भी राष्ट्र की भाषा कोई पौराणिक कल्पना नहीं होती, वह तो समस्त राष्ट्र का स्वभाव है, उसकी शक्ति है और उसकी योग्यता है।[1]

इस प्रकार प्रतीक का महत्व, अर्थ तथा वाक्य-विन्यास, दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रतीक-दर्शन के बिना इन दोनों का मूल्य संदिग्ध ही माना जायेगा। परन्तु अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से प्रतीक का मूल्य भी संदिग्ध हो सकता है, यदि 'वह' परिभाषित अर्थ (defined meaning) को देने में असमर्थ हो। इसी भाव को एक भारतीय शब्द 'निरुक्त' भी अभिव्यंजित करता है। वहाँ शब्द निरुक्त, अर्थ अभिव्यक्ति है। शब्द कहने में आ गया, पर अर्थ कथन से परे अनुभव या दर्शन चाहता है।[2] सत्य में यही दर्शन, अर्थ विज्ञान की पीठिका है क्योंकि विचारात्मकता का आवश्यक कार्य जहां एक ओर अर्थ-विवेचन है, वहीं उसका कार्य प्रतीकीकरण भी है।

अब समस्या है अर्थ के ग्रहण की एवं उसके स्वरूप की। विलियम जेम्स ने अर्थ का सम्बंध व्यवहारिक निष्कर्षों पर आधारित माना है। कुछ विचारकों के अनुसार अर्थ एक प्रकार का भावात्मक उद्रेक है जो किसी विशिष्ट पदार्थ के द्वारा उद्वेलित होता है। एक अन्य दृष्टिकोण यह भी है कि अर्थ वह है जो किसी प्रतीक से सम्बंधित हो। इनका सम्यक् विश्लेषण करने पर यह तथ्य समक्ष आता है कि अर्थ सम्बंधी सभी धारणाएं एक दूसरे की पूरक हैं; या यों कहा जाय कि वे सभी धारणाएँ ज्ञान की पूरक हैं। परन्तु, जहां तक भाषा के प्रतीक-दर्शन का प्रश्न है और उसके द्वारा अर्थ-व्यंजना का प्रश्न है, उस सीमा तक हमें प्रतीकीकरण की क्रिया को अर्थ-विज्ञान का पूरक ही मानना पड़ेगा। इस मत में एक अन्य तत्व को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है कि अर्थ ग्रहण की समस्या का प्रश्न एक मानसिक प्रश्न है और साथ ही संदर्भ का प्रश्न है मानसिक क्रियाएँ जैसे भावात्मक उद्रेक, बोधगम्यता, चिह्न सृजन और विचारात्मक प्रक्रिया—इन सबका समन्वय प्रतीकीकरण की क्रिया में प्राप्त होता हैं। यहां पर इस पक्ष का विवेचन विषयांतर ही होगा और अर्थ-बोध से सम्बंध होते हुये भी इनका सम्बंध प्रतीकीकरण से कहीं अधिक हैं। अतः प्रतीक और उसके अर्थ का सम्बंद्ध एक मानसिक एवं बौद्धिक सम्बंध है।

❖

---

१. द स्प्रिट ग्राफ लेंग्वेज इन सिवलीजेशन; वासलर; पृ० ११६।
२. संस्कृति और कला; वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १८७।

अस्तित्ववादी दर्शन का स्वरुप

७

अस्तित्ववादी दर्शन अपने मूल रूप में अनुभव का दर्शन है जो महायुद्धों के टकराहट से उत्पन्न एक चिंतन-प्रणाली है। द्वितीय महायुद्ध की पराजय, घुटन, शत्रुओं का अधिकार तथा राजनैतिक विडम्बनाओं तथा भ्रष्टाचारों से उत्पन्न अनुभव का यह दर्शन कहा जा सकता है। इस महत्त्वपूर्ण दर्शन ने मानवीय घुटन, अनास्था तथा अर्थहीनता की भावना को प्रश्रय दिया।

अस्तित्ववाद का आरंभ कीर्केगार्द (1813-1855) से माना जाता है। कीर्केगार्द ने अपने छात्र जीवन में हीगल के दर्शन का अनुशीलन किया था, पर उसके अन्तर्मन में यह विचार केन्द्रीभूत होता गया कि हिगलीय-दर्शन केवल एक स्वच्छ विचार है जो चिंतन का क्षेत्र हैं। इस वैचारित्र दशा में दर्शन एक मृगतृष्णामात्र रह जाती है और जीवन के प्रतिदिन के निर्णयों से उसका कोई भी सम्बध नहीं रहता है। इस खोज की प्रक्रिया में वह हीगल से प्रेरणा नहीं ले सका और न इसाई धर्म के जर्जरित होते हुये 'मूल्यों' से ही वह कुछ ग्रहण कर सका।

वह इस स्थिति के प्रति पूर्ण रूप से सहमत नहीं हो सका और मार्टिन लूदर के विचारों ने उसे आकर्षित किया। लूदर ने विश्वास को तर्क से अधिक महत्त्व दिया और अंततोगत्वा विश्वास की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार किया। कीर्केगार्द ने विश्वास को एक घने अंधकार के रूप में देखा जहाँ तर्क की किरणें कठिनाई से पहुँचती है और ऐसी दशा में विश्वास और तर्क के मध्य में एक "तनाव" की दशा विद्यमान रहती है। प्राचीन टेस्टामेंट में प्राप्त 'अब्राहम का विषाद' इसी तनाव को स्पष्ट करता है जहाँ पर अब्राहम अपने पुत्र आइजक को बलिदान करने की बात को केवल तर्क के आधार पर सोचता है, पर एक पिता के लिये ऐसा कृत्य कहाँ तक उचित है? परंतु ऐसा आदेश उस ईश्वर का आदेश है जो तर्क से परे हैं, केवल

एक विश्वास है । कीर्केगार्ग के लिये अब्राहम की यह घटना, अनुभव की पीठिका प्रस्तुत करती है । उसका मत था कि तर्क की प्रक्रिया विश्वास के किनारों को स्पर्श अवश्य करती है, पर उसमें हम अपने को कहां तक डाले यह हमारा सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है जिसका निर्वाह मानवीय बुद्धि तथा अनुभव का विषय है ।

× × × ×

कीर्कैगार्द द्वारा प्रतिपादित उत्तरदायित्व का विषाद केवल इसाई मत तक ही सीमित रहा, पर कार्ल्स जेस्पर्स (जन्म 1885) ने इस मत का विरोध एवं खंडन किया उसके अनुसार उत्तरदायित्व का विषाद केवल इसाई मत तक ही सीमित नहीं है पर यह समस्त मानवीय क्षेत्र का विवाद है जो किसी मत या धर्म का सीमित क्षेत्र नहीं माना जा सकता है । उसने भविता (Being) के तीन स्तरों का विवेचन किया है जो अस्तित्व का पूरक है । प्रथम स्तर है स्व-केन्द्रित भविता जो सत्य की ऊर्ध्वगामी समष्टि है अर्थात् जो पूर्ण सत्य का रूप है जिसके प्रति व्यक्ति सचेत रहता है । दूसरा स्तर स्वयं-भविता का है जहाँ पर व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति सचेत रहता है और साथ ही अर्ध्वारोहण के प्रति भी सचेत रहता है, पर यह उसी समय सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक है । दूसरे शब्दों में व्यक्ति और सत्य के आपसी सम्बंध को यह तथ्य उजागर करता है । तीसरा तथा अंतिम स्तर वाह्य भविता का है जिसका सम्बंध वाह्य जगत के अनुभवों से है जो एक प्रकार से, उस समष्टि ज्ञान या सत्य के अनुभव के व्यवधान स्वरूप हैं । यही माया का रूप है ।

इन तीन स्तरों के प्रकाश में मानवीय निर्वाचन या उत्तरदायित्व का निर्वाह दो स्तरों पर होता है । मानवीय निर्वाचन विषयगत होता है जिसका संदर्भ संसार के अनुभवों से है, परंतु दूसरी ओर विषयीगत दृष्टि से (Subjectively) उसका यह निर्वाचन उर्ध्व-जगत में सम्पन्न होता है । सत्य में हमारा निर्वाचन उर्ध्वगामी जगत के परिप्रेक्ष्य में ही होता है ।

इससे स्पष्ट है कि अस्तित्ववादी दर्शन में मानवीय निर्वाचन का महत्त्व अत्यधिक है । यह निर्वाचन अंधकार में सम्पन्न होता है और केवल अपार उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करता है । अस्तित्ववादियों के लिये सबसे बड़ा पाप यही है कि व्यक्ति, एक व्यक्ति के रूप में अपने उत्तरदायित्व को अस्वीकार करे । उसकी अस्वीकृत की भावना भविता के प्रति एक अनास्था का स्वर माना जाता है ।

× × × ×

जेस्पर्श के उपयुक्त मत को अधिक आर्थवत्ता देने का प्रयत्न अन्य जर्मन दार्शनिक हिडेगर (जन्म 1889) ने किया । वह मध्यकालीन दर्शन से अधिक

प्रभावित था। उसने मूलतः भविता (Being) की समस्या को उठाया। उसका दृष्टिकोण जेस्पर्श से कहीं अधिक विषयगत था हेडिगर के लिये उस भविता का महत्व कहीं अधिक था जो स्वयं व्यक्ति की भविता है। भविता की सबसे मुख्य प्रवृति यह है कि उसके द्वारा व्यक्ति या हम लोग स्वयं अपनी ओर आकर्षित होते हैं, उस समय हम कोई अपनी निश्चित प्रकृति तक नहीं पहुँच सकते हैं। सत्य में, ऐसी भविता 'समय' के प्रवाह में प्रवाहित रहती है जो भूतकालीन क्रियाओं से भावी क्रियाओं की ओर गतिशील रहती है। इस प्रकार, भविता अपनी गत्यात्मक, स्थिति द्वारा स्वयं अपने को एक अर्थवत्ता प्रदान करती है।

अब प्रश्न है कि मनुष्य की भविता कौन से अर्थ की खोज में है। आदमी का अंतिम लक्ष्य क्या है ? इसका उत्तर हड़िगर ने यह दिया कि आदमी का अंतिम लक्ष्य "मृत्यु" है और इस तथ्य को सबसे प्रथम स्वीकार करना इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि हम जो कुछ भी करते हैं, वह मूलतः निरर्थक, व्यर्थ एवं अर्थहीन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपने उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन हो जाए और अमूर्त्तन (Abstraction) की शरण ले लें। कर्म की ईमानदारी 'मृत्यु' का एक आवश्यक तत्त्व है; और केवल ऐसा ही कर्म अर्थपूर्ण हो सकता है। हेडिगर की यह मान्यता है कि मानवीय अनुभव सभी व्यक्तियों के लिये समान हैं, पर मूलतः वह अकेला और अजनबी है। वह स्वयं अपनी निर्वाचन शक्ति से आबद्ध है क्योंकि उसे अपने परिवेश और स्वयं अपने को अर्थ देना है।

इस प्रकार हेडिगर के विचारों में निराशा की भावना मानी जाती है, पर मेरे विचार से वह पूर्णतः निराशावादी नहीं है। वह मनुष्य के कर्मो पर विश्वास करता है और उसकी भविता के प्रति आस्थावान् है क्योंकि उसका कथन है कि भविता क्रमशः अपना साक्षात्कार करेगी और यह साक्षात्कार व्यक्तियों के बारे में सत्य हैं जो अपने प्रति ईमानदार हैं। मृत्यु बोध भी इसी ईमानदारी का प्रतिरूप है। वह एक ऐसा सत्य है जो मैं समझता हूँ कि ईश्वर से भी अधिक मूल्यवान एवं अर्थवान है।

× × × ×

अनेक लोगों के लिये अस्तित्ववाद का सम्बंध फ्रांस से है क्योंकि आधुनिक विचारधारा के अंतर्गत फ्रांस के दो अस्तित्ववादी चिंतक जीन पॉल सात्र तथा गैबरिल मार्शल का नाम मुख्यतः लिया जाता है। इन दोनो दार्शनिकों के विचारों में कई स्थानों पर साम्य है तो कहीं कहीं पर उनमें असाम्य भी है। ये दोनों विचारक अपने

भावों को 'नाटक' के माध्यम से व्यक्त करते हैं और इसी से, इनका सम्बंध दर्शन तथा साहित्य दोनो ज्ञान-क्षेत्रों से समान रूप से रहा है।

सात्र (जन्म 1905) ने अपने विचारों को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया है जैसा कि प्रथम संकेत किया जा चुका है। उसका विचार है कि नाटकीय पद्धति से धारणाओं का अभिव्यक्तीकरण सरल और आकर्षक होता है। परन्तु फिर भी उसने अपने प्रमुख विचारों को एक छोटी सी पुस्तक "अस्तित्ववाद और मानवतावाद" (Existentialism and Humanism) में रखा है।

सात्रे की स्थापनाओं का मूल प्रारम्भिक विंदु यह धारणा है कि ईश्वर जैसी कोई भी सत्ता नहीं है और प्रत्यय के आधार पर वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि "ईश्वर या सारतत्त्व से पूर्व अस्तित्व की सत्ता है।" अतः आदमी पैदा होता है और अस्तित्व में रहता है। एक कलाकार की तरह सात्रे का कथन है कि आदमी स्वयं अपने प्रतिमानों का निर्माण करता है। आदमी केवल वही है जो वह स्वयं अपने लिये होता है।

मानव की महत्ता को वह एक अन्य तथ्य के प्रकाश में उजागर करता है। हम जो कुछ भी निर्णय या निर्वाचन करते हैं, वह समस्त मानवता के परिप्रेक्ष्य में करते हैं क्योंकि अपने लिये किया गया निर्वाचन अंततः सारे मनुष्यों के लिए होता है। अतः हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति उत्तरदायी है तो दूसरी ओर सभी मनुष्यों के प्रति भी। सात्रे के उपर्युक्त विचार मानव-दिव्यता के द्योतक है जो वैज्ञानिक चितन से अद्‌भूत एक सत्य है। डारविन, हक्सले, न्यूटन, आइस्टाइन आदि वैज्ञानिक विचारकों ने मानव सापेक्ष मूल्यों को ही महत्व दिया और उसकी सत्ता को समस्त विश्व में स्थापित किया।

इसके पश्चात् हम विषाद को लेते हैं जो अस्तिवाद का परम्परागत विचार है जिसे हे डिगर ने मान्यता प्रदान की थी उत्तरदायित्व की अकाट्य भावना इस विषाद का मूल है और जो व्यक्ति नैतिक आचरण करता है, वह दूसरों की सापेक्षता में करता है। वह जो कुछ भी निर्वाचन करता है, वह अंततः समस्त मानवता के लिए एक संविधान बनाता जाता है और ऐसी दशा में उसका विषाद स्वच्छ और सरल होता है और इसे वही महसूस कर सकता हैं जो उत्तरदायित्व को वहन करता हैं।

सात्र की उपर्युक्त पुस्तक में इसी तथ्य को दिखलाया गया है कि पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, निरपेक्ष तत्व और मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध का इतिहास है। मानवों ने इन मल्यों को अपनाया और इन मूल्यों के परे एक निरपेक्ष अस्तित्व की

या भविता की कल्पना उन्होंने की। विश्वयुद्ध के बाद योरुप एक ऐसे बिंदु पर पहुंच गया जहाँ पर समस्त नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सौदर्यपरक मूल्यों के प्रति अविश्वास एवं अनास्था का स्वर अपनी पूर्ण भंगिमा के साथ उभर कर आया। सात्रे इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस मूल्यहीनता के कारण आज का मानव विक्षुब्ध, निराश एवं विषाद की दशा का भागी हो रहा है। सात्रे ने ईश्वर, नैतिक मूल्य तथा मानवीय स्वभाव–सभी को नकारा हैं। नैतिक प्रतिमानों का उसने स्वयं निर्माण किया हैं जिसका मूलभूत रूप उसी के शब्दों में यह है—" "हरेक मनुष्य को यह कहना चाहिए क्या मैं सच में एक मनुष्य हूँ जिसे इस प्रकार कर्म करने का अधिकार है जिससे मानवता स्वयं चालित हो।" यहाँ पर मनुष्य स्वयं इसका उत्तरदायी है कि वह मानवता की सापेक्षता के कर्म करता है या नहीं ? यहीं पर उसकी परीक्षा हो सकती है।

× × × ×

सात्रे के दार्शनिक विचारों से कुछ भिन्न विचार कैथिलिक दार्शनिक मोशियों मार्शल के हैं। अन्य दार्शनिकों के समान मार्शल भी आधुनिक क्रियाओं में उत्तरदायित्व का अभाव देखते हैं और साथ ही, धूमिल और विकृत भावबोध को सामान्य जीवन में पूरी तरह शाराबोर पाते हैं। यहाँ पर आज के जीवन की विडंबना तथा विसंगति को आधुनिक भावबोध का एक आवश्यक तत्व माना गया है जो कला तथा साहित्य की रचना-प्रक्रिया का एक विशिष्ट आयाम है। साहित्य के क्षेत्र में इस विसंगति को अर्थवत्ता देना ही, विसंगति के स्वरूप को एक विस्तृत आयाम देना है, इस मत का पूरा विवेचन "आधुनिक काव्यात्मक रचना प्रक्रिया में विसंगति" नामक लेख में हो चुका हैं।

इस प्रकार मार्शल ने आज के मानव को अनास्थावादी जीव के रूप में देखा है। यह जीव ऐन्द्रिय अनुभव के द्वारा प्रेरित होता है। यहाँ पर चार्वाक-दर्शन की गूँज मिलती है जो ऐंद्रियानुभव को ही सत्य मानता है परन्तु मार्शल ने मानवीय अनुभव के आधार पर मानवीय सम्बन्धों को प्रेरित माना है जो एक ऐसे व्यक्तित्व को निर्मित करती है जो हमें प्रभावित जाने या अनजाने करती है।

इन सब विचारों से ऊपर, मार्शल ने विश्वास या आस्था के महत्त्व को स्वीकारा है, परन्तु यह विश्वास किन्हीं प्रत्ययों या प्रस्थापनाओं पर विश्वास नहीं है, पर यह उर्ध्व-यथार्थ का एक जीवित अनुभव है। यहाँ पर मार्शल एक धर्मशास्त्री के समान दृष्टिगोचर होता है जो विश्वास को एक निर्वैयक्तिक रूप में कार्यान्वित देखता है।

× × × ×

उपर्युक्त सभी विचारों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी दार्शनिकों में अनेक समानताएं भी हैं जिनका संकेत यदाकदा किया गया है ! फिर भी, अस्तित्ववाद जैसे अधुनातम वैचारिक क्रांति को पूर्णरूपेण विवेचित एवं मूल्यांकित करना सरल कार्य नहीं है। इसका कारण यह है कि किसी नवीनतम् विचार-दर्शन की भावी संभावनाएं क्या हो सकती हैं, यह समय ही बतायेगा, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद ने मानवीय भूमिका को एक नवीन परिप्रेक्ष्य देने का प्रयत्न किया है और अनास्था के मध्य एक ऐसे उत्तरदायित्व की भावना को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है जो मानवीय सम्बंधों के नवीन आयामों पर आधारित है।